श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

प्रथमखण्ड

१

मोतीलालशर्म्मोपाह्वो मुक्तरक्तशर्म्मा
आङ्गिरसो भारद्वाजः
वेदवीथी-पथिकः
जयपत्तनाभिजनः

श्रीः

प्रकाशितग्रन्थसूची—

१–गीताविज्ञानभाष्यभूमिकान्तर्गता–	'बहिरङ्गपरीक्षा' नामक प्रथमखण्ड	१५)
२– "	–'आत्मपरीक्षा' नामक द्वितीयखण्ड*	२०)
३– "	–'ब्रह्मकर्म्मपरीक्षा' नामक तृतीयखण्ड*	२०)
४– "	–'कर्म्मयोगपरीक्षा' नामक चतुर्थखण्ड*	२०)
५– "	–'ज्ञानयोग'-तथा भक्तियोगपरीक्षा-नामक (पूर्वखण्ड) पञ्चम, तथा षष्ठखण्ड	२०)
६– "	–'भक्तियोगपरीक्षा' (उत्तरखण्ड) नामक सप्तमखण्ड	२०)
७– "	–'बुद्धियोगपरीक्षा'-नामक अष्टमखण्ड	२०)
८–ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-	प्रथमखण्ड	१५)
९–ईशोपनिषत्-हिन्दी-विज्ञानभाष्य-	द्वितीयखण्ड	१५)
१०–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–	प्रथमखण्ड	२०)
११–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका–	द्वितीयखण्ड	१५)
१२–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका-	तृतीयखण्ड	१५)
१३–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'आत्मविज्ञानोपनिषत्' नामक प्रथमखण्ड		२०)
१४–श्राद्धविज्ञानग्रन्थानुगत-'सापिण्ड्यविज्ञानोपनिषत्' नामक तृतीयखण्ड		१५)
१५–संस्कृति, और सभ्यता-शब्दों का चिरन्तर इतिवृत्त, एवं भारतीय-सांस्कृतिक-आयोजनों की रूपरेखा		२५)
१६–'भारतीय-हिन्दू-मानव, और उस की भावुकता' नामक खण्डचतुष्टयात्मक ग्रन्थ का-'विश्वस्वरूपमीमांसा' नामक प्रथमखण्ड		१५)
१७–'वेदस्य सर्वविद्या-निधानत्वम्' (संस्कृतनिबन्ध)*		१।।)

*–चिह्नाङ्कित ग्रन्थ प्रेस में हैं, जो अग्रिम-वर्ष-में प्रकाशित होजायँगे।



उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत
प्रथमखण्ड

१



निबन्धा—मोतीलालशर्म्मोपाह्वो यः कश्चिदपि
मुक्तरक्तशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः
वेदवीथी–पथिकः, जयपत्तनाभिजनः

निबन्धा (ग्रन्थकर्त्ता) की अनुमति से पुनः (द्वितीय) प्रकाशित
(पुनः प्रकाशनाधिकार एकमात्र निबन्धा से ही अनुप्राणित)

'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर' के द्वारा प्रकाशित
एवं
श्रीबालचन्द्रयन्त्रालय, मानवाश्रम–दुर्गापुरा–(जयपुर) के द्वारा मुद्रित

द्वितीय–संस्करण ५०० प्रति

मूल्य २०)

श्रीः

महामहिम राष्ट्रपति श्री डॉ० राजेन्द्रप्रसादजी महाभाग–के मान्य सचिव-द्वारा प्राप्त 'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थान' मानवाश्रम दुर्गापुरा (जयपुर) का 'प्रधानसंरक्षतानुगत–प्रमाणपत्र' अत्यन्त सम्मान से यहाँ उद्धृत होरहा है –



भारत के राष्ट्रपति

डा॰ राजेन्द्र प्रसाद

राजस्थान-वैदिक तत्त्वशोध संस्थान-जयपुर

का

प्रधान संरक्षक

बनने की स्वीकृति प्रदान करते हैं

मिलिट्री सेक्रेट्री ऑफिस

राष्ट्रपति भवन

नई दिल्ली

दिनांक 30 अगस्त 1959

भारत के राष्ट्रपति के आदेशानुसार

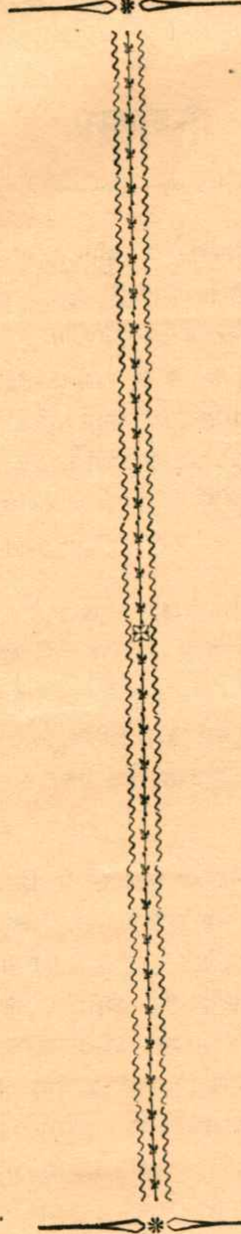
यदुनाथसिंह

(यदुनाथ सिंह) मेजर जनरल

मिलिट्री सेक्रेट्री टू दि प्रेसिडेन्ट

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत-प्रथमखण्डस्य किमपि-प्रास्ताविकम्



प्रस्तोता-वेदवीथी-पथिकः—
मुक्करक्कशर्म्मा, आङ्गिरसो भारद्वाजः

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्ड

की

प्रस्तावना

— —*— —

औपनिषद–पुरुष की नभ्यप्रजापत्यनुगता संविन्मयी नैष्ठिकी प्रेरणा के फलस्वरूप ही **'उपनिषद्वि–ज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्ड'** का प्रस्तुत **'द्वितीय–संस्करण'** उपनिषत्प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित होने जारहा है। आज से अनुमानत १५-२० वर्ष पूर्व बम्बई के कतिपय गुर्ज्जरबन्धुओं के सम्मिलित सहयोग से उपनिषद्भूमिकानुगत प्रथमखण्ड (एकसहस्र–प्रतियों के रूप में) विक्रम सं० १९९७–आश्विनशुक्लपक्ष–विजयदशमी–तिथि पर प्रकाशित हुआ था। शेष दोनों खण्ड साधनों के अभाव से अप्रकाशित ही थे, जिनका सर्वप्रथम विगत वि० सं० २०१३ में **'राजस्थानवैदिकतत्त्वशोधसंस्थानजयपुर'** की ओर से ही प्रकाशन हुआ। बीस–वर्ष–पूर्व प्रकाशित प्रथमखण्ड योग्य विद्वानों में निःशुल्क समर्पित करते रहने से अनेक वर्षों–पूर्व ही पुनःप्रकाशन–सापेक्ष बन चुका था। किन्तु···· ·······!।

शोधसंस्थानने विगत तीन–चार वर्षों में अनेक प्रकाशन किए, जिनमें उपनिषद्भूमिकानुगत-द्वितीय-**खण्ड**, एवं **तृतीय-खण्ड** का भी समावेश है। इस वर्ष संस्थान ने यह अनुभव किया कि, बिना प्रथम–खण्ड के प्रकाशित द्वितीय–तृतीय–खण्डों से वेदप्रेमी पाठक सन्तुष्ट नहीं होरहे। अतएव संस्थान ने प्रथम खण्ड का पुनःप्रकाशन अनिवार्य्य माना। तत्प्रेरणा से ही प्रस्तुत प्रथमखण्ड बीस वर्ष के अनन्तर संस्थान के द्वारा पुनः प्रकाशित होरहा है, जिसके लिए हमें संस्थान के प्रति कृतज्ञता ही अभिव्यक्त करनी चाहिए।

उपनिषदों के प्रति भारतीय–विद्वानों का जो सहज आकर्षण देखा सुना जारहा है, इस दृष्टि–श्रुति के मूल में कर्म्मत्यागलक्षणा, विशुद्धज्ञानात्मिका **'संन्यासनिष्ठा'** ही प्रधान बनी हुई है। इसी प्रधानता के अनु–बन्ध से औपनिषद्–ज्ञान, और वेदान्तज्ञान का अभेद लोकप्रसिद्धि का अनुगामी बना हुआ है। **"नामरूपा–त्मक–सम्पूर्ण विश्व मायामय है, अतएव दैविक–भौतिक–आत्मिक तापत्रय का आगार है। अतएव च सर्वथैव बन्धनप्रवर्त्तक है। इस मायामय–विश्वबन्धन से आत्मपरित्राण करने के लिए अद्वैत–सिद्धान्तरूप उस वेदान्तज्ञानरूप विशुद्ध अध्यात्मज्ञान का ही ाश्रय अनिवार्य्य है, जिसका उपनिषदों में संक्षेप से, एवं विस्तार से स्वरूपोपबृंहण हुआ है"** इसप्रकार की नितान्त–भावुकता–पूर्ण काल्पनिकी मान्यताने ही मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के 'उपनिषद्' भाग को विगत कतिपय–शताब्दियों से प्रमुखता प्रदान कर रक्खी है, जिस इत्थंभूता प्रमुखता का ही यह दुष्परिणाम है कि, महर्षियों की तपःपूता गरिमा–महिमा–मयी–नैष्ठिकी–आर्षप्रज्ञा के द्वारा अत्यन्त रहस्य–पूर्ण पारिभाषिकी ज्ञानविज्ञान -

निधि का स्वरूपविश्लेषक, छन्दोभ्यस्ता से समलङ्कृत उपनिषत् जैसा विविध-विद्याभाण्डारात्मक मौलिक साहित्य अपनी ज्ञानविज्ञानात्मिका मौलिकता से सर्वथा ही पराःपरावत प्रमाणित होचुका है, एवं काल्पनिक 'कलिसन्तरणोपनिषत्' 'अल्लोपनिषत्' आदि की भाँति रहस्य–पूर्ण यह उपनिषच्छास्त्र भी आज केवल पारयणपाठ का ही अनुगामी बना रह गया है।

उपनिषत्साहित्य की अभ्युदय–निःश्रेयस्–संसाधिका उभयपुरुषार्थ–प्रयोजिका कृत्स्ना उपयोगिता को तथाकथितरूपेण कर्म्मत्यागात्मिका काल्पनिकी सांख्यनिष्ठा के व्यामोहन से एकान्ततः विस्मृत करा देने वाली महती भ्रान्ति के निराकरण के लिए यह आवश्यक है कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के इस महत्त्वपूर्ण उपनिषद्भाग के उन ज्ञानविज्ञानात्मक–अभ्युदयनिःश्रेयससंसाधक–दृष्टिकोण के प्रति आर्षप्रजा का ध्यान आकर्षित किया जाय, जिक आकर्षण के बिना वेदशास्त्र का यह महत्त्वपूर्ण ज्ञानविज्ञानभाण्डार अनद्धा ही प्रमाणित होरहा है। इसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए अबतक के तथाकथित व्यामोहनात्मक-मतवादात्मक-प्राचीनव्याख्यारूप–व्यामोहनों को दूरतः ही प्रणम्य मानते हुए स्वयं उपनिच्छब्दों के उपनिषत् सम्मत ही पारिभाषिक–ज्ञानानुगत–वैज्ञानिक–समन्वय के आधार पर **ईशादि–उपनिषदों के विज्ञानभाष्यों का संकल्प जागरूक हुआ है**, जिसके परिणाम–स्वरूप ही दो खण्डों में **'ईशोपनिषत्–हिन्दी-विज्ञानभाष्य'** प्रकाशित हुआ, एवं संकल्पित शेष उपनिषदों के विज्ञानभाष्य भी यथासमय, यथासुविधा प्रकाशनपथानुवर्त्मा बनते रहेंगे।

अमुक-परिगणित-उपनिषदों के संकल्पित-विज्ञानभाष्यों के साथ ही यह भी संकल्प अभिव्यक्त हुआ कि, बहिरङ्गपरीक्षा से, तथा अन्तरङ्गपरीक्षा से अनुप्राणित अमुक विवादास्पद तथ्यों के वैज्ञानिक-समन्वय के लिए उपनिषत् साहित्य पर **'भूमिका'** रूप से एक स्वतन्त्र निबन्ध भी उपनिबद्ध किया जाय। इसी संकल्पात्मिका प्रेरणा से **'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका'** नाम से (अनुमानतः दो सहस्र–फुलिस्केप–पृष्ठों में) एक स्वतन्त्र निबन्ध भी आज से अनुमानतः बीस वर्ष पूर्व सम्पन्न हुआ, जिस इस बृहत्काय–निबन्ध को तीन खण्डों में विभक्त किया गया। तीनों खण्डों से समन्विता उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका में जिन तथ्यों पर समन्वयात्मक विचार हुआ है, उपनिषत्–प्रेमियों की सुविधा के लिए अत्र उनका नामस्मरणमात्र कर लिया जाता है।

उपनिषद्विज्ञान–भाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्डके प्रधान–विषयों का संस्मरण

१

—*—

प्रस्तुत–'प्रथमखण्ड' में प्रधानरूपेण–निम्न लिखित चार स्तम्भों का समावेश हुआ है—

१—'प्रस्तावना'-(भूमिका)-(प्रथमस्तम्भ)

२—उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ? (द्वितीयस्तम्भ)

३—'उपनिषत्' शब्द का क्या अर्थ है ? [तृतीयस्तम्भ]

४—क्या 'उपनिषत्' वेद है ? [चतुर्थस्तम्भ]

* * * *

प्रथमखाण्डानुगता उक्ता स्तम्भचतुष्टयी के प्रत्येक स्तम्भ में अवान्तर अनेक प्रमुख–विषय समविष्ट हुए हैं। दिग्देशकालव्यासक्त आज के अस्मच्छ्रदश व्यक्तियों की तात्कालिकी कण्डूपशान्ति के लिए यह आवश्यक है कि-स्तम्भचतुष्टयी से अनुप्राणित प्रमुख अवान्तर-विषयों का भी स्वरूप-दिग्दर्शन करा दिया जाय। वही क्रमशः अत्र उपक्रान्त है।

१—'प्रस्तावना'-नामक प्रथमस्तम्भ के संस्मरणीय अवान्तर प्रमुख–विषयों का स्वरूप–दिग्दर्शन

क—वैदिक–सासित्य, और हमारी मनोवृत्ति

ख—वैदिक–साहित्य, और प्रतीच्य–विद्वान्

ग—वैदिक–साहित्य, और वैज्ञानिक–निदर्शन

* * *

[१]–आत्मनिवेदन–नामक प्रथम स्तम्भ में सर्वप्रथम वर्त्तमान युग के भारतीय–मानवों की उस प्रक्रान्ता मनोवृत्ति का स्पष्टीकरण हुआ है, जिस मनोवृत्ति के कारण आज स्वयं हम भारतीय ही ज्ञानविज्ञानप्रधान वेदशास्त्र की उपयोगिता पर सन्देह करने लग पड़े हैं। एवं युगधर्म्मानुबन्धी काल्पनिक

उपयोगितावाद–के व्यामोहन में आसक्त–व्यासक्ता हमारी भ्रान्ता प्रज्ञा इस महान् सांस्कृतिक–ज्ञानविज्ञानकोश की उपेक्षा करती हुई सर्वथैव–दिग्देशकालभ्रान्ता बनती जारही है, अथवा तो बन चुकी है। जबतक हमें अपनी इस मूल–संस्कृति का स्वरूपबोध नहीं होजायगा, तबतक दिग्देशकालानुबन्धी–उपयोगितात्मक ? अन्य प्रयत्नसहस्रों से भी हम अपना स्वरूप–बोध नहीं प्राप्त कर सकेंगे, जिस स्वरूपबोध के बिना मानव, और पशु के अवच्छेदक में कोई भी विभेद नहीं रह जाता। इसी तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए प्रस्तुत प्रथम स्तम्भ में (क)–**'वैदिक साहित्य, और हमारी मनोवृत्ति'** रूपेण अवान्तर–दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण हुआ है।

(ख)–तदनन्तर इसी प्रथमस्तम्भ में उन **'प्रतीच्य–विद्वानों की मनोवृत्ति का स्वरूप–संस्मरण** हुआ है, जिस प्रतीच्यजगत् की सभ्यता, और आदर्श को ही आज हमने अपनी **'उन्नति'** का एकमात्र सम्बल मान रक्खा है। इस में तो कोई सन्देह नहीं कि, **'उन्नति'** की इच्छा रखने वाले प्रत्येक मानव को आज उन पश्चिमी–देशों की जीवनपद्धति, शासनपद्धति, समाजपद्धति, आदि आदि का अनुकरण करते रहना ही चाहिए, जिन पश्चिमी-देशों के भौतिक–जीवन का एकमात्र लक्ष्य भूतानुबन्धिनी वह **'उन्नति'** ही मानी गई है, जिस का रहस्यात्मक–अर्थ 'उन्नति' शब्द के गर्भ में हीं पिनद्ध–सुरक्षित है। यह संस्मरणीय है कि, **'उन्नति'** शब्द सर्वात्मना 'अवनति' सापेक्ष ही **है**, जिस के आधार पर दशाचक्रानुगत–उत्थान, और पतन परिवर्त्तित होते रहते हैं *।

दिग्देशकालातीत–अखण्ड–अद्वय–आत्मा के ज्ञानात्मक प्रतिष्ठाधरातल–पर प्रतिष्ठित दिग्देश-कालात्मक–पाञ्चभौतिक–विश्व से अनुप्राणित भौतिक-विज्ञान ही वास्तविक 'विज्ञान' है, अमृतात्मप्रतिष्ठा–नुबन्धेन–शाश्वत प्रमाणित होता हुआ वह विज्ञान सच्चिदानन्दब्रह्म से समतुलित माना गया है। एवं स्वयं उपनिषच्छास्त्रने–**'सत्यं–ज्ञानं–अनन्तं–ब्रह्म'** से अनुप्राणित इत्थंभूत विश्वविज्ञान का–**'नित्यं–विज्ञानं–आनन्दं–ब्रह्म'** इत्यादिरूप से यशोगान किया है। स्पष्ट है कि, प्रतीच्य–भूतविज्ञान प्रकृति के दिग्देश–कालानुबन्धी तत्त्वों से अनुप्राणित रहता हुआ प्रत्यक्षदृष्ट्या जहाँ उपादेयकोटि का अनुगामी प्रमाणित होरहा **है**, वहाँ दिग्देशकालातीत ज्ञानघन आत्मब्रह्म की प्रतिष्ठा से वञ्चित रहता हुआ वही प्रतीच्य–भूतविज्ञान **क्षणिक-विज्ञान** की कोटि में आता हुआ परिणामतः क्षणभावापन्न मृत्युपथ का ही सन्देशवाहक प्रमाणित होरहा है, एवं दिग्देशकालनिबन्धन-इसी प्रतीच्य–भूतविज्ञान की भित्ति पर प्रतिष्ठित पश्चिमी-जगत् का वह **'उन्नति-वाद'** प्रक्रान्त हुआ है, जिस इस शब्द के निर्वचनात्मक अर्थ के गर्भ में ही तत्सापेक्ष–भावनिबन्धना 'अवनति' पुष्पित पल्लवित होती रहती है। **'उत्'**-और **'नति'** दो विभिन्न पदों–शब्दों से ही **'उन्नति'** का शब्द स्वरूप-निर्म्माण हुआ है, जिसका स्पष्टतम अक्षरार्थ है-**'ऊपर चढ़ कर पतन (उत्-ऊर्ध्वं-गत्त्वा-नतिः-पतनम्) 'चढ़ कर गिरना'** ही 'उन्नति' शब्द का तत्त्वार्थ है, एवं ऐसी 'उन्नति' कदापि ऋषिदृष्टि से मान्य नहीं है।

तो क्या वेदद्रष्टा आप्तमहर्षि उन्नति के शत्रु हैं ?। वर्त्तमानयुग का ऐसा सा ही प्रवाद कर्णाकर्णि–परम्परया श्रुतोपश्रुत है कि, **"भारतीय वेदादि शास्त्र तो भारतीय मानव की उन्नति में सदा से रोड़े ही अटकाते आरहे हैं"**। वस्तुस्थिति यथार्थ में ऐसे ही है, और यही भारतीय शास्त्र का वह नैष्ठिक-दृष्टिकोण है,

*–नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा–चक्रनेमिक्रमेण

जिसने केवल–दिग्देशकालानुबन्धिनी-प्रवाहपथानुगमिनी–तात्कालिकी–कण्डूपशमनकर्त्री-उपयोगितावादा–भिनिविष्टा तथोक्त–निर्वचन–गर्भिता–'उन्नति' का सदैव विरोध ही किया है, एवं आकल्पान्त इत्थंभूता उदर्के–सर्वनाशकारिणी उन्नति का विरोध ही करता रहेगा। एवं इसी दृष्टिबिन्दु के माध्यम से पूर्वदिगनुबन्धी भारत पश्चिमदिगनुबन्धी दिग्देशकालव्यामोहन को सदैव उपेक्षणीय ही मानता आरहा है, एवं आत्मप्रतिष्ठा-शून्या केवल भूतैषणासमर्द्धिका-पतनपरिणाममूला ऐसी उन्नति को तो यावच्चन्द्रदिवाकरौ उपक्षणीया ही मानता रहेगा।

ऊर्ध्वगमन का कदापि ऋषि विरोध नहीं कर रहे। विरोध उन का केवल पतनांश से है। ऋषि की नैष्ठिकी आस्था के अनुसार ऊर्ध्वगमन वैसा होना चाहिए, जिस के अनुगमन के अनन्तर पुनः कदापि किसी भी अवस्था में पतन की आशङ्का ही न रहे। जिस ऊर्ध्वपथ को लक्ष्य बना लिया जाय, वह उत्तरोत्तर ऊर्ध्वोर्ध्व–भावपरम्परा का ही अनुगामी प्रमाणित होता रहे। पतनाशङ्का से असंस्पृष्ट इत्थंभूत ऊर्ध्वगमन को ही ऋषिभाषा में-'अभ्युदय' कहा गया है, जिस का अक्षरार्थ है—'**अभि–सम्मुख–उत्–ऊपर–अय-अयन–गमन**'। अर्थात् सामने की ओर ऊर्ध्वभावानुगत-गमन ही '**अभ्युदय**' शब्द का अर्थ-समन्वय है, जिस का "**गीताभूमिका–कर्म्मयोगपरीक्षा**" नामक खण्ड में विस्तार से समन्वय–विश्लेषण हुआ है।

अभ्युदयरूप उत्थानात्मक कर्म्म का तथाभूत अतिशय कैसे मान लिया गया ?, प्रश्न का समाधान है–'निश्रेयस्' शब्द, जिस का दिग्देशकालातीत–आत्मब्रह्म से प्रमुख सम्बन्ध माना गया है। जो कर्म्म निःश्रेयस् को आधार बनाए रहता है, वही '**अभ्युदयजनक**' कर्म्म माना गया है। यदि आत्मप्रतिष्ठारूप-निःश्रेयस् के आधार को शास्त्रीय कर्म्म भी छोड़ बैठते हैं, तो वैसे शास्त्रीय–कर्म्म भी पतनाशङ्का से असंपृष्ट-'अभ्युदय' के स्थान में केवल '**उन्नति**' के ही साधक बने रहे जाते हैं। निःश्रेयसानुगत (ज्ञानानुगत–आत्मानुगत)–कर्म्म (विज्ञानानुगत-विश्वानुगत-भौतिक-यज्ञादिकर्म्म) जहाँ अभ्युदय के साधक बनते हुए-'**अबन्धनकर्म्म**' मान लिए गए हैं *, वहाँ वे ही यज्ञकर्म्म निःश्रेयसाधार से वञ्चित होते हुए, अतएव क्षणिक-विज्ञानकोटि में आते हुए अपनी विशिष्टा अभ्युदयवृत्ति से वञ्चित रहते हुए अवरकोटिमात्र ÷ (क्षरात्मिका–भूतकोटिमात्र) में हीं परिणत होजाते हैं, और इन का फल भी शेष रह जाता–'**उन्नतिमात्र**'। अर्थात् ऊपर चढ़ कर '**पुनः गिर पड़ना**', जैसाकि-'**क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोके वसन्ति**' से प्रतिध्वनित है।

निष्कर्ष निवेदन का एतावन्मात्र ही है कि, वे सभी दिग्देशकालानुबन्धी–उपयोगितावाद मान्य हैं भारतीयशास्त्र को भी, यदि उनकी आधारभूमि दिग्देशकालातीत–आत्मब्रह्म है, तो। एवं दिग्देशकालातीत

---

*–यज्ञार्थात्–कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म्म कौन्तेय ! मुक्तसङ्गः समाचर ॥
—गीतायाम् ३।८।

÷ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥
—मुण्डकोपनिषदि १।२।७।

आत्मब्रह्मरूप शाश्वतधर्म्ममूर्त्ति प्रतिष्ठाभाव से निरपेक्ष यच्चयावत् दिग्देशकालानुबन्धी-व्यामोहन स्वप्न में भी मान्य नहीं हैं, फिर भले ही उनकी तात्कालिकी उपयोगिता का कितना ही तुमुल घन्टाघोष क्यों न प्रक्रान्त रक्खा जाय। उद्कंत: जिनका 'अभ्युदय' से सम्बन्ध होगा, वे ही कर्म्मकलाप मान्य होंगे भारतीय-आर्ष-प्रज्ञा के लिए। एवं ठीक इसके विपरीत-आत्मप्रतिष्ठा के आधार से वञ्चित वे सभी कर्म्मकलाप सर्वथैव उपेक्षणीय ही मान लिए जायँगे, माने जाते रहे हैं, फिर भले ही उन तात्कालिक-कर्म्मकलापों के तात्कालिक-फल लोक-दृष्टया कितने ही महत्त्वपूर्ण क्यों न हों। परिणामत: नितान्त-पतनलक्षणा-तथाकथिता-'उन्नति' की अपेक्षा तो यदृच्छात्मिका हीनदशा ही कहीं श्रेयःपन्था मान लिया गया है भारतीय-आर्षजगत् में। जिस 'उन्नति' से नि:श्रेयसानुगत- अभ्युदय का सर्वात्मना अवरोध होजाय, वह 'उन्नति' तो दूरत: ही प्रणम्या ही मानी जायगी, फिर भले ही **'दिग्देशकालानुबन्धिनी-एतादृशी-उन्नति'** के बिना हमें दिग्देशकालानुबन्धिनी उन सभीप्रकार की भूत-भौतिकी-सुख-सुविधाओं से वञ्चित होजाना पड़े, किंवा दिग्देशकालव्यालग्रस्त महानुभावों के द्वारा बलपूर्वक वञ्चित कर दिया जाय, जिन भौतिकी-सुख-सुविधाओं के बिना मानव का मन:शरीरानुबन्धी भौतिक-जीवन सर्वथैव दु:खार्णव में निगग्न होजाता है। क्योंकि, नि:श्रेयस्-पथानुगत-अभ्युदयपथ में ही अपनी अनन्या बुद्धियोगनिष्ठा सुरक्षित रखने वाला आर्ष मानव यह जानता है कि,-आत्मप्रतिष्ठाधार से वञ्चिता दिग्देशकालानुबन्धिनी लोकसमृद्धि उस शाश्वतब्रह्मरूप सत्यधर्म्म से सर्वथैव असंस्पृष्टा है, जिसका तात्कालिक परिणाम भले ही सुखाभासात्मक हो, किन्तु जिसका अन्तिम परिणाम मूलनाशात्मक सर्वनाश के अतिरिक्त और कुछ भी तो नहीं है। भगवान् मनु ने धर्म्मनिरपेक्षा, अतएव अधर्म्मभाव-समाप्लुता एतादृशी उन्नति के सुपरिणामों ? का ही काकूभाषा में दिग्दर्शन कराते हुए कहा है कि—

अधर्म्मेणैधते तावत्, ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नाञ्जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥

—मनु: ४।१७४।

राजर्षि की सूक्ति का अक्षरार्थ यही है कि, शाश्वतधर्म्ममूर्त्ति आत्मब्रह्म की प्रतिष्ठा से वञ्चित केवल दिग्देशकालानुबन्धी-तात्कालिक-स्वार्थसंसाधक-लौकिक-उन्नतिप्रवर्त्तक सभी कर्म्म **'अधर्म्म'** की भावना से समन्वित होते हुए धर्म्मनिरपेक्ष ही बने रहते हैं। ऐसे धर्म्मनिरपेक्ष, अतएव अधर्म्मभावनाक्रान्त-लोकानुबन्धी कर्म्मों से निश्चयेन आरम्भ में तो तत्कर्म्मानुगामी मानव 'लोकसमृद्धि' का ही भोक्ता प्रमाणित होता रहता है। अर्थात् अधर्म्म से समन्वित-भूतभौतिक कर्म्म तत्काल ही भूतसमृद्धि के समुत्तेजक बन जाया करते हैं तमोगुण की स्वैराचारिता से। आगे चलकर इस प्राप्ता समृद्धि (भौतिक-सम्पत्ति) के बल पर तदर्जक मानव विविध प्रकार के उत्सवायोजनादि में संलग्न होजाता है—**'ततो भद्राणि पश्यति'**। इसी सम्पत्ति के बल पर (इसके वितरण के माध्यम से स्वपक्ष को बलवान् बनाता हुआ संघटन के द्वारा) वह अपने प्रतिद्वन्द्वी-वर्ग पर विजय-प्राप्त करने में भी समर्थ होजाता है-**'ततः सपत्नाञ्जयति'**। और इसप्रकार देखने-सुनने-कहने-कहलवाने के लिए धर्म्मनिरपेक्षा--अधर्म्मभावनाक्रान्ता--केवल दिग्देशकालानुबन्धिनी तात्कालिकी उपयोगिताओं के व्यामोहन में आसक्त-व्यासक्त-मानव का मन:शरीरानुबन्धी लौकिक जीवन सभी दृष्टियों से सुखी-समृद्धिवत् प्रतीत होने लगता है। किन्तु परिणामत: इस प्रतीति का निकर्ष **है— 'समूलस्तु विनश्यति'। अर्थात् ऐसे व्यक्ति का मूलत: सर्वनाश ही सुनिश्चित है।**

दिग्देशकालव्यामुग्ध–लोकोन्नतिसमर्थक–लोकचतुर आज का मानव राजर्षि की–'समूलस्तु विनश्यति' इस सूक्ति पर तार्किक–दृष्टि से भ्रूविक्षेप करता हुआ इसे मन्दहास-पूर्वक उपेक्षणीय मान सकता है, मान ही रहा है। क्योंकि वह प्रत्यक्ष में यह जान रहा है कि, 'मूलनाश' तो क्या, ऐसे लोकचतुर मानव तो अनुदिन लोकसमृद्धि का अनुगमन ही करते देखे गए हैं। अतएव तथाविधा धर्म्मसूक्तियों का उन्नति--पथानुवर्त्मा एक कर्म्मवीर ? की दृष्टि में यत्किञ्चित् भी तो महत्त्व नहीं है।

प्रत्यक्षप्रभावमूला तथाविधा लोकदृष्टि का ही यह दुष्परिणाम है कि, अदृष्टभावानुबन्धी–अदृष्ट–परिणामों से अनुप्राणिता अदृष्टा स्थिति पर आज के लोकमानव की यत्किञ्चित भी तो आस्था नहीं रही है। अपितु आज तो वह–'यावज्जीवेत्–सुखं जीवेत्' मन्त्र का ही अनुवर्त्मा बनता चला जारहा है। एवं धर्म्मपथानुगता नैतिकता का उसकी दृष्टि में यत्किञ्चित् भी महत्त्व शेष नहीं रह गया है। 'समूलविनाश' का तात्पर्य्य अत्यन्त ही रहस्यपूर्ण है, जिसका अत्र स्पष्टीकरण सम्भव नहीं है। राजर्षि की इसी सूक्ति से मिलती जुलती गीतासूक्ति का उपसंहार भी–'बुद्धिनाशात्--प्रणश्यति' * रूप 'सर्वनाश' पर ही हुआ है। गीताविज्ञानभाष्य में–तच्छलोकसमन्वय–प्रसङ्ग से ही 'समूलस्तु विनश्यति' के रहस्यार्थ का भी स्पष्टीकरण कर दिया गया है। प्रकृत में तथ्य–सङ्गति के लिए दो शब्दों में तत्पष्टीकरण का स्मरणमात्र ही कर लिया जाता है।

सर्वश्री कुल्लूकभट्ट (मनुस्मृति के सुप्रसिद्ध टीकाकार) ने 'समूलस्तु'–विनश्यति' का यह अर्थ किया है कि—"**पश्चात् कियता कालेन–अधर्म्मपरिपाकवशात्–देह–धन–तनयादि–सहितो विनश्यति**"। अर्थात् जब अधर्म्म परिपाक की चरमसीमा पर पहुँच जाता है, किंवा लोककिंवदन्ती के अनुसार–'**जब पाप का घड़ा भर जाता है,**' तो उस समय इस अधर्म्माभिनिविष्ट के शरीर–धन–पुत्र–आदि सभी लोकवैभव स्मृतिगर्भ में विलीन होजाते हैं, जिस विलयन का भारतराष्ट्र की धार्मिक प्रजा—'**इकलख पुत्र–सवालख नाती, रावण के घर दिया न बाती**' इस लोकसूक्ति के द्वारा बखान करती आरही है। टीकाकार के इस अर्थसमन्वय का समादर करते हुए ही हमें एक उस तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना है, जिसका स्वयं श्रुतिने अपने शब्दों में निम्नलिखित रूपेण दिग्दर्शन कराया है।

'सत्य' और 'अनृत' नामक सुप्रसिद्ध दोनों वाङ्मय–विवर्त्तों से अनुप्राणित विरुद्धधर्म्मा क्रमशः मानव की आत्मसमृद्धि के, एवं आत्मनाश के कारण बतलाती हुई श्रुति कहती है कि, वाक् का जो 'सत्य' भाग है, वह 'वाक्' के पुष्प-फल माने गए हैं। अतएव जो व्यक्ति वाङ्मय-सत्य का अनुगामी बना रहता है, वह सर्वात्मना अभ्युदय–कीर्त्ति आदि का फलभोक्ता बनता रहता हैं ×।

---

* ध्यायतो विषयान् पुंसः–सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात्-सञ्जायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः, सम्मोहात्–स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥
—गीतायाम्

×–ततदेत्-पुष्पं फलं वाचः-यत्सत्यम्। स-ह-ईश्वरो यशस्वी कल्याणकीर्त्तिर्भवितोः पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदति।
—ऐतेरय-आरण्यक २।३।६।

ठीक इसके विपरीत 'अनृत' भाव वाक् का मूलस्थानीय माना गया है +। अतएव जो व्यक्ति अपने वाङ्मय व्यवहार में (शब्दोच्चारण) में अनृतभाषण (मिथ्याभाषण) करता है, उस व्यक्ति का वाङ्मय भूतात्मा उसीप्रकार सूख जाता है, सूख कर विनष्ट होजाता है, जैसे कि मूल के व्यक्त होजाने पर, उखड़ जाने पर पहिले तो वृक्ष सूख जाता है, और कालान्तर में विनष्ट होजाता है। अतएव प्रज्ञाशील का कर्त्तव्य हैं कि, वह अनृतभाषण से आत्मपरित्राण ही करता रहे ÷।

ऐतरेयश्रुति ने आत्मा के 'शुष्यति', और 'उद्वर्त्तते' ये दो परिणाम बतलाए है। सर्वनाश ही उद्वर्त्तते है, और सर्वनाश का शिलान्यास ही आत्मा की शुष्कावस्था है। तात्पर्य्य इस परिणामद्वयी का स्पष्टतम है। असत्यभाषण करने वाला व्यक्ति सम्भव है अपने वाक्छल से तात्कालिक-स्वार्थ-साधन में समर्थ होजाय। और तन्माध्यम से वह लोकसुखाभास का भोक्ता भी बन जाय। किन्तु इस लोकसुखभोग का क्षेत्र केवल मनोऽनुगत भौतिक-शारीर ही बना करता है, जिसे तत्त्वदृष्ट्या कदापि तबतक वास्तविक सुख नहीं माना जासकता, जबतक कि, मनःशरीरनिबन्धन लोकसुख की आधारभूमि आत्मबुद्धि-सहकृता-शान्ति नहीं बन जाया करती। शान्ति ही सुख की आधारभूमि है। बिना शान्ति के सुख का उपभोग वैसा ही सुखोपभोग है, जैसाकि-आत्मबुद्धिप्रतिष्ठा से वञ्चित पशु-पक्षी-आदि प्राकृत-जीव अपने मनः-शरीरानुबन्धी लोकभोग-सुखों का अनुगमन करते हुए भी प्रतिक्षण ही अन्याक्रमण-भय-से विकम्पित होते रहते हैं। अर्थात् जैसे प्राकृतसर्ग के मनःशरीरोपजीवी पश्वादि प्राणियों का 'सुख' शान्ति से सर्वथैव वञ्चित रहता है, जैसे इनका प्रत्येक-भोगात्मक-सुख शङ्कातङ्कित ही बना रहता है, ठीक वही स्थिति उन लौकिक-प्राकृतिक-मानवों के लोकसुखोपभोगों के सम्बन्ध में घटित-विघटित होती रहती है, जो आत्मबुद्धिमूला-प्रतिष्ठात्मिका शान्ति से वञ्चित रहते हुए केवल-मनःशरीरोपयिक-दिग्देशकालानुबन्धी-तात्कालिक प्राकृतिक

÷ अथैतन्मूलं वाचः-यदनृतम्। तद्यथा वृक्ष आविर्म्मूलः-शुष्यति, स उद्वर्त्तते (कालान्तरे विनश्यति), एवमेवानृतं वदन्-आविर्मूलमात्मानं करोति, स शुष्यति, स उद्वर्त्तते। दस्मादनृतं न वदेत्। दयेत त्वेनेन।

—ऐतरेय-आरण्यक २।३।६।

+—'अनृत' का लोकानुबन्धी अर्थ है 'मिथ्याभाषण'। श्रुति इसे वाक् का मूल क्यों मान रही है ?, प्रश्न का रहस्यात्मक उत्तर सुप्रसिद्धा 'अम्भोविद्या' से ही अनुप्राणित है। पारमेष्ठ्य-'अम्भः' नामक ऋततत्त्व ही आम्भृणी नाम की अर्थवाक् का, एवं सरस्वती नाम की शब्दवाक् का मूलप्रभव बनता है। 'सामान्ये सामान्याभावः' न्यायानुसार ऋत में क्योंकि ऋत नहीं रहता। अतएव सद्रूप प्राण जैसे-'असत्' कहलाया है, प्राणप्रधान-मनोघन अव्यय जैसे-'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' कहलाया है, एवमेव ऋत 'अनृत' नाम से व्यवहृत हुआ है। प्रतिष्ठाशून्यभाव ही ऋत है, जिसका वैज्ञानिक-लक्षण हुआ है-'अहृदयं-अशरीरं-ऋतम्'। मिथ्याभाषण भी क्योंकि प्रतिष्ठाबल से वञ्चित है। इस सादृश्य से ही 'अनृत' शब्द मिथ्याभाषण का भी संग्राहक बन गया है। इस दृष्टि से भी 'अनृत' को वाक् का मूल मान लिया गया है। अन्य निबन्धों में सत्यानृतस्वरूप के समन्वय-प्रसङ्ग से इस तथ्य का विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है।

सुखों के प्रति ही आसक्त–व्यासक्त बने रहते हैं। अतएव स्पष्ट है कि–ऐसे प्राकृत–मानव सुखाभासात्मक सुख से अनुप्राणित रहते हुए आत्ममूला शान्ति से तो सर्वथैव वञ्चित बने रहते हैं। और यह वञ्चना ही इनके सर्वनाश की स्वरूप–परिभाषा है।

वस्तुस्थिति के समन्वय के लिए मिथ्याभाषण–चोरी–परहनन–आदि उदाहरण ही पर्य्याप्त होंगे। इन तीनों हीं कुकर्म्मों से कुकर्म्मकर्त्ता मानव का बुद्ध्यनुगत आत्मा सर्वथैव विकम्पित होता रहता है आरम्भावस्थाओं में। आरम्भदशा में इन असत्कर्म्मों का अनुगामी प्राकृत मानव अपने आपको सदैव-सशङ्कित-भयत्रस्त–खिन्न–आर्त्त–सा ही अनुभूत करता रहता है, एवं यही इसका 'आत्मस्वरूपशोषणकाल' है। यदि इसका इत्थंभूत अभ्यास उत्तरोत्तर प्रक्रान्त ही होता रहता है, तो वह आरम्भ की विकम्पनावस्था कालान्तर में उस जड़ता में ही परिणत होजाती है, जिस 'जड़ता' की अभिव्यक्ति के अनन्तर उसी प्रकार इस लोकमानव को भी अपने प्राकृत–कर्म्मों के प्रति कोई घृणा नहीं रह जाती, जैसाकि आत्मस्वरूप–विस्मृत–पशु–पक्षी–आदि जीव सहजरूपेणैव मनःशरीरानुगत–भोगों के प्रति अन्धन्यायेनैव अनुधावन करते रहते हैं। आत्मबुद्धिस्वरूप के सहज अभिव्यक्तित्त्व से प्रकृत्यैव वञ्चित मानवेतर पश्वादिसर्ग जैसे आत्मबुद्ध्या सहजरूपेणैव उन्मुग्ध बना रहता है, इस उन्मुग्धता के कारण ही जैसे इस पशु-पक्षि-जगत् को कामोपभोगशमन के लिए नृशंसतम कर्म्मप्रवृत्ति में भी लज्जा–क्षोभ की अनुभूति नहीं होती, ठीक वैसी ही स्थिति उस लोकचतुर मानव की होजाती है, जो आत्मबुद्धि-सम्मत सहज मानवधर्म्म को जलाञ्जलि समर्पित कर पशु-पक्ष्यादिवत् विजड़ितावस्था, किंवा आत्माभिव्यक्तित्त्वशून्या प्राकृतावस्था में हीं परिणत होजाता है, जिस आत्मविकासशून्या विजड़ितावस्था का ही पारिभाषिक नाम है मानव के मूलभूत आत्मस्वरूप की वह मृत्यु, जिसे–'जीवितमृत्यु' भी कहा जा-सकता है। आत्मबुद्धि-स्वरूपाभिव्यक्तित्त्वशूना इत्थंभूता विजड़ितावस्था का नाम ही है-**'समूलम्तु विनश्यति'**, जिसका आगमन होता है बुद्धि से अनुप्राणित सत्–असत्–विवेक के अभिभूत होजाने पर। अतएव जो अर्थ **'बुद्धिनाशात्–प्रणश्यति'** का है, वही अर्थ **'समूलस्तु विनश्यति'** का प्रमाणित होजाता है।

निःसन्देह–उन्नतिपथानुवर्त्मा–प्राकृत–मानव मनःशरीरानुबन्धी–उन सभी लोकसुख–परम्पराओं का भोग करते रहते हैं, पश्वादि–प्राणिवर्गवत् स्वच्छन्दरूपेण–विना किसी मर्य्यादासूत्रानुबन्ध के उन्मुक्त ही बने रहते हैं। किन्तु आत्ममूला शान्ति का इस विजड़ितावस्था में यत्किञ्चित् संस्पर्श भी शेष नहीं रह जाता। **आत्मस्वरूपाभिव्यक्तित्त्व का ही नाम है–मानवता, मानवधर्म्म**। इसे जड़ावस्था में परिणत कर देने का अर्थ है–**'मानव'** स्वरूप को जलाञ्जलित समर्पित कर केवल-मनःशरीरानुबन्धी-**'प्राकृत पशुजीवन'** को ही अपना परमपुरुषार्थ मान बैठना। और यों निःसन्देह निश्रेयस्–मूलक-अभ्युदय से अनुप्राणित आत्मधर्म्म से वञ्चिता लोकोन्नति, एवं तत्साधक लोककर्म्म मानव की मानवता के अन्यतम विघातक ही बन जाया करते हैं। इसी वस्तुतथ्य के आधार पर हमने आत्मप्रतिष्ठाशून्य **'उन्नति'** के प्रसङ्ग से यह स्पष्टीकरण उपनिषत्–प्रेमियों के सम्मुख रखने की महती धृष्टता करली है।

प्रतीच्यजगत् की सामयिकी–'उन्नति' से अनुप्राणिता चर्चा के कारण 'उन्नति' के प्रतिद्वन्द्वी 'अभ्युदय' के स्वरूप–समन्वय की दृष्टि से ही राजर्षि के वचन का समन्वय–प्रसङ्ग प्रक्रान्त होपड़ा था। आज हमारा भारतवर्ष अपने लोकजीवनीय–प्रत्येक–क्षेत्र में अनुकरणाकर्षणधिया जिस प्रगति के साथ **'प्रतीच्योन्नतिपथ'** का अन्धानुकरण करता जारहा है, तद्दुष्परिणाम–स्वरूप ही आत्ममूला–धर्म्मसम्मता-नैतिकता उसी वेग

से उत्तरोत्तर अभिभूत ही होती चली जारही है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है आज का **'श्रमरूप'-'कामकरो'** * उद्घोष। श्रद्धा-वात्सल्य-स्नेह-शून्य, अतएव सर्वथैव जड़भावापन्न, अतएव च शुष्कवृक्षवत् नीरस आज का **'श्रमप्रधान यह कामोद्घोष'** भारतीय मानव को उत्तरोत्तर जड़ता की ओर ही आकर्षित करता जारहा है, जिस भूतोन्नतिमूला जड़ता से तदाविष्कारक स्वयं पश्चिमीजगत् अपने विगत-भुक्त-प्रक्रान्त-कटु-अनुभवों से संत्रस्त होता आरहा है। तत्परिणामस्वरूप ही वहाँ के अमुक मनीषी विद्वानोंने मुक्तकण्ठ से भारतीय-आत्मनिष्ठा के पावन सन्देश के प्रति अत्यन्त प्रणतभाव से अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की हैं। प्रक्रान्त प्रथम स्तम्भ में प्रतीच्य-पथानुवर्त्मा उन्नतिवादी भारतीय मानव के उद्बोधन के लिए ही कतिपय-प्रतीच्य-विद्वानों की उस धारणा का दिग्दर्शन-प्रयास हुआ है, जिसके द्वारा उन प्रतीच्य-विद्वानोंने मुक्तकण्ठ से भारतीय-संस्कृति की महती उपयोगिता का सर्वात्मना समर्थन किया है।

(ग)-गच्छतः स्खलनरूपेण, किंवा गतानुगतिकन्यायेन अवरुद्धकण्ठ से भारतीय-संस्कृति के प्रति यदा कदा अनुरागात्मक-उदारभाव व्यक्त करते हुए भी वे उदारवादी प्रतीच्यशिक्षापारङ्गत-भारतीय-बन्धु-अन्त में इस तथ्य पर अपनी इस उदारता का पटाक्षेप करते सुने गए हैं कि, **'आत्मविद्या'** की दृष्टि से, **किंवा आत्मज्ञान के क्षेत्र में हम किसी अतीत युग में भले ही बढ़े चढ़े हों। किन्तु लोकानुबन्धी-**

---

* लोकातीत, विश्वातीत-**परात्पररूप**-**अद्वयब्रह्म**, एवं लोकात्मक-विश्वेश्वर-**पुरुषरूप**-**सगुणब्रह्म**-भेदेन प्रजापति के दो प्रमुख विवर्त्त होजाते हैं, जिनमें विश्वेश्वर-नामक द्वितीय सगुणब्रह्म विवर्त्त के ही **अव्यय-अक्षर-क्षर**-निबन्धनेन क्रमशः **सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्**-ये तीन अवान्तर-महिमा-विवर्त्त होजाते हैं। तदित्थं अधिदैवतसंस्था में लोकातीत-एकविध **अद्वयात्मा**, लोकानुगत-लोकसाक्षी-त्रिविध-**सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराडात्मा**, भेदेन दो के चार आत्मविवर्त्त होजाते हैं, जिन इन चारों अधिदैवत-भावों से मानव के **आत्मा-बुद्धि-मनः-शरीर**-नामक सुप्रसिद्ध चारों आध्यात्मिक-पर्व क्रमशः अनुप्राणित हैं। विराट् के प्रतिनिधि, किंवा प्रतीकरूप, दशकलअग्नि की चिति-संचिति से कृतरूप विराड्भावापन्न शरीर ही अपने दशाङ्गुलियुत-विराडभावापन्न-पाणिद्वय से शरीर-निबन्धन जिस अध्यवसायात्मक **'श्रम'** का अनुगमन करता है, उसका यद्यपि-**'सोऽश्राम्यत'** इत्यादिरूपेण स्वयं श्रुति ने भी समर्थन किया है, एवं श्रुत्यर्थ के उपबृंहक पुराणपुरुष भगवान् बादरायण ने भी दशाङ्गुलिसम्मता-शरीरनिबन्धना-श्रमात्मिका इस विराड्-विभूति का उन्मुक्तहृदय से यशोगान किया है (महाभारते), अतएव कदापि शरीरानुगत-'श्रम' को भारतीय-प्राच्य-दृष्टि से भी कम महत्त्व प्राप्त नहीं है। तथापि विराट्-शरीर के ऊर्ध्वभाग में स्थित मनोबुद्धिरूप-हिरण्यगर्भ-सर्वज्ञानुगत-परिश्रमरूप तपोभाव का, एवं आत्मसंविद्रूप **आश्रमभाव** का अवलम्ब लिए बिना केवल श्रम तो अन्ततोगत्वा मानव को कालान्तर में वैसा श्रमजीवीमात्र ही बना देता है, जिसका जड़-भौतिक-पदार्थों से अधिक कुछ भी तो महत्त्व शेष नहीं रह जाता। आत्मानुगत-संविद्भाव से अनुप्राणित **आश्रम**, तदनुगत मनोबुद्धिनिबन्धन-**परिश्रम**, और ऐसे आश्रम-गर्भित-परिश्रम से समन्वित-**शारीरिक श्रम** ही भारतीय 'श्रम' शब्द की रहस्य-पूर्ण वह पारिभाषिकी तत्त्वमीमांसा है, जिस की उपेक्षा करने वाला केवल श्रमात्मक आज का 'शुष्क-श्रम' कदापि मानव के सर्वाङ्गीण अभ्युदय का कारण नहीं बन सकता। इसी दृष्टि से हमने अत्र श्रम को आलोच्यकोटि में समाविष्ट माना है।

भूतभौतिक-विज्ञान के क्षेत्र में तो हमारा अध्यात्मवादी, केवल ज्ञानवादी भारत सदा से ही अपने आपको निरक्षर-मूर्द्धन्य ही प्रमाणित करता आरहा है। निष्कर्षतः वैज्ञानिकी दृष्टि भारतीय प्रज्ञाक्षेत्र में कदापि स्थान नहीं पासकी" इत्यादि इत्यादि.......।

इष्टापत्ति है हमें अपने हीं आत्मबन्धुओं के तथाविध अभियोग के सम्बन्ध में इसलिए कि, सचमुच ऋषिप्रज्ञा के द्वारा स्वप्न में भी ज्ञानमय आत्मब्रह्म के नियन्त्रण से पराङ्मुख स्वच्छन्द वैसे वैज्ञानिक अनुबन्धों की स्वाप्निकी कल्पना भी नहीं हुई, जिस ज्ञानप्रतिष्ठा-वञ्चित भौतिक-विज्ञान से मानव की एषणाएँ उत्तरोत्तर प्रवृद्ध होतीं हुईं अन्ततो गत्वा मानव के सर्वनाश का ही कारण प्रमाणित होजाया करतीं हैं—तथाकथित-'समूलस्तु विनश्यति' सिद्धान्तानुसार। यदा कदा वेदभक्त कतिपय बन्धुओं का कर्णाकर्णिपरम्परया ऐसा कुछ प्रयास सुना गया है कि, वे वेदशास्त्र के अमुक शब्दों के अमुक अर्थों की कल्पना के माध्यम से यह प्रमाणित कर देने के लिए व्यग्र बने रहते हैं कि, "वर्त्तमानयुग में जो भौतिक-त्रिविध-आविष्कार देखे-सुने जाते हैं, उन का मूल हमारे वेदशास्त्र में भी है" इत्यादि। कहना न होगा कि, वर्त्तमानभूत विज्ञानानुगता तथाविधा धारणा से वेदशास्त्र के ज्ञान-समन्वित-नित्यविज्ञान का महत्त्व घटता ही है, बढ़ता नहीं। वैदिक-विज्ञान की कुछ अपनी परिभाषा है, अपना स्वतन्त्र लक्ष्य है, जिस की वर्त्तमान भूतविज्ञान के साथ कदापि तुलता सम्भव नहीं हैं। 'न त्वहं तेषु, ते मयि' ही हमारे वैदिक-विज्ञान की घोषणा है, जिस के आधार पर इस व्यापक-वैदिक-विज्ञान को आज के व्याप्य-पश्चिमी-विज्ञान के साथ कदापि समतुलित नहीं किया जासकता।

इस के साथ ही प्रतीच्य-शिक्षा-पारङ्गत उन भारतीय बन्धुओं की उस कल्पना का भी समर्थन सम्भव नहीं है, जिस के द्वारा वेदशास्त्र पर पूर्वकथनानुसार विज्ञानशून्यत्त्व का आरोप लगाते हुए वे यत्किञ्चित् भी तो लज्जा से अवनतशिरस्क नहीं बन जाते। ऐसे आत्मबन्धुओं की तुष्टिमात्रा के लिए ही प्रस्तुत-प्रथम स्तम्भ में हमने-'वैदिक-साहित्य, और वैज्ञानिक-निदर्शन' रूपेण वेदशास्त्रानुगत कतिपय वैज्ञानिक उदाहरणों का संस्मरण किया है। यों तीन अवान्तर स्तम्भों से समन्वित 'प्रारम्भिकनिवेदन' नामक प्रथम स्तम्भ-'भूमिका' रूपेणैव उपनिषत्-प्रेमियों के सम्मुख उपस्थित हुआ है।

१

— * —

(२)-उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?, नामक द्वितीय-स्तम्भ के संस्मरणीय-प्रमुख-विषयों का स्वरूप-दिग्दर्शन—

क-कर्म्मभेदमूलक अधिकारी का विभेद
ख-दैवी-आसुरी-सम्पत्ति, और मङ्गलरहस्य
ग-आत्मविद्या, और उपनिषच्छास्त्र
घ-मङ्गलभेद-मीमांसा

* * *

(क)-कर्म्मभेदमूलक-अधिकारी-वर्ग का विभेद--नामक प्रथम अवान्तर-विषय में श्रेय-प्रेय-श्रेयप्रेय-रूप से तीन प्रकार के अधिकारी--वर्गों का स्वरूप-समन्वय-प्रयास हुआ है । असंख्य-द्वन्द्वभावों से समाक्रान्त-इस चराचर विश्व में सत्त्व-रज-स्तमोगुणों के समन्वय-तारतम्य से तीन प्रकार की अभिरुचियाँ उपलब्ध होरहीं हैं, जिन का प्रधान कारण है पदार्थों का त्रैविध्य । कुछ एक तथ्य, और पदार्थ तो सर्वथा हितकर हैं, किन्तु 'रुचिकर' नहीं । कुछ एक तथ्य, और पदार्थ 'रुचिकर' हैं, किन्तु 'हितकर' नहीं। एवमेव कुछ एक तथ्य, तथा पदार्थ हितकर भी हैं, और रुचिकर भी । उदाहरण के लिए भौतिक-द्रव्यों को ही लीजिए । चिरायते का कटुतम रसात्मक क्वाथ (काढा) हितकर अवश्य है, किन्तु रुचिकर नहीं। अम्ल-द्रव्य (इमली-अमचूर-आदि) एक वातव्याधिग्रस्त मानव के लिए रुचिकर अवश्य हैं, किन्तु हितकर नहीं। किन्तु नीबू इसी के लिए हितकर भी है, और रुचिकर भी । विशुद्ध हितकरभाव का पारिभाषिक नाम है-'श्रेयः', विशुद्ध रुचिकरभाव का नाम है-'प्रेयः', एवं उभयात्मक भाव का नाम है-'श्रेयःप्रेयः' । और इस दृष्टि से अधिकारी-वर्ग के भी तीन हीं श्रेणिविभाग-स्वतः एव संसिद्ध होजाते हैं । नीचे लिखी तालिकाओं से इस वर्गत्रयी का भलीभाँति स्पष्टीकरण होजाता है—

१-श्रेयोऽनुगत कर्म्म——(बुद्धियोगप्रधान-हितकरकर्म्म)-निःश्रेयसजनक-कर्म्म
२-श्रेयः-प्रेयोऽनुगत कर्म्म-(मनोबुद्धि—समन्वित-हितकर--रुचिकर-कर्म्म)-अभ्युदयनिःश्रेयस-साधक-कर्म्म
३-प्रेयोऽनुगत-कर्म्म——-(मनःप्रधान- रुचिकरकर्म्म)-प्रत्यवायजनक कर्म्म

* * *

१- { ३-संन्यासानुगत--ज्ञानात्मक--कर्म्म—उपनिषन्मार्ग ; २-वानप्रस्थानुगत-उपासनात्मक—कर्म्म—आरण्यकमार्ग } उत्तमाधिकारी

२- { १-गृहस्थानुगत--कर्म्मात्मक कर्म्म——ब्राह्मणमार्ग—मध्यमाधिकारी

३-- { ०-आश्रमवञ्चित-कल्पनात्मक-अमार्ग (कुपथ) ---अधमाधिकारी

* * *

१-उत्तमाधिकारी—आत्मनिष्ठ—-अलौकिक—धीरपुरुष—श्रेयोमार्गानुगामी

२-मध्यमाधिकारी—व्यवहारनिष्ठ-लौकिक—-चतुर-पुरुष-श्रेयोमार्गानुगामी

३-अधमाधिकारी—पतनोन्मुख—निष्ठाशून्य—हीन पुरुष-प्रेयोमार्गानुगामी

* * *

१-- { १-विद्यासापेक्ष-निवृत्तिकर्म्म—श्रेयः-कर्म्म - आत्मनिष्ठ-अलौकिक-मानव

२-- { २-विद्यासापेक्ष-प्रवृत्तिकर्म्म / ३-विद्यानिरपेक्ष-सत्कर्म्म } श्रेयः-प्रेयः-कर्म्म-व्यवहारनिष्ठ-लौकिक-मानव

३-- { ४-विद्यानिरपेक्ष-असत्कर्म्म – प्रेयः—कर्म्म—निष्ठाच्युत-उभयतोभ्रष्ट मानव

* * *

१-देवबलप्रधान-सत्त्वगुणान्वित-आत्मनिष्ठ-पुरुष—श्रेयोमार्गानुगामी

२-उभयबलप्रधान-रजोगुणान्वित—व्यवहारनिष्ठ-मानव-उभयमार्गानुगामी

३-असुरबलप्रधान-तमोगुणान्वित—निष्ठाच्युत—मनुष्य-प्रेयोमार्गानुगामी

* * *

(ख)-'दैवी-आसुरी-सम्पत, और मङ्गलरहस्य' नामक द्वितीय-अवान्तर-विषय में गुणत्रयान्विता-महत्प्रकृति के अनुबन्ध से वितायमाना दैवी-आसुरी-सम्पत्ति का ही दिग्दर्शन-प्रयास हुआ है। विश्व की मूलभूता महत्प्रकृति 'लोकविद्या' के अनुसार उस तृतीय-द्युलोक से सम्बन्ध रखती है, जिसे पारमेष्ठ्य-सोमलोक कहा गया है, जैसा कि-'तृतीयस्यां वै इतो दिवि सोम, आसीत्' से प्रमाणित है। सोममय-परमेष्ठी ही वह 'प्रजापति' है, जिस के गर्भ में (महिमामण्डल में) भृगु-अङ्गिरामयी-आसुरी, तथा दैवी-सम्पत्ति के बीज सुरक्षित रहते हैं। यही पारमेष्ठ्य-व्रीध्र- भृग्वङ्गिरोमय-सौम्य तत्त्व 'महत्प्रकृति' है, जिस के माध्यम से परमेष्ठी-प्रजापति त्रयस्त्रिंशद्विध--(३३) देवदेवताओं, तथा नवतीनवं (९९) विध असुरों के पिता प्रमाणित होरहे हैं। **'देवाश्च ह वा असुराश्च-उभये-प्राजापत्याः पस्पृधिरे'** इत्यादि ब्राह्मणश्रुति के अनुसार इन दोनों प्राजापत्यों में प्रकृत्यैव प्रतिद्वन्द्विता प्रक्रान्त रहती है, जिस इस प्रतिद्वन्द्वितामूलक द्वन्द्वभाव से ही विश्व-'द्विनियति' (देवनियति, और असुरनियति) रूपेण द्वन्द्वात्मक प्रमाणित होरहा है *।

देवभावानुबन्धिनी गुणविभूति ही विश्वान्तर्गता दैवीसम्पत् है, और उलग्रन्थि का विमोक ही इसका सहज स्वभव है-**'दैवीसम्पद्विमोक्षाय'**। ठीक इसके विपरीत-असुरभावानुबन्धिनी दोषविभूति ही विश्वानुगता वह आसुरी-सम्पत् है, जिसका प्रधान धर्म्म है बलग्रन्थिरूप वारुणपाश को उत्तरोत्तर दृढतम प्रमाणित करते रहना। उभयभावान्विता प्रकृति के प्रवर्ग्यभाग से जन्म लेने वाले प्रत्येक भूत-भौतिक पदार्थ में दोनों हीं गुण-दोष-विभूतियाँ अनिवार्य्यरूपेण विद्यमान रहतीं हैं, जिसके आधार पर-**'गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी'** यह आभाणक प्रसिद्ध है। गुणान्विता दैवी-सम्पत्ति का जहाँ श्रेयोभाव से सम्बन्ध है, वहाँ दोषान्विता आसुरी-सम्पत्ति का प्रेयोभाव से सम्बन्ध माना गया है।

---

* 'द्विनियति' शब्द का ही निर्वचनानुगत--विकृतरूप--'दुनिया' है।

दैवभाव के साथ सहज विरोध रखना आसुरभाव का सहजधर्म है । इसी आधार पर कहा जाता है कि– 'श्रेयाँसि बहु विघ्नानि' । श्रेयोभावानुबन्धी दैवबल के संग्राहक उपनिषच्छास्त्र के स्वाध्याय में प्रेयोभावानुबन्धी आसुरबल के द्वारा विघ्नोपस्थिति दुर्निवारा है । तन्निवृत्यर्थ ही दैवोपासक ऋषि के द्वारा मङ्गल का विधान हुआ है, एवं दैवी-सम्पत्ति से अनुगत 'मङ्गल' का यही संक्षिप्त स्वरूप–निदर्शन है ।

* * * *

(ग)–'आत्मविद्या, और उपनिषच्छास्त्र' नामक क्रमप्राप्त तृतीय–अवान्तर विषय में प्रमुखरूपेण 'उपनिषत्' शब्द के अत्यन्त रहस्यपूर्ण उस 'अवच्छेदक' का ही स्वरूपोपबृंहण हुआ है, जिसकी विस्मृति से 'उपनिषत्' साहित्य के सम्बन्ध में अनेक–प्रकार की वैसी कल्पनाएँ जागरूक होपड़ीं हैं, जिनके द्वारा 'उपनिषत्' का मौलिक–रहस्यात्मक–पारिभाषिक–तत्त्वार्थ एकान्ततः ही अभिभूत होगया है ।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि, उपनिषच्छास्त्र का प्रमुख अवच्छेदक 'आत्मविद्यात्त्व' ही है । किन्तु इसका यह तात्पर्य्य कदापि नहीं है कि, 'उपनिषत् की आत्मविद्या से अनुप्राणित आत्मा वह निर्विशेष तत्त्व है, जिसका दिग्देशकालसीमाओं से कोई सम्बन्ध नहीं हैं'' । तात्पर्य्य यही है कि, काल्पनिक–वेदान्तियों की कल्पना के प्रसूनरूप–जगन्मिथ्यात्वमूलक–वेदान्त से अनुप्राणित विश्वातीत–निर्विशेष–नामक परात्परब्रह्म कदापि उपनिषच्छास्त्र का अवच्छेदक नहीं है । अपितु उपनिषदों में उपवर्णित 'आत्मा' षट्परि–ग्रहविशिष्ट वह 'प्रजापति' तत्त्व है, जिसके आधार पर निःश्रेयस-भावान्विता अभ्युदयपरम्पराओं का उपनिषदों में ज्ञान–विज्ञानात्मक–स्वरूप–विश्लेषण हुआ है । मायाकला से समन्वित–मायीपुरुष, कला–परिग्रहोपेत सकलपुरुष, गुणपरिग्रहोपेत सगुणपुरुष, विकारपरिग्रहोपेत वैकारिकपुरुष, अञ्जनपरिग्रहोपेत साञ्जनपुरुष, एवं आवरणपरिग्रहविशिष्ट आवरणपुरुष, इन षड्विध–प्राजापत्य–आत्मसंस्थानों के अवा-रपारीण ज्ञानान्वित–वैज्ञानिक-तथ्य का प्रतिपादन करने वाला, इत्थभूता 'आत्मविद्या' से समन्वित शास्त्र ही उपनिषच्छास्त्र है, इस प्रक्रान्त–अवान्तर प्रकरण में विस्तार के साथ इसी तथ्य का स्वरूपोपबृंहण हुआ है ।

* * * *

(घ)–'मङ्गलभेदमीमांसा'-नामक अन्त के अवान्तर–विषय में उपनिषदों के आदि, और अन्त में होने वाले माङ्गलिक–मन्त्रों के सम्बन्ध में किञ्चिदिव निवेदन का प्रयास हुआ है । ऋक्–यजुः–साम–अथर्व–भेदभिन्ना संहिताओं के भेद से उपनिषत्–ग्रन्थ भी भिन्न–भिन्न संहिताओं से अनुप्राणित हैं । संहिता–भेदभिन्न उपनिषद्ग्रन्थ के मङ्गलमन्त्र भी विभिन्न ही हैं । ऐसा क्यों ?, मङ्गलमन्त्रों का विभिन्न स्वरूप क्यों ?, प्रस्तुत अवान्तर–विषय में इसी प्रश्न की वैज्ञानिकी–पारिभाषिकी–उपपत्ति का समन्वय हुआ है । तदित्थं चार अवान्तर प्रमुख विषयों से समन्वित यह द्वितीय–स्तम्भ प्रासङ्गिकी अनेक परिभाषाओं का दिग्दर्शन कराता हुआ उपनिषत्–प्रेमियों की तुष्टि का ही कारण माना जायगा ।

३

* * * *

(३)-उपनिषत्-शब्द का क्या अर्थ है ?, नामक तृतीय-स्तम्भ के संस्मरणीय-प्रमुख-विषयों का स्वरूप-दिग्दर्शन —

क-विषयोपक्रम
ख-प्राचीनदृष्टि, और 'उपनिषत्' शब्द का अर्थ
ग-विज्ञानदृष्टि, और 'उपनिषत्' शब्द का अर्थ
घ-ब्राह्मणभागानुगत- 'उपनिषत्'-शब्द
ङ-आरण्यकभागानुगत-'उपनिषत्'-शब्द
च-उपनिषद्भागानुगत-'उपनिषत्'-शब्द

* * * *

उपरि निर्दिष्ट प्रमुख-विषयों की अभिधाओं के माध्यम से ही यद्यपि प्रस्तुत तृतीय-स्तम्भ के प्रतिपाद्य-विषयों का स्वरूप-दिग्दर्शन गतार्थ बन जाता है। तथापि प्रक्रान्त-प्रसङ्ग-समन्वय की दृष्टि से इस सम्बन्ध में भी किञ्चिदिव निवेदन कर दिया जाता है। उपनिषद्ग्रन्थों के सम्बन्ध में विद्वत्-सम्प्रदाय में यही धारणा पुष्पित-पल्लवित होती आरही है कि, **"मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के सर्वान्त में प्रतिष्ठित, अतएव-'वेदान्त' नाम से प्रसिद्ध ज्ञानकाण्ड-प्रतिपादक-ईश-केन-कठ-आदि सुप्रसिद्ध वेदग्रन्थों में हीं 'उपनिषत्' शब्द निरूढ है"**। **'(ख)-प्राचीनदृष्टि, और 'उपनिषत्' शब्द का अर्थ'** नामक अवान्तर प्रकरण में विद्वत्सम्प्रदायानुगता इसी काल्पनिक-धारणा का विस्तार से उपवर्णन हुआ है।

कहना न होगा कि, 'उपनिषत्' शब्द को तथाविधरूपेण ईश-केन-कठ-आदि वेदग्रन्थ-विशेषों में हीं 'निरूढ' मान बैठने से 'उपनिषत्' शब्द के उस व्यापक-यौगिक-अर्थ का सर्वथा ही अभिभव होजाता है, जिस अभिभूति के दुष्परिणाम-स्वरूप ही अनेक शताब्दियों से हम 'उपनिषत्' के पारिभाषिक-अर्थसमन्वय से एकान्ततः असंस्पृष्ट ही प्रमाणित होते आरहे हैं। **(ग)-विज्ञानदृष्टि, और 'उपनिषत्' शब्द का अर्थ'** नामक अवान्तर-प्रकरण में 'उपनिषत्' शब्द के पारिभाषिक-यौगिक-अर्थ का ही विस्तार से स्पष्टीकरण हुआ है, जिस स्पष्टीकरणात्मक बृहत्सन्दर्भ का निष्कर्षार्थ यही है कि—

"सृष्टिरहस्यात्मिका—ज्ञानगर्भिता—मौलिक-विज्ञानात्मिका-जिस पारिभाषिकी उपपत्ति से हमारा प्रज्ञानमन दृढ आस्थापूर्वक तद्विषय पर श्रद्धारूपेण प्रतिष्ठित होजाता है, रहस्यात्मिका वह मौलिक उपपत्ति हो तद्विषय की उपनिषत् है"।

"उप-समीपे-नि-नितरां-निश्चयेन-सीदति-यया-उपपत्त्या, सा वैज्ञानिकी-उपपत्तिरेव उपनिषत्" ही उपनिषत् का यौगिकार्थ-समन्वय है, जिसका समानरूपेण मन्त्रब्राह्मणात्मक सम्पूर्ण वेदशास्त्र के ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-विषयषट्क के साथ सम्बन्ध होरहा है। विज्ञान-स्तुति-इतिहास-रूपेण तीन ज्ञातव्य-विषय हैं, जो मन्त्रसंहिता से अनुप्राणित हैं। और यही **"ज्ञातव्यवेदात्मक-संहितावेद', किंवा 'मन्त्रवेद'** है।

कर्म्म-उपासना-ज्ञान-रूपेण तीन हीं कर्त्तव्यात्मक विषय हैं, जो ब्राह्मणवेद से अनुप्राणित हैं। ब्राह्मणवेद का विधिभाग कर्म्मरूप कर्त्तव्य की इतिकर्त्तव्यता का स्वरूप-विश्लेषक है, जो विधिभाग-शतपथ-ऐतरेय-गोपथ-आदि 'ब्राह्मण' अभिधा से ही प्रसिद्ध है। जो ब्राह्मणभाग उपासनारूप कर्त्तव्य का सङ्केतग्रह कराता है, वही **'आरण्यक'** नाम से, एवं विज्ञानगर्भित-ज्ञान का सङ्केतग्रह कराने वाला भाग **'उपनिषत्'** नाम से प्रसिद्ध होरहा है। ज्ञातव्यत्रयी, और कर्त्तव्यत्रयी, के संकलन से मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के प्रमुख ६ विषय होजाते हैं, जिनमें मन्त्रानुगत आरम्भ के तीन विषय **तत्त्वमीमांसा-प्रधान हैं**, एवं ब्राह्मणानुगत (विधिरूप ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदनुगत) आगे के तीन विषय **आचारमीमांसा-प्रधान** हैं।

तथोक्त विषयषट्क के अनुपात से मौलिक-उपपत्तिरूपा उपनिषत् को प्रमुख ६ भागों में विभक्त माना जासकता है, एवं तदनुरूप ही उन ६ ओं उपनिषदों को क्रमशः **विज्ञानोपनिषत्, स्तुत्युपनिषत्, इति-वृत्तोपनिषत्, कर्म्मोपनिषत्, उपास्त्युपनिषत्, ज्ञानोपनिषत्**, इन नामों से समन्वित माना जासकता है, जिन इन ६ ओं उपनिषदों के गर्भ में (प्रत्येक में) अवान्तर-ज्ञातव्य-कर्त्तव्य-भेद-निबन्धन-असंख्य-उपनिषदें समाविष्ट हैं। एवं इस तथ्यपूर्ण वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर यह कहा, और माना जासकता है कि, मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र के यच्चयावत् ज्ञातव्य-विषयों के साथ मौलिक-विज्ञानोपपत्तिरूप 'उपनिषत्' का सम्बन्ध है। 'उपनिषत्' शब्द के इस व्यापक अर्थ की स्वीकृति पर ही निम्न लिखित सैद्धान्तिक-वचनों से अनुप्राणित-'उपनिषत्' शब्द का अर्थ समन्वित होसकता है—

१—तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेवोपनिषत् (शत० ब्रा०)।

२—यदेव विद्यया-श्रद्धया-उपनिषदा करोति, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति (छान्दोग्योपनिषत्)

३—उपनिषदं भो ब्रूहि-इति, उक्ता ते उपनिषत् (उपनिषत्

४—अथादेशा उपनिषदाम् (शत० ब्रा०)

५—अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत् (ए० आ०)

६—वेदस्योपनिषत्-सत्यं, सत्यस्योपनिषद्दमः।
दमस्योपनिषद्दानं, दानस्योपनिषत् तपः॥
तपसोपनिषत्त्यागः, स्त्यागस्योपनिषत् सुखम्।
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः, स्वर्गस्योपनिषच्छमः॥ (महाभारते)

पूर्वोद्धृत श्रौत-स्मार्त्त-वचन विस्पष्ट शब्दों में उपनिषत् शब्द के यौगिकार्थ का ही समर्थन कर रहे हैं। अतएव कदापि उपनिषत् शब्द को वेद के अन्तभागरूप-ईश-केन-कठ-आदि ग्रन्थों में हीं निरूढ नहीं माना जासकता। 'उपनिषत्' शब्द की यौगिकार्थानुगता व्यापकता के अनुबन्ध से ही तो भगवान् वासुदेव कृष्ण के मुखपङ्कज से विनिःसृत, मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र की पारिभाषिकी-सूचीरूप सुप्रसिद्ध गीताशास्त्र भी 'भगवद्गीतोपनिषत्' रूपेण उपनिषत् नाम का अधिकारी बना हुआ है। गीता 'श्रुति' नहीं, अपितु

श्रुत्यर्थानुसरिणी–अतएव परतः–प्रमाण–निबन्धना **'स्मृति'** है। यदि श्रुति (वेद) के अन्तभाग में ही उपनिषत् शब्द निरूढ होता, तो गीता जैसा स्मार्त ग्रन्थ कदापि उपनिषद् शब्द–व्यवहार का पात्र नहीं बनता।

अब इस सम्बन्ध में केवल यही प्रश्न शेष रह जाता है कि, यदि उपनिषत्-शब्द वेद के अन्तिम भाग में निरूढ नहीं है, तो उस–पुरातन लोकव्यवहारात्मक–वृद्धव्यवहार में 'ईश–केन–कठ' आदि ग्रन्थविशेष ही-'उपनिषत्' नाम से क्यों, और कैसे प्रसिद्ध होगए, जबकि वृद्धव्यवहारात्मक–सनातन-लोकव्यवहार को शक्तिग्राहकों में शिरोमणि माना गया है * । इस आपातरमणीय प्रश्न के समाधान के लिए ही–**'ब्राह्मण–आरण्यक–उपनिषद्–ग्रन्थानुगत उपनिषत्–शब्द'** रूपेण अन्त के तीन अवान्तर प्रमुख प्रकरण अत्र समाविष्ट हुए हैं। आरम्याधीत–विधियों, तथा अनारम्याधीत-विधियों से सम्बन्ध रखने वालीं उपनिषदों का विभेद ही इस प्रश्न की समाधानभूमि है, जैसाकि पाठक तत्सन्दर्भ में देखेंगे। तदित्थं अवान्तर ६ प्रमुख–विषयों से समन्वित प्रस्तुत-तृतीय स्तम्भ में उपनिषत् शब्द के विज्ञानसम्मत उस तत्त्वार्थ का ही स्पष्टीकरण हुआ है, जिस स्पष्टीकरण के बिना उपनिषच्छास्त्र का ज्ञानानुगत–वैज्ञानिक–स्वरूप विगत अनेक–शताब्दियों से विस्मृति के गर्भ में हीं विलीन होता आरहा है।

३

* * * *

(४)—क्या 'उपनिषत्' वेद है ?, नामक चतुर्थ–स्तम्भ के संस्मरणीय–प्रमुख–विषयों का स्वरूप–दिग्दर्शन—

क—प्रस्तावना

ख—विषयप्रवेश

ग—वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?, इस सम्बन्ध में दार्शनिकों के विभिन्न–विचार

घ—वेद के तात्त्विक–स्वरूप की रूपरेखा से अनुप्राणित–'वैज्ञानिक–वेद–निरुक्ति'

* * * *

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" इत्यादि सुप्रसिद्ध प्रातिशाख्य–सिद्धान्त के आधार पर विद्वद्वर्ग, तथा अस्मदादि सामान्यवर्ग की सदा से ही सत्त्वश्रद्धामयी, अतएव आर्षनिष्ठया परिपूता इत्थंभूता आस्था प्रक्रान्ता है कि, ऋक्–यजुः–साम–अथर्व–भेदभिन्ना–शाखान्विता संहिताचतुष्टयी-रूप **मन्त्रभाग,** तथा विधि–आरण्यक–उपनिषत्–रूप ब्राह्मणभाग, दोनों की समष्टि का ही नाम **'वेदशास्त्र'** है। देवयुगात्मक–वेदयुग से आरम्भ कर विगत–शताब्दि–पर्य्यन्त, अर्थात् मन्वन्तरानुगता कालगणनानुपात से अर्बों वर्षों से मन्त्र,

---

***–शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद्व्यवहारतश्च**
तत्र शक्तिग्राहकशिरोमणेर्लोकव्यवहारस्य

और ब्राह्मण, दोनों विभागों का ही 'वेदत्त्व' निर्बाध-निर्भ्रान्त-रूपेण श्रद्धा-आस्था-पूर्वक सभी वर्गों के लिए मान्य प्रमाणित होता आरहा था। किन्तु एक वेदभक्त के द्वारा ही कुछ समय पूर्व इसप्रकार की आपातरमणीया मान्यता अभिव्यक्त होपड़ी कि, **"ऋक्-यजुः-साम-अथर्व--नामकी चार वेदसंहिताएँ मात्र ही 'वेद' है। एतदतिरिक्त शाखा--रूपा अन्यान्य मन्त्रसंहिताएँ, एवं ब्राह्मण--आरण्यक--उपनिषत्--नामक यच्चयावत् वेदग्रन्थ वेदव्याख्यामात्र हैं, साक्षात् वेद नहीं"**। आपातरमणीया इसी मान्यता ने उपनिषत्-के सम्बन्ध में भी इत्थंभूत प्रश्न उत्पन्न कर ही तो दिया कि—**"क्या उपनिषत्--वेद है ?"**।

"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" के अनुगामी सनातनधर्म्मावलम्बी तथाकथित तथ्य के आधार पर अपने अन्तराल में ऐसा कुछ अनुमान लगा रहे होंगे कि, अमुक-वेदभक्त के द्वारा नवीनरूपेण उद्भाविता धारणा के ठीक विपरीत हम उन की आस्था के अनुसार **उपनिषद्ग्रन्थों के वेदत्त्व** का ही समर्थन करने जारहे होंगे। हमें दुःख है कि, सनातनधर्म्म पर मनसा-वाचा-पूर्ण-आस्था-श्रद्धा रखते हुए भी, स्वयं को इसी आस्थामयी श्रद्धा के बल पर **'सनातनधर्म्मावलम्बी'** मानते हुए भी हम तद्धर्म्मपथानुगामी विद्वानों के अन्तरालानुगत अनुमान के सर्वथा विरुद्ध, एवं अमुक वेदभक्त महाशय की आपातरमणीया धारणा से अनुगत-दृष्टिकोण का ही समर्थन करने जारहे हैं, एवं प्रक्रान्त प्रश्न के सम्बन्ध में आज विवश बनकर हमें **'सनातनधर्म्मावलम्बी-जगत्, एवं वेदभक्त-आर्य्यसमाज,** दोनों को ही प्रचण्डरूपेण थोड़ी देर के लिए अग्निश्च वायुश्च बन जाने के लिए असंदिग्ध रूपेण इसी अप्रिय-समाधान का अनुगमन करना पड़ रहा है कि—

"२१ अवान्तर-शाखाओं में विभक्त ऋग्वेद, १०१ अवान्तर-शाखाओं में विभक्त-यजुर्वेद, १००० अवान्तर-शाखाओं में विभक्त सामवेद, ६ अवान्तर-शाखाओं में विभक्त अथर्ववेद, सम्भूय ११३१ शाखाओं में विभक्ता मन्त्रसंहिताएँ, ११३१ ग्रन्थों में ही विभक्त ब्राह्मणग्रन्थ, ११३१ ही आरण्यकग्रन्थ, एवं ११३१ ही उपनिषद्ग्रन्थ, सम्भूय ४५२४ (चार-हजारपान्सौ चौबीस) संख्याओं में विभक्त शब्दराशिरूप-ग्रन्थ कदापि वेद नहीं है। जिस का स्पष्टार्थ यही निकलता है कि, न तो मन्त्र--संहिताएँ ही वेद है, न ब्राह्मण ही वेद है, न आरण्यक ही वेद है। फलतः क्या उपनिषत् वेद है ?, प्रश्न का भी एकमात्र ऋजु--समाधान-निष्कर्ष यही निकल आता है कि, उपनिषत् वेद नहीं है"।

तो क्या-"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" सिद्धान्त प्रामाणिक सिद्धान्त नहीं हैं ?, अवश्य ही यह सिद्धान्त प्रामाणिक, अतएव सर्वात्मना शिरसा आराध्य है। तो फिर यह वदतोव्याघात कैसे ?, इसी ग्रन्थि के पाशबन्धन-विमोक के लिए हमने प्रस्तुत चतुर्थ-स्तम्भ में-(ग)-**वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?,** इस नवीन प्रश्न का उत्थान आवश्यक समझा है, जिस इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान के बिना न तो-**'क्या उपनिषत् वेद है ?',** इस प्रश्न का ही सम्यक्-समाधान-सम्भव, एवं नैव प्रातिशाख्य सिद्धान्त की प्रमाणिकता का ही समन्वय सम्भव।

आस्तिकवर्ग की धारणा के अनुसार-"वेद, मनुष्य की रचना नहीं है। अपितु यह तो साक्षात् ईश्वर की वाणी है। अतएव वेद अपौरुषेय है, अर्थात् पुरुषविशेष (मनुष्यविशेष) के प्रयत्न से सर्वथा असंस्पृष्ट है"। बुद्धिवादी कहता है—"इत्थंभूता धारणा का कोई भी वैज्ञानिक-सम्बल नहीं है। 'वेद' शब्दात्मक शास्त्र है, शब्दरचनात्मक ग्रन्थ है। और ऐसी शब्दरचना मानवबुद्धि-से ही सम्भव है। अतएव कदापि वेद को 'अपौरुषेय' नहीं माना जासकता"। विवाद यहीं पर उपशान्त नहीं होजाता। अपितु इस अपौरुषेयता, तथा-पौरुषेयता-के आधार पर प्रधानरूपेण ६ मत, एवं अवान्तर-४० (चालीस) मत होजाते हैं। प्रक्रान्त प्रश्न की जटिलता के संवर्द्धक इन आवान्तर ४० मतों के द्वारा हमारी मानस-प्रज्ञा एकबार तो सहसा निकम्पित ही होपड़ती है, एवं सचमुच ही तो वेद की यह पौरुषेयता, एवं अपौरुषेयता एक तटस्थ जिज्ञासु के लिए असमाधेय प्रश्न ही प्रमाणित होजाता है। नीचे लिखी तालिकाओं से तथोक्त चालीसों मतों की रूपरेखा अंशतः अभिव्यक्त होजाती है—

(१)--पूर्वोत्तरमीमांसादर्शनाभिमत मत-वेद अकृतक हैं, अपौरुषेय हैं, कूटस्थानित्य हैं।
(२)—नव्यन्यायदर्शनाभिमत——मत-वेद ईश्वरकृत हैं, पौरुषेयापौरुषेय हैं, अनित्य हैं।
(४)—प्राचीनन्यायदर्शनाभिमत--मत--वेद ईश्वरावतारकृत हैं, पौरुषेय हैं, प्रवाहनित्य हैं।
(३)—सांख्यदर्शनाभिमत———मत-वेद प्राकृतिक हैं, अपौरुषेय हैं, अनित्य हैं।
(५)—वैशेषिकदर्शनाभिमत—--मत-वेद महर्षिकृत हैं, पौरुषेय हैं, अनित्य हैं।
(६)—नास्तिकमत————वेद साधारण-ग्रामीण-मनुष्यों का व्यवस्थाशास्त्रमात्र है।

* * * *

उक्त प्रमुख षड्विध-मतों के गर्भ में प्रतिष्ठित अवान्तर ४० मतों के स्वरूप-दिग्दर्शन के लिए ही प्रस्तुत-पौरुषेयापौरुषेय--नामक अवान्तर प्रकरण में निम्नलिखित प्रत्यवान्तर ६ विभाग हुए हैं, जिन में क्रमशः (१) पूर्वोत्तरमीमांसादर्शनसम्मत विभिन्न १३ अवान्तरमतों का, (२) नव्यन्यायदर्शनसम्मत विभिन्न ७ अवान्तरमतों का, (३) प्राचीनन्यायदर्शनसम्मत विभिन्न ५ अवान्तरमतों का, (४)-सांख्यदर्शनाभिमत-विभिन्न ७ अवान्तरमतों का, ५-वैशेषिकदर्शनाभिमत, विभिन्न ७ अवान्तर मतों का, (६)-नास्तिकदर्शनाभिमत एक मत का, सम्भूय ४० अवान्तरमतों का युक्ति-तर्क-प्रमाण-पुरस्सर दिग्दर्शन प्रयास हुआ है। एवं इस प्रयास से उस सन्देहलक्षण की अभिव्यक्ति होपड़ी है, जिस का स्वरूप **'एकस्मिन् धर्म्मिणि विरुद्ध--नानाकोटयवगाहिज्ञानं संशयः'** इत्थंभूत है। यदि परमतत्त्वेन नास्तिक मत को उपेक्षणीय भी मान लिया जाय, तब भी शेषभूत दार्शनिक ३९ उन अवान्तर-मतों में से तो किसी भी मत को उपेक्षणीय मानने का साहस कोई भी दर्शनभक्त-आस्तिक नहीं कर सकता। जबकि पाँचों आस्तिक-दर्शनों की मान्यताओं में ही परस्पर अश्वमाहिष्य है, तो स्वतः ही एक आस्तिक के भावुकतापूर्ण अन्तर्जगत् में इत्थंभूत प्रश्न का उदय सहज-रूपेणैव सम्भव बन जाता है कि-वेद **अपौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय?**। निष्कर्षतः जबततक इस महान् प्रश्न का सम्यक् समाधान प्राप्त नहीं होजाता, तबतक अन्यान्य--प्रयत्न--सहस्रों से भी न तो उपनिषदों के वेदत्त्वानुबन्धी प्रक्रान्त प्रश्न का ही समाधान सम्भव, एवं न प्रातिशाख्य--सिद्धान्त की प्रामाणिकता का ही संरक्षण-सुरक्षित।

विगत तीन सहस्राब्दियों से तथोक्त प्रश्न उत्तरोत्तर दुरूह ही बनता चला आरहा है दार्शनिक-मूलसूत्रों के भाष्यकारों, व्याख्याकारों, टीका--टिप्पणीकारों-आदि की मतवादात्मिका आवेशाविष्टा भ्रान्तिपरम्परा के कारण। मतवादात्मिका मान्यता-परम्परा के कारण ही सर्वथा निर्णीत पौरुषेय-अपौरुषेय-निबन्धन प्रश्न अपनी जटिलता की सीमा का अतिक्रमण करता हुआ वेदभक्त भारतीय मानवों का ध्यान स्वयं वेद के रहस्यात्मक बोध से भी सर्वथा ही पराःपरावत प्रमाणित कर चुका है। मन्त्र-ब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र में ज्ञानविज्ञानसिद्धा किन रहस्यपूर्णा सृष्टिविद्याओं का स्वरूप-विश्लेषण हुआ है ?, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के समाधान-संस्पर्श से भी पराङ मुखा बन जाने वाले भारतीय विद्वानों की वेदशास्त्रभक्ति का एकमात्र क्रीड़ास्थल आत्यन्तिकरूपेण वेद का पौरुषेय-अपौरुषेय-रूप शुष्कवाक्कल ही शेष रह गया है। एवं इस शुष्क वाक्कलह का ही अन्ततोगत्वा यह भीषण परिणाम हुआ है कि, वेदशास्त्र के प्रति निःसीम भक्ति व्यक्त करने वाले एक भारतीय के द्वारा ही मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद की पौरुषेयता, तथा अपौरुषेयता का अङ्गभङ्ग कर दिया गया, जिसके अनुबन्ध से ही हमें अगत्या आज प्रस्तुत भूमिका-प्रथमखण्ड में-'**क्या उपनिषद् वेद है ?**" जैसे आपातरमणीय अप्रिय प्रश्न के समाधान में प्रवृत्त होना पड़ रहा है।

समाधान की कामनामात्र से ही तो इस दुरूह प्रश्न का समाधान आज अञ्जसैव इसलिए सम्भव नहीं है कि, मतवादात्मिका-सम्प्रदायवाद-परम्पराओं के काल्वालीकृत आवरण से वेद का ज्ञानविज्ञानात्मक-पारम्परिक, पारिभाषिक अध्ययनाध्यापन-क्रम विगत तीन सहस्रवर्षों से उत्तरोत्तर शिथिल ही होता आरहा है। अवश्य ही पुण्य-श्लोक सर्वश्री महाभाग सायण-महीधर-आदि वेदव्याख्याताओंनें वेद के कर्म्मकाण्डीय पक्ष का पारम्परिक संरक्षण करते हुए इस दिशा में कर्म्मभूमि भारतवर्ष की यज्ञकर्म्मनिबन्धना आचारनिष्ठा के संरक्षण में प्रशंसनीय ही योगदान दिया है। किन्तु जहाँतक वेद की रहस्यात्मिका ज्ञानविज्ञानात्मिका-सृष्टिविद्या-निबन्धना परिभाषाओं का प्रश्न है, उस सीमा पर्य्यन्त हम इन महाभागों को सर्वथैव उपांशु--पथानुवर्त्मा ही उपलब्ध कर रहे हैं। इसी परिभाषा--विलुप्ति के कारण स्वयं श्रीसायण--महीधर--आदि विश्वविश्रुत वेदभाष्यकार भी पौरुषेय--अपौरुषेय--प्रश्न को लेकर पर्य्याप्ता-अहमहमिका के अनुगामी प्रतीत होरहे हैं।

आज हम प्रस्तुत चतुर्थ-स्तम्भ को आधार बना कर पौरुषेय-अपौरुषेय-भावानुबन्धी दुरूह प्रश्न के सम्बन्ध में जिस तथ्यपूर्ण कटु सत्य को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त कर देने का साहस, किंवा दुःसाहस करने के लिए प्रवृत्त होरहे हैं, हम समझते हैं-वर्त्तमानयुग के समस्त भारतीय वेदभक्त तो इस प्रवृत्ति से आरम्भ में संक्षुब्ध हो ही पड़ेंगे, साथ ही विगत तीन सहस्र-वर्षों की अवधि में जिन जिन लोकविश्रुत आचार्य्यप्रवरोंनें इस दिशा में अपनी जो जो साम्प्रदायिक-धारणाएँ व्यक्त कीं हैं, उन उन के चान्द्रमहिमामण्डल-विचरण-शील हँसात्मा भी एक बार तो इस प्रवृत्ति से निरतिशयरूपेण संक्षुब्ध ही होपड़ेंगे, जिस इस क्षोभ-विक्षोभ की जननी-प्रवृत्ति का निष्कषार्थ केवल इसी निम्न-लिखित वाक्य से अनुप्राणित माना जायगा कि—

"मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दात्मक वेदशास्त्र स्वयं वेद नहीं है, अपितु यह तो वेद का शास्त्र है"।

"**मन्त्र, तथा ब्राह्मण--रूप वेद किसी ग्रन्थविशेष का नाम नहीं है। अपितु वेद तो इस चराचर पञ्चतन्मात्राद्वारेण प्रतिष्ठित--पाञ्चभौतिक विश्व का मूल--आरम्भण-(उपादान)-द्रव्य है,**

जिसकी चिति--चयन--संघात से ही विश्वस्वरूप का निम्मीण हुआ है", इस वाक्य-सन्दर्भ से अनुप्राणित तत्त्वात्मक-मौलिक-वेद ही वह अपौरुषेय-कूटस्थ-नित्यवेद है, जिसके आधार पर ही विश्व, तथा विश्वप्रजा का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। क्या विगत-तीन-सहस्र-वर्षावधि के वेदभक्त आचार्य्य, विद्वान्, और सर्वसामान्य इस तथ्य से झटिति सहमत होजायँगे ?। क्या तत्त्वात्मक वेद की स्वरूपसत्ता पर उनका झटिति विश्वास होजायगा ?, नेति होवाच।

इसलिए 'नेति होवाच' कि, तथोक्ता सुदीर्घा अवधि से चले आरहे संस्कारों की धारावाहिकी--परम्परा ने उनके मानस--जगत् को ऐसा अभिभूत कर लिया है कि, वे अपनी अन्धश्रद्धा के विपरीत एकात्तर--श्रवण का भी साहस नहीं कर सकते। किन्तु हम ऐसी आस्था रख रहे हैं कि, स्वयं तत्त्वात्मक वेद में अश्माखणात्मक वैसा प्राणात्मक वीर्य्य है, जिसके बलवदाकर्षण से अन्ततोगत्त्वा उनको अपनी त्रिसहस्रवार्षिकी भी सांस्कारिकी दुराग्रहतृ ते का परित्याग कर ही देना पड़ेगा, एवं अवनतशिरस्क बन कर अन्ततः उन्हें यह स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि—

"मन्त्रब्राह्मणात्मक–तत्त्वात्मक सृष्टिमूलभूत-वेद अपौरुषेय ही है, कूटस्थनित्य ही है, एवं इस दृष्टि से ब्राह्मण की अन्तभागरूपा तत्त्वात्मिका उपनिषत भी अवश्य ही अपौरुषेयवेद है। ठीक इसके विपरीत–तत्त्वात्मक-मौलिक-वैज्ञानिक–वेद का शब्द के द्वारा स्वरूपोपवर्णन करने वाला, बुद्धिपूर्वक शब्दरचनात्मक-मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र पौरुषेय ही है, ऋषिकृत ही है, एवं इस दृष्टि से ब्राह्मण का अन्तभागरूप उपनिषद्–ग्रन्थ भी वेद न होकर वेद की पुस्तकमात्र ही है।"

पाञ्चभौतिक-प्रत्यक्षदृष्ट-विश्व के उपादान पञ्च-पञ्चीकृत 'पञ्चभूत' माने गए हैं। इनके उपादान पञ्चपञ्चीकृत 'रेणुभूत', एवं इनके उपादान अपञ्चीकृत-विशुद्ध-तत्त्वात्मक 'अणुभूत' माने गए हैं। गुण-भूतों से अणुभूतों का, इनसे रेणुभूतों का, इनसे पञ्चभूतों का, एवं इनसे पञ्चमहाभूतात्मक विश्व का उदय माना गया है। सांख्यपरिभाषा में सर्वादि के अपञ्चीकृत, अतएव विशुद्ध, अतएव च अविभाज्य–तत्त्वरूप गुणभूत ही 'तन्मात्रा' नाम से प्रसिद्ध हैं, जिनके 'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध' नाम सुप्रसिद्ध है। इन पाँच-तन्मात्राओं के उत्तरोत्तर-भावी पञ्चीकरण से ही पञ्चमहाभूतात्मक विश्व की स्वरूप–निष्पत्ति हुई है। सैषा स्थितिः–प्राकृतिकी।

उक्ता प्राकृतिक–स्थिति के सर्वादिभूत-गुणभूत का ही वैज्ञानिक नाम है 'विश्वसृट्'। अणुभूत का नाम है—'पञ्चजन', रेणुभूत का नाम है—'पुरञ्जन', पञ्चभूत का नाम है—'पुर', एवं पञ्चमहाभूत का नाम है—'विश्वम्'। विश्वम्' का मूल 'पुरम्' (पञ्चभूत) है, 'पुरम्' का मूल–'पुरञ्जन' (रेणुभूत) है, पुरञ्जन का मूल 'पञ्चजन' (अणुभूत) है, एवं पञ्चजन का मूल है — विश्वसृट्, अर्थात् पञ्चतन्मात्रारूप–गुणभूतपञ्चक, अर्थात् शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध–नाम की सुप्रसिद्धा पञ्चतन्मात्राएँ। क्या सृष्टि के मौलिक-कारण से अनुप्राणिता प्रश्नावली–गुणभूतरूपा पञ्चतन्मात्रा पर ही विश्रान्त है ?। राजर्षि मनु कहते हैं—नहीं, पञ्चतन्मात्रारूप गुणभूतों का भी जो मूल कारण है, वही वास्तविक–मूलकारण है इस व्यक्त–विश्व का,

एवं उसी का नाम है—"तत्त्वात्मक-अपौरुषेय-वेद"। प्रथमा-शब्दतन्मात्रा के सन्निकट-वर्त्ती रहने से हम समझनेमात्र के लिए उस सर्वादिभूत अव्यक्तभावापन्न—वेदात्मक--स्वयम्भूकारण को भी 'शब्दतन्मात्रा' नाम से समन्वित मान सकते हैं, जिस मौलिक 'मात्रारूप' शब्द का तात्पर्य्यार्थ है—'वाक्' तत्त्व, जिसके आधार पर—'वेदशब्देभ्यः' का तात्त्विक समन्वयार्थ होगा—'वेदवाग्भ्यः' जैसाकि—वाग्विवृताश्च वेदाः' इत्यादि वचनान्तर से स्पष्ट प्रमाणित है। शब्द की जननी समुद्रात्मिका मनःप्राणगर्भिता वाग्देवी ही वह वेदतत्त्व है, जिससे सर्वप्रथम शब्द--स्पर्शादि-गुणभूत-लक्षणा पञ्चतन्मात्राओं की अभिव्यक्ति मानी है राजर्षिने। शब्द-शास्त्रात्मक वेद को ही अपौरुषेयवेद मान बैठने वाले विद्वन्मन्यों से प्रणतिपुरस्सर क्या यह प्रश्न नहीं किया जासकता कि, क्या-'अग्निमीले पुरोहितम्' इत्यादि वर्णाक्षर-शब्दपदवाक्य-सन्दर्भादि-की समष्टिरूप-शब्दरचनात्मक वेदग्रन्थ से शब्द--स्पर्शरूप--रसादि तन्मात्राएँ उत्पन्न होसकतीं है ?। मुकुलितनयन बन कर स्वयं विद्वान् ही इस प्रश्न के समाधान का अन्वेषण प्रयास करें, और राजर्षि की निम्नलिखित सूक्ति के माध्यम से अपने त्रिसहस्रवार्षिक-व्यामोहन से आत्मपरित्राण के लिए सचेष्ट बने कि—

शब्द- स्पर्शच-रूपं च-रसो-गन्धश्च-पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते-प्रसूति-गुण-कर्म्मतः ॥

—मनु

"प्रचण्डज्योतिर्म्मय सूर्य्यबिम्ब महदुक्थरूप साक्षात-ऋग्वेद है, सहस्ररश्मिवितान-मण्डलात्मक-सौर-प्रकाशमण्डल-महाव्रतरूप साक्षात् सामवेद है, केन्द्र-प्राणाग्नि-सावित्राग्नि-तत्त्व 'पुरुष' रूप साक्षात् यजुर्वेद है। तदित्थं-मण्डल-(मूर्त्ति)-महिमामण्डल-केन्द्रीय-पुरुष-रूपेण सौर-मण्डल-ऋक् साम-यजुः-की साक्षात् प्रतिमा ही प्रमाणित होरहा है। (आज से पाँच सहस्र वर्ष पूर्व के तो) सर्वसामान्य-मादृश ग्रामीण-अज्ञ-जन-भी इस तथ्य से सुपरिचित थे कि,—"सूर्य्य क्या तप रहा है, तीनों वेद ही तप रहे हैं"।

पुनः हम उन मान्य विद्वानों से विनय-पुरस्सर यह प्रश्न कर लेने की महती धृष्टता कर रहे हैं कि, क्या उक्तवाक्य-सन्दर्भ से अनुप्राणित 'सौरवेद' (गायत्रीमात्रिकवेद) वेद की पुस्तककी ओर सङ्केतग्रह करा रहा है ?। क्या सूर्य्यरूपेण शब्दात्मक वेदग्रन्थ तप रहे हैं ?। निम्नलिखिता शातपथी श्रुति के मूलाक्षरों पर विद्वान् महाभाग दृष्टिनिक्षेपानुग्रह करें, और तदनन्तर ही वेद की पौरुषेयता-अपौरुषेयता-के सम्बन्ध में अपनी प्रज्ञा का व्यय करने में प्रवृत्त हों—

यदेतन्मण्डलं तपति, तन्महदुक्थम् । ता ऋचः । स ऋचां लोकः । अथ यदेतदर्चिर्दीप्यते, तन्महाव्रतम् । तानि सामानि । स साम्नां लोकः । अथ य एष एतस्मिन्-मण्डले पुरुषः, सोऽग्निः, तानि यजूंषि । स यजुषां लोकः । सैषा त्रय्येव विद्या तपति । तद्धैतत्-अविद्वांस अप्याहुः-'त्रयी वाऽएषा विद्या तपति' इति ।

—शतपथब्राह्मण १०।५।२।१,२, कं०।

पाञ्चभौतिक-विश्व के सत्त्वात्मक भूत-भौतिक-पदार्थों के स्वरूप की ओर जब हमारा ध्यान आकर्षित होता है, तो प्रत्येक भौतिक-पदार्थ में हमें वस्तुमूर्त्ति, वस्तुमण्डल, एवं मूर्त्ति-मण्डलान्तर्वर्त्ती-प्राणात्मक

गतिभाव (गत्यागतिभावद्वय-निबन्धना गति), ये तीन स्वतन्त्र भाव उपलब्ध होते हैं। जिस धामच्छद-(जगँह रोकने वाले) वस्तुभाव का हम हाथों से स्पर्श कर सकते हैं, करते हैं, वह स्पृश्य-धामच्छद-भूत ही-'वस्तुपिण्ड' है, यही 'वस्तुमूर्त्ति' है, जिसे हम 'छू' भर सकते हैं, किन्तु देख नहीं सकते। इस वस्तुपिण्ड (स्पृश्या-मूर्त्ति) को केन्द्र बना कर उत्तरोत्तर-विष्कम्भानुगत (व्यासानुगत) पार्श्वद्वयबिन्दु के उत्तरोत्तर अणुभाव में परिणत होने से वस्तुपिण्ड से उत्तरोत्तर छोटे आकार की मूर्त्तियाँ बनाने वाला बहिर्म्मण्डल ही वह तेजो-मण्डल है, जिसके चक्षुरिन्द्रियानुगत प्रतिफलन से ही हमें (तत्रस्थ-आकार से समतुलित ही) वस्तु का स्वरूप दिखलाई देता है। यही दृश्यमण्डल है। जिसे हम देख रहे हैं, कदापि उसका स्पर्श सम्भव नहीं है। उक्त पिण्ड, एवं मण्डल में अवारपारीणरूपेण-परिव्याप्त-गत्यात्मक-प्राणभाव ही दोनों की स्वरूप-प्रतिष्ठा है। और यों प्रत्येक वस्तुतत्त्व में 'मूर्त्ति-मण्डल-गति'-रूपेण तीन तीन पृथक् पृथक् भाव समन्वित होरहे हैं। **'इन में मूर्त्तिभाव का मूलजनक तत्त्व ही 'ऋग्वेद' है, मण्डलभाव का जनक तत्त्व ही 'सामवेद' है, एवं गतिभाव का जनक तत्त्व ही 'यजुर्वेद' है। यों त्रयीब्रह्म' (वेदब्रह्म) के द्वारा ही मूर्त्ति-मण्डल-गतिरूपेण सम्पूर्ण-भूत-भौतिक-पदार्थों की स्वरूपाभिव्यक्ति होरही है।** क्या वेदग्रन्थों से पदार्थों के मूर्त्ति-मण्डल-गति-भावों का स्वरूपोदय हुआ है ?। मानना पड़ेगा, और विवशतया यह स्वीकार कर ही लेना पड़ेगा कि, निम्नलिखित तैत्तिरीय-वचन से सङ्केतित वेदब्रह्म इन शब्दात्मक वेदग्रन्थों से अवश्य ही कोई विभिन्न तत्त्व है, एवं वही आपौरुयेय नित्यकूटस्थ वेद है, जिससे विश्व का स्वरूप-निर्म्माण-**'धाता यथापूर्वमकल्पयत्'** रूपेण प्रक्रान्त है—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः—
सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्।
सर्वं तेजः सामरूपं ह शश्वत्—
सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥
—तैत्तिरीयब्राह्मण

अलमतिपल्लवितेन। उक्त-कतिपय-निदर्शनों से यह स्पष्टरूपेण प्रमाणित होजाता है कि-मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दात्मक-वेदशास्त्र में जिस वेदतत्त्व का स्वरूप-दिग्दर्शन हुआ है, वह तत्त्वात्मक-वैज्ञानिक-नित्यकूटस्थ-वेदतत्त्व ही अपौरुषेय-कूटस्थ-नित्यवेद है, जिसके द्वारा ही बलग्रन्थियों के तारतम्य से चराचरप्रजा-से समन्वित विश्व का स्वरूप-निर्म्माण हुआ है। इसी तत्त्वात्मक-मौलिक-अपौरुषेय-वेद के स्वरूप-दिग्दर्शन के लिए प्रक्रान्त चतुर्थ-स्तम्भ में-(घ)-**वेद के तात्त्विक-स्वरूप की रूपरेखा से अनुप्राणिता-वैज्ञानिकी-वेद-निरुक्ति'** नामक अवान्तर-प्रमुख-प्रकरण में उदाहरणधिया निम्नलिखित-अठारह (१८) प्रकार की वैज्ञानिक-वेदनिरुक्तियों का समावेश हुआ है—

१—वेदप्रतिष्ठानुगता-आत्मस्वरूपनिरुक्तिः
२—सच्चिदानन्दलक्षणा-वेदनिरुक्तिः
३—अमृत-मृत्युमय-आत्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

४—मनः-प्राण-वाङ्मयी-त्रिकलवेदनिरुक्तिः
५—उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षणा-वेदनिरुक्तिः
६—आत्म-ज्योति-प्रतिष्ठा-लक्षणा-वेदनिरुक्तिः
७-उपलब्धिलक्षणा-वेदनिरुक्तिः
८-ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृता--वेदनिरुक्तिः
९-प्राण-आपो-वाक्-सहकृता-वेदनिरुक्तिः
१०-समष्टिरूपेण-आत्मवेदनिरुक्तिः
११-ब्रह्म--विद्या--वेद-भिन्ना-ज्ञानलक्षणा-वेदनिरुक्तिः
१२-वेदनिरुक्तौ (१)- पर्ववेदनिरुक्तिः
१३ „ (२)-भावनावेदनिरुक्तिः
१४ „ (३)-भाववेदनिरुक्तिः
१५ „ (४)-दिग्वेदनिरुक्तिः
१६ „ (५) देशवेदनिरुक्तिः
१७ „ (६) -कालवेदनिरुक्तिः
१८ „ (७)-वर्णवेदनिरुक्तिः

* * * *

तथानिर्दिष्टा वेदनिरुक्तियों के आधार पर अवश्य ही अमुक-सीमापर्य्यन्त वेदभक्त-विद्वानों का इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित होगा ही कि, 'वेद' केवल शब्दात्मक ग्रन्थ का नाम ही नहीं है। अपितु वेदग्रन्थों में उपवर्णित तत्त्वात्मक वेद तो सृष्टि का वह मौलिक-आधारभूत तत्त्व है, जिस के आधार पर ही सम्पूर्ण विश्व, एवं विश्वप्रजा का स्वरूप-वितान हुआ है। तत्त्वात्मक वेद का वह मौलिक स्वरूप सर्वथा अपौरुषेय है। ऋषि उसके द्रष्टामात्र हैं, कर्त्ता नहीं। मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय तत्त्ववेद के जहाँ महर्षिगण द्रष्टा हैं, वहाँ मन्त्रब्राह्मणात्मक-पौरुषेय-शब्दवेद के महर्षिगण कर्त्ता हैं, एवं यही वैज्ञानिक-वेदनिरुक्ति का फलितार्थ और है, इसी माङ्गलिक-फलितार्थ पर 'क्या उपनिषत वेद है?' इस चतुर्थ-स्तम्भ-विराम के साथ प्रस्तुत-भूमिका-प्रथमखण्ड-उपरत होरहा है।

४

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत-प्रथमखण्ड के प्रधान--विषयों का संस्मरण--उपरत

१

तदित्थं–चार–प्रधान–स्तम्भों से समन्वित, एवं अवान्तर-प्रमुख-विषयों–से अनुगत–उपनिषद्विज्ञान–भाष्यभूमिकानुगत–स्तम्भचतुष्टयात्मक–प्रथमखण्ड–उपनिषत्प्रेमियों की आर्षप्रज्ञा के अनुरञ्जन के लिए ही प्रवृत्त हुआ है । स्तम्भचतुष्टयात्मक–भूमिका–प्रथमखण्ड के अन्त के चतुर्थ–स्तम्भरूप-'क्या उपनिषत् वेद है ?' इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान वेद के सुविशद्–तात्त्विक–स्वरूप के उपबृंहण के बिना क्योंकि अपूर्ण ही बना रह जाता है । अतएव इस प्रश्न के साङ्गोपाङ्ग–समाधान की दृष्टि से चतुर्थ–स्तम्भात्मक इस महान् प्रश्न की समाधान की पूर्ति के लिए ही हमें भूमिका के द्वितीय–तृतीय–दो खण्ड और लिपिबद्ध करने पड़े हैं, जिन के प्रतिपाद्य–विषयों की रूपरेखा तत्खण्डों में ही द्रष्टव्या है । प्रकृत में सन्दर्भ–सङ्गति–मात्र के लिए २–३–खण्डों के प्रधान–स्तम्भों का नामस्मरण ही पर्य्याप्त मान लिया जायगा ।

* * * * *

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत-द्वितीयखण्ड के प्रधान--विषयों का संस्मरण

२

प्रथमखण्डोत्तरभावी-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–क्रमप्राप्त द्वितीयखण्ड में प्रधान–रूपेण निम्नलिखित पाँच प्रमुखस्तम्भ, एवं एक "परिशिष्टविभाग" रूपेण ६ सन्दर्भ समाविष्ट हैं—

१–वेद का मौलिक–स्वरूप————————प्रथमस्तम्भ
२–तात्त्विकवेद, और प्रमाणवाद—————द्वितीयस्तम्भ
३–प्राजापत्य- वेदमहिमा———————तृतीयस्तम्भ
४-अपौरुषेयवेद का तात्त्विक-इतिवृत्त———चतुर्थस्तम्भ
५–अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखाविभाग-पञ्चमस्तम्भ
❀–परिशिष्ट–विभाग

* * * * * *

प्रथमखण्डवत् द्वितीयखण्डानुगत उक्त स्तम्भपञ्चक के प्रत्येक स्तम्भ में भी अवान्तर अनेक प्रमुख–विषयों का समावेश हुआ है, जैसाकि तत्खण्ड की विषयसूची से पाठकों को अवगत होगा । प्रकृत में

निदर्शनमात्र के लिए तदवान्तरविषयों में से कुछ एक प्रमुख विषयों का नाम-स्मरण ही कर लेना पर्य्याप्त होगा।

प्रथमखण्ड के चतुर्थस्तम्भात्मक 'क्या उपनिषत् वेद है ?' नामक चतुर्थ (अन्तिम) स्तम्भ के (घ) कार परिच्छेदात्मक **वैज्ञानिक-'वेदनिरुक्ति'** नामक अवान्तर प्रमुख प्रकरण में अठारह प्रकार से वेद के तत्त्वात्मक स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुए उपनिषत् प्रेमियों का ध्यान इसी तथ्य की ओर आकर्षित करने का प्रयास हुआ है कि, **"वेदग्रन्थों में विद्यारूपेण प्रतिप्रादित वेदत्तत्त्व सृष्टि का वह मौलिक आधार है, जिसे माध्यम बना कर ही सर्वज्ञ सर्ववित् प्रजापति सृष्टिनिर्माण में समर्थ बने हुए हैं"।** ऐसा यह वेदपदार्थ सच्चिदानन्दब्रह्म से अभिन्न है। अतएव इसे **'आत्मवेद'** कहा गया है (देखिए प्रथमखण्ड का **'आत्मवेदनिरुक्ति'** नामक अवान्तर प्रकरण)। अतएव क्लेश--कर्म--विपाकाशयैरपरामृष्ट ईश्वरप्रजापति **'वेदात्मा'-'वेदमूर्त्ति-'"वेदैकवेद्य'** आदि उपाधियों से समन्वित है। इसप्रकार प्रथम-खण्डानुगता **'वैज्ञानिकवेदनिरुक्ति'** नामक अवान्तर प्रकरण में तत्त्वात्मक नित्यकूटस्थ **'सत्यं ज्ञानमनन्त ब्रह्म'** से अभिन्न, अतएव अनन्तभावापन्न अपौरुषेय वेदतत्त्व के उस मौलिक स्वरूप की ओर ही विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करने का यत्किञ्चत् प्रयास हुआ है, जो तत्त्वात्मक स्वरूप विगत तीन सहस्राब्दियों से विस्मृतिगर्भ का ही पथानुवर्त्मा प्रमाणित होता आरहा है।

चिरकालानुगत विच्छेद से समन्वित अमुक दृढमूल संस्कार एकहेलयैव अभिभूत नहीं किए जा-सकते। अतएव यह सम्भव है कि, 'प्रथमखण्डानुता' 'तत्त्ववेदनिरुक्ति' से अनुगता रूपरेखामात्र से तबतक तथाविध संस्कार निःशेष नहीं बने, जबतक की प्रमाण-युक्ति--तर्क-इतिवृत्त-आदि आदि साधनों के माध्यम से तत्त्ववेद का मौलिक--तात्त्विक स्वरूप विस्तार से स्पष्ट नहीं कर दिया जाय। एकमात्र इसी उद्देश्य से भूमिका-द्वितीय, तथा तृतीय-खण्डों की अभिव्यक्ति हुई है। द्वितीयखण्ड के प्रथमस्तम्भ में **वेद के मौलिक स्वरूप** का ही स्वरूपोपबृंहण हुआ है, जिस की आधारभूमि है—**'महर्षि भारद्वाज के सावित्राग्निमूलक अनन्तवेद'**, जिस इस तथ्य के आधार पर ही इस प्रथमस्तम्भ में **अनन्तवेद का अविज्ञेय इतिवृत्त, अनन्तवेद** का **दुर्विज्ञेय इतिवृत, अनन्तवेद का विज्ञेय इतिवृत्त, वेदविद्या के संस्थाविभाग, सावित्राग्नि के स्वरूप-लक्षण,** इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विस्तार से स्पष्टीकरण-प्रयास हुआ है।

जिसप्रकार वेदशास्त्र का तत्त्वात्मक **'वेद'** पदार्थ आज हमारे लिए दुरधिगम्य बना हुआ है, तथैव वेदशास्त्र का **'ऋषि'** पदार्थ भी अपने तात्त्विक-मौलिक-स्वरूप से आज सर्वथैव हमारी प्रज्ञा से तिरोहित प्रमाणित होचुका है। **वसिष्ठ-अगस्त्य-कश्यप-भृगु-अङ्गिरा-अत्रि-क्रतु-दक्ष-जमदग्नि-भरद्वाज**-आदि आदि रूपेण जो ऋषि-नाम हम परम्परया सुनते, सुनाते आरहे हैं, उनके सम्बन्ध में अस्मदादि सामान्य जनों की, और वेद के तात्त्विक--स्वरूप से तटस्थ बने रहने वाले विद्वानों की भी ऐसी मान्यता बन गई है कि, उक्त नाम अमुक **मानव--ऋषियों** के ही हैं। विरोध नहीं है इस मान्यता का। किन्तु इस मान्यता का मानव--ऋषि पर ही अवसान मान बैठना वेद के ऋषिपदार्थ से उसीप्रकार अपने आपको पराङ्मुख बना लेना है, जैसेकि वेदग्रन्थों को ही अपौरुषेय मान बैठने के दुष्परिणाम-स्वरूप तत्त्वात्मक वेदपदार्थ हमारी प्रज्ञा से पराः-परावत बन गया है।

वस्तुस्थिति तो वास्तव में ऐसी है कि–ऋषि, और वेद, दोनों अमुक तात्त्विक–दृष्टिकोण से सर्वथा ही अभिन्न हैं, जैसाकि–'ऋषिर्वेदमन्त्रः' इत्यादि से स्पष्ट प्रमाणित है। वसिष्ठ–अगस्त्यादिरूप–ऋषि शब्द तत्त्वविशेष के ही वाचक हैं प्रधानरूपेण। तात्पर्य्य यही है कि, प्राणतत्त्व का ही नाम 'ऋषि' है, जो यजुर्वेद का गतिप्रकृतिक 'यत्' तत्त्व माना गया है, एवं जिस की व्याप्ति 'जू' रूप अनन्ताकाश है। 'जू' रूप अनन्ताकाश में अधामच्छदरूपेण व्याप्त, शब्द–स्पर्श–रूप–रस–गन्ध–नाम की तन्मात्राओं से अतीत, गतिप्रकृतिक 'यत्' रूप प्राणतत्त्व का नाम ही 'यज्जूः' है, यही ऋक्सामरूप वयोनाधों से नद्ध–वयोरूप 'यजुः' है, और यही यजुःप्राण है–'ऋषितत्त्व', जिसके प्राणजातिभेद से अगणित विवर्त होजाते हैं, जैसाकि–विरूपास–इदृषयः–त इद्गम्भीरवेपसः' (ऋक्सं॰) इत्यादि ऋग्वर्णन से स्पष्ट है। यों ऋषि, और वेद, दोनों का अभेद भी स्वतः ही प्रक्रान्त दृष्टिकोण से स्पष्ट होजाता है। एकर्षि–द्व्यर्षि–त्र्यर्षि–सप्तर्षि–नवर्षि–दशर्षि–आदि रूपेण ऋषिप्राण के अनेक महिमामय विवर्तों का वेदशास्त्र में उपबृंहण हुआ है। वसिष्ठ–अगस्त्य–कश्यप–आदि प्राणात्मक इन ऋषियों के समावेश से ही भौतिक पदार्थ 'सद्भावापन्न' बने हुए हैं। क्योंकि–'सामान्ये–सामान्याभावः' न्यायानुसार स्वयं प्राण में प्राण नहीं रहता। अतएव इस ऋषिप्राण की एक पारिभाषिकी संज्ञा–'असत्' भी होगई है, एवं ऋषिप्राणरूप यह वेदतत्त्व ही सृष्टि का मूल है, जिसके असन्नामक–तत्त्वात्मक–चिरन्तन–शब्देतिवृत्त का विस्पष्ट शब्दों में दिगदर्शन कराते हुए भगवान याज्ञवल्क्य कह रहे हैं—

असद्वा इदमग्र आसीत्। तदाहुः–किं तदसदासीदिति ?, ऋषयो वाव तदग्रेऽसदासीत्। तदाहुः–के ते ऋषयः–इति ?, प्राणा वा–ऋषयः। ते यत् अस्मात्–सर्वस्मात्–इदमिच्छन्तः श्रमेण तपसा अरिषन्, तस्माद्दृषयः।

—शतपथब्राह्मणे ६।१।१।१।

वसिष्ठ–अगस्त्य–आदि नाम तत्त्वतः प्राणात्मक ऋषियों ही के निर्वचनार्थानुगत–पारिभाषिक नाम हैं। जिस तपःपूत विद्वान् ने अपनी आर्ष–दृष्टि से जिस ऋषि–प्राण का सर्वप्रथम साक्षात्कार कर लिया, तद्युग की यशोनाम–प्रदान–मर्य्यादा के अनुबन्ध से वह प्राणपरीक्षक मानवश्रेष्ठ भी तद्दृषिप्राण के नाम से ही समन्वित होगया। और यों प्राणात्मक तत्त्वविशेष के वाचक ऋषिप्राणों के नाम हीं तद्द्रष्टा मानवश्रेष्ठों के साथ भी समन्वित होगए। क्योंकि ऋषि, और वेद अभिन्न है। अतएव द्वितीय-खण्ड के प्रथम-स्तम्भानुगत-अवान्तर विषयों में अगत्या हमें—

वेद का ऋषि पदार्थ, असल्लक्षण-ऋषितत्त्व, रोचनालक्षण–ऋषितत्त्व, द्रष्टृलक्षण-ऋषितत्त्व, एवं **वक्तृलक्षण–ऋषितत्त्व,** नामक अवान्तर विषयों का समावेश कराना पड़ा। तदित्थं २३ (तेईस) प्रमुख अवान्तर-विषयों से समन्वित **'वेद का मौलिकस्वरूप'** नाम के प्रथमस्तम्भ में वेद के उस तात्त्विक-स्वरूप का ही विस्तार से यशोगान हुआ है, जिसके अनन्तर **तत्त्वात्मक वेद, और ग्रन्थात्मक–शब्दवेद,** दोनों की विभिन्नता में यत्किञ्चित् भी तो सन्देह शेष नहीं रह जाता।

दूसरे–'तात्त्विकवेद, और प्रमाणवाद' नामक स्तम्भ में श्रुति–स्मृति–पुराणादि में पठित उन प्रमाणों का सार्थ–संकलन हुआ है, जो विस्पष्ट शब्दो में तत्त्वात्मक–वेद का ही स्वरूप अभिव्यक्त कर रहे हैं। तीसरे 'प्राजापत्येवेदमहिमा' नामक स्तम्भ में वेदमूर्त्ति–प्रजापति के महिमारूप वेद का प्रजापति के माध्यम से ४४ (चैवालीस) अवान्तर–प्रमुख–विषयों के द्वारा विस्तार से यशोगान हुआ है, जिस में से–अग्निवंश की सपण्डिता, अहोरात्रव्यूहन-प्रक्रिया, वेदव्यूहन--प्रक्रिया, और चयनयज्ञ, आदि अवान्तर विषय विशेषरूपेणैव संस्मरणीय माने जायँगे। चौथे–'अपौरुषेयवेद का तात्त्विक-इतिवृत्त' नामक स्तम्भ में ५३ (त्रेपन) अवान्तर विषयों का पारिभाषिकी–दृष्टि से समन्वय हुआ है। इकतीस--परिलेखों (चित्रों) के माध्यम से ऋक्–यजुः--साम--त्रयी के वितानात्मक--विस्तार का स्वरूपोपबृंहक यह चतुर्थस्तम्भ वेदप्रेमियों के लिए विशेष रूपेणैव अनुरञ्जन का साधक प्रमाणित होगा, ऐसी हमारी दृढ़तमा आत्मनिष्ठा है। वस्तु सन्निकट से बड़ी, दूर से उत्तरोत्तर छोटी--क्यों--कैसे प्रतीत होती है ?, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न का समाधान ऋक्–यजुः–साम–नाम की तत्त्वत्रयी का वितान ही है। और इस दृष्टि से प्रस्तुत चतुर्थ--स्तम्भ निश्चयेन तत्त्वात्मक वेद के सम्बन्ध में एक क्रान्तिकारी परिवर्त्तन ही अभिव्यक्त कर देगा वेदभक्तों की आस्था-श्रद्धा–समन्विता पावन–प्रज्ञा में।

पाँचवें–'अग्निविकासरहस्य, और वेदशाखा-विभाग' नामक पञ्चम–स्तम्भ में–अवान्तर २३ (तेईस) प्रमुख–विषयों का समावेश हुआ है। सचमुच यह अत्यन्त आश्चर्य्योत्पादक साम्य है कि, मन्त्र–ब्राह्मणात्मक–तत्त्वरूप--अपौरुषेय वेद के जो शाखा--विभाग हैं, ठीक वे ही विभाग मन्त्रब्राह्मणात्मक शब्दा--त्मक वेद के हैं। क्या मूल है इस साम्य का ?, प्रस्तुत पञ्चम--स्तम्भ अग्नि के प्रकृतिसिद्ध सहज विकास से अनुप्राणित तत्त्वात्मक अपौरुषेयवेद के शाखा-विभागों के अनुपात से ही शब्दात्मक–वेदशास्त्र के शाखा–विभाग--साम्य का समन्वय करने के लिए प्रवृत्त हुआ है। तदित्थं--प्रमुख पाँच--स्तम्भों से, तथा ६ ठे परि--शिष्टभाग से समन्वित द्वितीयखण्ड निष्कर्षतः वेद के तात्त्विक--अपौरुषेय--स्वरूप के रहस्यपूर्ण--पारिभाषिक--चिरन्तन इतिवृत्त को स्पष्ट करता हुआ प्रथम-खण्डानुगत चतुर्थस्तम्भ के--'क्या उपनिषत्–वेद है ? इस प्रक्रान्त प्रश्न का ही पूरक बन रहा है, और यही है द्वितीयखण्ड की संक्षिप्ता रूपरेखा का संक्षिप्ततम--स्वरूप-दिग्दर्शन।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–द्वितीय-खण्ड के प्रधान-विषयों का संस्मरण-उपरत

२

———*———

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत-तृतीयखण्ड के प्रधान-विषयों का संस्मरण

३

—*—

द्वितीयखण्डोत्तरभावी–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–क्रमप्राप्त–तृतीयखण्ड में प्रधानरूपेण निम्न लिखित ७ (सात) प्रमुख स्तम्भों का समावेश हुआ है—

१–पूर्वोत्तरमीमांसानुगता–पौरुषेय–अपौरुषेय–मीमांसा–प्रथमस्तम्भ

२–उपनिषत्प्रतिपाद्यविषयदिग्दर्शन——————द्वितीयस्तम्भ

३–उपनिषच्छिक्षास्वरूपदिग्दर्शन——————तृतीयस्तम्भ

४–औपनिषद-ज्ञानाधिकारि-स्वरूप-दिग्दर्शन ——चतुर्थस्तम्भ

५–ब्राह्मणारण्यकोपनिषत्सम्बन्धस्वरूपदिग्दर्शन——पञ्चमस्तम्भ

६–'श्रुति' शब्द-मीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एकदृष्टि–षष्ठस्तम्भ

७–औपनिषद-ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन————सप्तमस्तम्भ

८–उपनिषत् के साथ गीताशास्त्र का समतुलन——अष्टमस्तम्भ

❀–उपनिषद्भाष्यभूमिकोपसंहार

❀–परिशिष्ट–संग्रह (शास्त्रोयवचनाक्षरार्थसमन्वय)

*   *   *

उक्त सातों स्तम्भों में (प्रत्येक में संख्याक्रमानुपात से) क्रमशः १२[1], ४४[2], १०[3], १०[4], ९[5], ८[6], १[7], ६[8], इन अवान्तर–प्रमुख–विषयात्मक परिच्छेदों का समावेश हुआ है, जैसा कि तृतीयखण्ड की सूची से विदित होगा। प्रथमखण्डानुगता प्रस्तावना विस्तारपथानुगामिनी बनती जारही है। अतः अब उक्त आठों स्तम्भों की रूपरेखा का उत्तरदायित्त्व तृतीयखण्ड पर ही छोड़ा जारहा है। जिन आठ स्तम्भों का तृतीय खण्ड में समावेश हुआ है, उन का प्रथमस्तम्भ प्रधानरूप से उन मीमांसासूत्रों की वैज्ञानिकी व्याख्या का ही अनुगमन कर रहा है, जिन वैज्ञानिकसूत्रों को व्याख्याताओंने अपने साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से सर्वथैव अभिभूत कर लिया है। मीमांसासूत्र निर्भ्रान्तरूपेण तत्त्वात्मक मौलिक-वेद की अपौरुषेयता का ही समन्वय कर रहे हैं, जैसा कि पाठक तत्स्तम्भ में देखेंगे। एतदतिरिक्त उपनिषदों से अनुप्राणित निम्न–लिखित–सामयिक सात प्रश्नों का समा–

धान ही शेष सात स्तम्भों में हुआ है, एवं तृतीयखण्ड के संस्मरणीय--स्तम्भात्मक विषयों की सन्दर्भसङ्गति--समन्वयात्मिका संक्षिप्ततमा यही रूपरेखा है ।

"१-उपनिषदों में किन किन विद्याओं, विषयों का निरूपण हुआ है ?", प्रश्न के समाधान के लिए ही-'उपनिषत्प्रतिपाद्यविषयदिग्दर्शन' नामक 'द्वितीयस्तम्भ' प्रवृत्त हुआ है। "२--उपनिषदों की विद्याएँ, एवं विषय हमें क्या सिखा रहे हैं ?", प्रश्न के समाधान के लिए ही-'उपनिषच्छिक्षा-स्वरूपदिग्दर्शन' नामक-'तृतीयस्तम्भ' प्रवृत्त हुआ है। "३-औपनिषद-ज्ञान का अधिकारी कौन है ?" प्रश्न के समाधान के लिए ही-'औपनिषद-ज्ञानाधिकारिकस्वरूप-दिग्दर्शन' नामक-'चतुर्थस्तम्भ' प्रवृत्त हुआ है । "४--ब्राह्मणवेद के 'विधि' नामक ब्राह्मण-आरण्यक, एवं उपनिषद्-भागों में परस्पर क्या सम्बन्ध है ?" प्रश्न के समाधान के लिए ही--'पञ्चमस्तम्भ' प्रवृत्त हुआ है । "५-क्या श्रुति शब्द का 'श्रवण' से सम्बन्ध है ?, एवं क्या एकेश्वरवाद की अभिव्यक्ति केवल उपनिषदों में ही हुई है ?" प्रश्न के समाधान के लिए ही-"श्रुति-शब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एक दृष्टि" नामक 'षष्ठ-स्तम्भ' प्रवृत्त हुआ है । "६--क्या औपनिषदज्ञान के प्रवर्त्तक क्षत्रिय (राजर्षि) थे ?", प्रश्न के समाधान के लिए ही-"औपनिषद-ज्ञानप्रवर्त्तकेतिवृत्तदिग्दर्शन" नामक 'सप्तमस्तम्भ' प्रवृत्त हुआ है । एवं "७--क्या गीताशास्त्र उपनिषदों के साथ समतुलित है ?" प्रश्न के समाधान के लिए ही-"उपनिषदों के साथ गीताशास्त्र का समतुलन' नामक "अष्टमस्तम्भ" प्रवृत्त हुआ है ।

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत-तृतीयखण्ड के प्रधान-विषयों का संस्मरण-उपरत

३

---*---

तदित्थं--विषयसूची--परिशिष्ट--सन्दर्भादि--संकलन से उपनिषद्भूमिकानुगत-तीनों-खण्डों के पृष्ठों की समवेत--संख्या अनुमानतः १८०० (अठारहसौ) पृष्ठों का ही अनुगमन कर रही है । प्रथमखण्डानुगत चार स्तम्भ, द्वितीयखण्डानुगत पाँचस्तम्भ, एवं तृतीयखण्डानुगत आठस्तम्भ, सम्भूय सत्रह-प्रमुख-स्तम्भों से समन्वित, अनेक अवान्तर--परिच्छेदों से अनुगत, तथा सहस्रों वैज्ञानिकी परिभाषाओं से युक्त खण्डत्रयात्मक प्रस्तुत--'उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका' नामक निबन्ध उपनिषत्--प्रेमियों की तुष्टि-तृप्ति का ही कारण प्रमाणित होगा, एवं तद्द्वारा वेदशास्त्र के सम्बन्ध में अनेक उन भ्रान्ति--परम्पराओं का भी स्वतः ही निराकरण होजायगा, जिस भ्रान्तिपरम्पराने ही वेद के तत्त्वार्थ यो सहस्राब्दियों से अभिभूत ही प्रमाणित कर रक्खा है । आर्षमानव अपनी इस मूलनिधि की अध्ययनाध्ययन--परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित करता हुआ 'उन्नति' के व्यामोहन--पाश से आत्मपरित्राण कर अभ्युदय, तथा निःश्रेयसानुगत--अभ्युदय का भोक्ता बने, इसी मङ्गलकामना के साथ उपनिषद्भूमिकानुगत--प्रथमखण्ड से अनुगत यह 'किमपि प्रास्ताविकम्' विश्राम--पथानुगामी बनने जारहा है ।

सर्वान्ते च विदित--वेदितव्य, अधिगतयाथातथ्य, विद्यावाचस्पति, समीक्षाचक्रवर्त्ती, प्रज्ञावदातश्रममूर्त्ति, श्रीश्रीआचार्य्यचरणों के प्रति श्रद्धाञ्जलि--अर्पण करना भी हमारा आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है, जिनके कि अव्यर्थ अनुग्रह से ही यह वैज्ञानिक साहित्य बाह्यजगत् की सम्पत्ति बन रहा है। यह स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है कि, अबतक जो कुछ प्रकाशित हुआ है, एवं आगे जो कुछ भी प्रकाशित होगा, वह एकमात्र आचार्य्य--चरणों का ही पवित्र प्रसाद है। उनके पावन चरणों में बैठकर अध्ययनकाल में जो कुछ सुना गया, उस अनन्त श्रुति के जो कण स्थिर रह सके, उन्हीं के आधार पर उस 'श्रुति' को इस 'स्मृति' रूप में लिपिबद्ध किया गया। "त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! (मधुसूदन !) तुभ्यमेव समर्पये' के अतिरिक्त इस अकिञ्चन के प्रज्ञाकोश में और ऐसी कौनसी वस्तु है, जिसे वह श्रद्धाञ्जलि में भेंट करे ?। इसी आत्मसमर्पण के द्वारा उस महापुरुष के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए यह प्रस्तावना उपरत होरही है।

विधेयः—

मोतीलालशर्म्मोपाह्वः–यः कश्चिदपि

मुक्करक्कशर्म्मा--आङ्गिरसो भारद्वाजः

जयपत्तनाभिजनः

विजयदशमी

आश्विनशुक्लपक्ष

वि०सं० २०१६



श्रीः

इति–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्डस्य

"किमपि–प्रास्ताविकम्"

उपरतम्

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्ड की

"प्रधानविषयसूची"

एवं

"स्मारक-विषयसूची"

श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्ड की
प्रधान–विषयसूची

१—प्रारम्भिक–निवेदन [भूमिका] .... १ से ८० पर्य्यन्त
२—उपनिषदों के आद्यन्त में मंगलपाठ क्यों किया
जाता है ? .... १ से ३४ „
३—'उपनिषत्' शब्द का क्या अर्थ है ? .... १ से ७२ „
४—क्या 'उपनिषत्' वेद ?–संकलनात्मिका–पृष्ठसंख्या २७२
❀—प्रथमखण्ड-विराम .... २३९ से २४२ पर्य्यन्त

सर्वसंकलनानुगता–पृष्ठसंख्या–४६२ (चारसौ–बासठ)

प्रधानविषयों से अनुगत–परिच्छेदात्मक
प्रमुख-विषय

१—प्रारम्भिक-निवेदन, के अन्तर्गत-प्रमुख-विषय-१ से ८० पर्य्यन्त
क—वैदिक-साहित्य, और हमारी मनोवृत्ति ....१ से २१ „
ख—वैदिक–साहित्य, और प्रतीच्य विद्वान् ... .२२ से ४१ „
ग—वैदिक–साहित्य, और वैज्ञानिक–निदर्शन ... .४२ से ८० „

१

* * * * *

२—उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?, के अन्तर्गत–प्रमुख–विषय-१ से ३४ पर्य्यन्त

क—कर्म्मभेदमूलक–अधिकारी का विभेद ... ...१ से ६ ,,

ख—दैवी–आसुरी–सम्पति, और मङ्गलरहस्य ... ...७ से ११ ,,

ग—आत्मविद्या, और उपनिषच्छास्त्र ... ...१२ से १८ ,,

घ—मङ्गलभेद–मीमांसा ... ...१९ से ३४ ,,

* * * * *

३—'उपनिषत्' शब्द का क्या अर्थ है ?, के अन्तर्गत–प्रमुख विषय—१ से ७२ पर्य्यन्त

क—विषयोपक्रम ... ...१ से ६ ,,

ख—प्राचीनदृष्टि, और उपनिषच्छब्दार्थ ... ...७ से २६ ,,

ग—विज्ञानदृष्टि, और उपनिषच्छब्दार्थ ... ...२७ से ३० ,,

घ—ब्राह्मण में उपनिषत् ... ...३१ से ४७ ,,

ङ—आरण्यक में उपनिषत् ... ...४८ से ४९ ,,

च—उपनिषत् में उपनिषत् ... ...५० से ७२ ,,

* * * * *

४—क्या 'उपनिषत्' वेद है ?, के अन्तर्गत–प्रमुख–विषय—

क—प्रस्तावना ... ...१ से २८ पर्य्यन्त

ख—विषयप्रवेश ... ...२९ से ३४ ,,

ग—वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?, इस सम्बन्ध में–
दार्शनिकों के विभिन्न–विचार ... ...१ से ८८ ,,

घ—वेद के तात्त्विक-स्वरूप की रूपरेखा से अनुप्राणित–
"वैज्ञानिक-वेद–निरुक्ति" ... .८६ से २३८ ,,

४

* * * * *

ग—"वेदपौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?, इस सम्बन्ध में– "दार्शनिकों के विभिन्न–विचार"–के–अन्तर्गत-प्रमुख-विषय–१ से ८८ पर्य्यन्त

१—त्रयोदश-अवान्तरमतयुक्तं पूर्वोत्तरमीमांसादर्शनाभिमत-मतप्रदर्शनम् १ से २८ ,,
२—सप्त–अवान्तरमतयुक्तं–नव्यन्यायाभिमत–मतप्रदर्शनम् ....२६ से ४० ,,
३—पञ्च-अवान्तरमतयुक्तं–प्राचीनन्यायाभिमत–मतप्रदर्शनम् ...४१ से ५४ ,,
४—सप्त–अवान्तरमतयुक्तं–प्राधानिकाभिमत–मतप्रदर्शनम् ....५५ से ६६ ,,
५—सप्त–अवान्तरमतयुक्तं–वैशेषिकदर्शनाभिमत–मतप्रदर्शनम् ....६७ से ८० ,,
६—नास्तिकदर्शनाभिमत–मतप्रदर्शनम् ... ...८१ से ८८ ,,

* * * * *

घ—वेद के तात्त्विक–स्वरूप की रूपरेखा से अनुप्राणिता— "वैज्ञानिक-वेद–निरुक्ति" के अवान्तर–प्रमुख-विषय- ८६ से २३८ पर्य्यन्त

१—वेदप्रतिष्ठानुगता–आत्मस्वरूपनिरुक्तिः ... .८६ से १०२ ,,
२—सच्चिदानन्दलक्षणा–वेदनिरुक्तिः ... ...१०३ से ११४ ,,
३—अमृत-मृत्युमय-आत्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः ... .. ११५ से १२० ,,
४—मनः-प्राण-वाङ्मयी त्रिकलवेदनिरुक्तिः... ... ...१२१ से १२६ ,,
५—उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षणा-वेदनिरुक्तिः ... ...१२७ से १३४ ,,
६—आत्म-ज्योति-प्रतिष्ठा-लक्षणा-वेदनिरुक्तिः ... ...१३५ से १४४ ,,

७—उपलब्धिलक्षणा-वेदनिरुक्तिः ....१४५ से १५२ ,,

८—ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृता-वेदनिरुक्तिः ....१५३ से १६० ,,

९—प्राण-आपा वाक्-सहकृता-वेदनिरुक्तिः ... ...१६१ से १६६ ,,

१०-समष्टिरूपेण-आत्मवेदनिरुक्तिः ... ...१६७ से १७२ ,,

११-ब्रह्म-विद्या-वेद-भिन्ना-ज्ञानलक्षणा-वेदनिरुक्तिः ... ...१७३ से १८६ ,,

१२-वेदनिरुक्तौ (१)-पर्ववेदनिरुक्तिः ... ...१८७ से १९४ ,,

१३- ,, (२)-भावनावेदनिरुक्तिः ... ...१९५ से २०६ ,,

१४- ,, (३)-भाववेदनिरुक्तिः ... ...२०७ से २९२ ,,

१५- ,, (४)-दिग्वेदनिरुक्तिः ....३१३ से २२० ,,

१६- ,, (५)-देशवेदनिरुक्ति ... .२२१ से २२६ ,,

१७- ,, (६)-कालवेदनिरुक्तिः ... .२२७ से २३२ ,,

१८- ,, (७)-वर्णवेदनिरुक्तिः ... .२३३ से २३८ ,,

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत—प्रथमखण्ड का विराम

२३९ से २४१ पर्य्यन्त

* * * * *

इति—उपनिषद्वज्ञानभाष्यभूमिकानुगत-प्रथमखण्डस्य
प्रधान—विषयसूची—
उपरता



श्रीः

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्ड
"स्मारक–विषयसूची"

(१–प्रारम्भिक–निवेदन) ❀
(१ से ८० पर्य्यन्त)

क वैदिक–साहित्य, और हमारी मनोवृत्ति
१ से २१ पर्य्यन्त

१–इष्टसंस्मरण १
२–छन्दोभाषामय उपनिषद्ग्रन्थ ३
३–नागरी, और उपनिषत् ,,
४–भारती, और उपनिषत् ,,
५–पारिभाषिक शब्दों की जटिलता ,,
६–नियतार्थप्रवृत्ति ,,
७–मूलग्रन्थ से ही रहस्यावगम ४
८–वेदराशि, और भारतवर्ष ,,
९–सर्वाधार वेदशास्त्र ,,
१०–वेद का स्तुति-गान ५
११–प्रकृति की नियत-रचना ,,
१२–नियतिचरब्रह्म की सर्वरूपता ,,
१३–स्वतः आविर्भूत वेदशास्त्र ६
१४–अपौरुषेय वेदशास्त्र ७
१५–वेदशास्त्र, और जीवनव्रत ,,
१६–वेदाध्ययन, और सर्वोत्कृष्ट धर्म्म ८
१७–द्विजाति का वेदानुगमन ,,
१८–वेदाभ्यासलक्षण उत्कृष्ट तप ,,
१९–तपश्चर्य्यारत वेदस्वाध्यायी ,,
२०–वेदशून्य नामधारक द्विजाति ९
२१–वेदाध्ययन की अवश्यकर्त्तव्यता ९
२२–वेदशास्त्र, और परमपुरुषार्थ ,,
२३–सर्वशास्ता वेदज्ञ ब्राह्मण ,,
२४–कर्म्मदोषनाशक वेदाग्नि ,,
२५–आर्य्यप्रजा की भाग्यहीनता ,,
२६–वरप्राप्ति के द्वारा उद्बोधन ,,
२७–अभ्युदय, निःश्रेयस्-साधक धर्म्म ,,
२८–प्रकृति का कोप १०
२९–श्रद्धा का क्रमिक ह्रास ,,
३०–वैदिकसाहित्योत्थान, और महाभारत ,,
३१–वैदिकसाहित्यपतन, और महाभारत ,,
३२–विद्वानों की प्रतिभा का दुरुपयोग ,,
३३–सायण, महीधर के प्रति कृतज्ञता ११
३४–वेदभाष्य, और कर्म्मपरा व्याख्या ,,
३५–वैदिकतत्त्वज्ञान की जटिलता ११
३६–वर्त्तमान-शताब्दी, और वेदतत्त्वविलुप्ति ,,
३७–अङ्गशास्त्रों का साम्राज्य ,,
३८–मार्म्मिक बोध का अभाव १२
३९–वेदशास्त्र की दुर्द्दशा ,,
४०–अर्थज्ञानशून्या वेदभक्ति ,,
४१–धर्म्म की उपपत्ति, और हमारा मौनव्रत १३
४२–स्मृतिशास्त्ररूप धर्म्मशास्त्र ,,
४३–विधि-निषेधात्मक धर्म्मशास्त्र ,,
४४–हमारी पण्डितम्मन्यता १४
४५–धर्म्मपदार्थ, और गन्धर्वनगर ,,
४६–राजनैतिकवर्ग, और हमारे शास्त्र ,,

४७–राष्ट्रप्रेमियों के विचार १५
४८–सविनय निवेदन ,,
४९–भ्रान्ति का निराकरण १६
५०–राजनीति, तथा धर्म्मनीति ,,
५१–धर्म्मरक्षार्थ ईश्वर का अवतार ,,
५२–धर्म्मनीति, और भगवान् राम १७
५३–धर्म्मनीति, और हरिश्चन्द्र ,,
५४–धर्म्मनीति, और शिबि ,,
५५–धर्म्मनीति, और युधिष्ठिर ,,
५६–धर्म्मनीति, और कर्ण ,,
५७–धर्म्मनीति, और प्रताप ,,
५८–धर्म्मनीति, और आर्य्यललनाएँ ,,
५९–धर्म्मनीति, और शिवाबा ,,
६०–धर्म्मनीति का पूर्ण विजय १८
६१–राष्ट्र की मौलिक-सम्पत्तियाँ ,,
६२–सम्पत्तिरक्षक वेदशास्त्र ,,
६३–वैदिकसाहित्य की उपयोगिता १९
६४–'दशहस्ता हरीतकी' ,,
६५–संस्कृतज्ञ विद्वान्, और वैदिक-साहित्य ,,
६६–अनार्ष-पश्चिमी विचारों के अनुगामी २०
६७–सामान्य प्रजावर्ग ,,
६८–भौतिकविज्ञान, और प्रजावर्ग ,,
६९–महर्षियों की विदितवेदितव्यता ,,
७०–हमारी कृतघ्नता ,,
७१–अविद्यामूला विडम्बना २१
७२–भारतीय साहित्य, और पश्चिमी विद्वानों की सम्मति का अनुपयोग ,,
७३–भ्रान्त-भारतीय-मानव ,,

—*—

ख–वैदिक साहित्य, और पश्चिमी-विद्वान्

(२२ से ४१ पर्य्यन्त)

७४–भारतीय साहित्य के अनन्यभक्त २१
७५–पश्चिमी विद्वानों के स्पष्ट उद्‌गार २२
७६–फ्रेञ्चपण्डित 'लुई जेकोलिअट' २२
७७–फ्रेञ्चपण्डित 'क्रोभर' २३
७८–काउन्ट जॉन स्टजना' ,,
७९–'विक्टर कजिन' ,,
८०–'कर्नल टाड' २४
८१–फ्रेञ्च इतिहासज्ञ ,,
८२–'पालड्यूसन' ,,
८३–'शॉपनहार' ,,
८४–अङ्गरेज इतिहासवेत्ता २६
८५–अध्यात्मशास्त्रवेत्ता 'इमर्सन' ,,
८६–डाक्टर 'एलेग्जैंडर' २७
८७–जर्म्मन पण्डित 'शेगल' ,,
८८–प्रॉफेसर 'वेबर' २८
८९–श्रीमती 'एनीबेसेन्ट' ,,
९०–डॉक्टर 'एल्फिल' ,,
९१–स्वेडिश काउन्ट ,,
९२–मिस्टर 'कालब्रुक' २९
९३–प्रॉफेसर बॉप ,,
९४–मिस्टर 'थानट' ,,
९५–सर्वश्री 'मेक्समूलर' ,,
९६–प्रॉफेसर 'मेग्डानल्ड' ३१
९७–प्रोफेसर 'हीरेन' ,,
९८–डाक्टर 'वेलेन्टिन' ३२
९९–'सर विलियमजोन्स' ,,
१००–फ्रेञ्च पं० पायरी लॉटे ३३
१०१–प्रसिद्ध विद्वान् स्टेबी ३४
१०२–एपिक्टेटस के शिष्य 'एरियम' ३५
१०३–चीनी यात्री 'ह्यूयेनसांग' ,,
१०४–मि० मार्कोपोलो ,,
१०५–सर जान माल्कम साहिब ,,
१०६–कर्नल स्लिमन ३६
१०७–मि० निबूर ,,
१०८–मि० कॉलमेन ,,
१०९–फायर जेडिन्स ३७

११०-चीनसम्राट् याँगटी ३७
१११-मि० इडरीसी ,,
११२-मेगेस्थेनिज ३८
११३-लॉर्ड हेस्टिंगस ,,
११४-बिशप हेबर साहिब ३९
११५-अबुलफजल ,,
११६-शम्सुद्दीन अब्दुला ,,
११७-पश्चिमी विद्वानों का वेदस्वाध्यायप्रेम ४०
११८-हमारा आत्यन्तिक पतन ४१

——*——

ग-वैदिकसाहित्य, और वैज्ञानिक-निदर्शन
(४२ से ८० पर्य्यन्त)

११९-'विज्ञान' शब्द, और हमारी आकुलता ४२
१२०-विज्ञानवाद में नास्तिकता का भ्रम ,,
१२१-संत्रस्त पण्डितवर्ग ,,
१२२-नास्तिकों का क्षणिक विज्ञानवाद ,,
१२३-भ्रम का दूसरा कारण ,,
१२४-हमारा विज्ञानशब्द, और उसकी मौलिकता ४३
१२५-आस्तिकों का नित्यविज्ञानवाद ,,
१२६-सनातनधर्म्म में दृढनिष्ठा ,,
१२७-श्रद्धा का पुनः स्थापन ,,
१२८-विज्ञातव्य ईश्वर-प्रपञ्च ४४
१२९-वेदों की 'सञ्चरविद्या' ४५
१३०-वेदों की 'प्रतिसञ्चरविद्या' ४६
१३१-सर्वविद्या ४७
१३२-आत्मविद्या, विश्वविद्या ,,
१३३-विविधा-खण्डविद्याएँ ,,
१३४-मौलिकविद्या ,,
१३५-यौगिकविद्या ,,
१३६-मौलिकतत्त्व, और ब्रह्म ४८
१३७-ब्रह्म, और 'ब्रह्मविद्या' ,,
१३८-यौगिकतत्त्व, और यज्ञ ,,
१३९-यज्ञ, और 'यज्ञविद्या' ,,
१४०-ब्रह्मविद्या, और ज्ञानपक्ष ,,
१४१-यज्ञविद्या, और विज्ञानपक्ष ४८
१४२-गीताचार्य्य की सम्मति ,,
१४३-ज्ञानप्रधान आत्मविद्याशास्त्र ,,
१४४-विज्ञानप्रधान विश्वविद्याशास्त्र ,,
१४५-आत्मविद्या, और दर्शनशास्त्र ,,
१४६-फिजिक्स, और 'ब्रह्मविद्या' ,,
१४७-केमेस्ट्री, और 'यज्ञविद्या' ,,
१४८-'कलौ वेदान्तिनः सर्वे' ,,
१४९-भारतवर्ष का जगद्गुरुत्त्व ४९
*--यज्ञपदार्थनिदर्शन (१) ,,
१५०-श्रेष्ठतम यज्ञपदार्थ ,,
१५१-लोकप्रजाप्रवर्त्तक यज्ञकर्म्म ,,
१५२-इष्टकामधुक् यज्ञकर्म्म ५०
१५३-प्रश्नोपनिषत् के 'रयि--प्राण' ,,
१५४ यज्ञ, और यज्ञप्रजापति ,,
१५५-सम्वत्सर, और अहं का अभेद ५१
१५६-षोडशकल सम्वत्सर ,,
१५७-भूतानांपति सम्वत्सर ,,
१५८-वैश्वानरलक्षण पिता सम्वत्सर ,,
१५९-पञ्चावयवमूर्त्ति सम्वत्सर ,,
१६०-अग्निमूर्त्ति सम्वत्सर ५२
१६१-सोममूर्त्ति सम्वत्सर ,,
१६२-काममूर्त्ति सम्वत्सर ,,
१६३-ऋतुमूर्त्ति सम्वत्सर ,,
१६४-यज्ञमूर्त्ति सम्वत्सर ,,
१६५-प्रजामूर्त्ति सम्वत्सर ,,
१६६-यज्ञमूर्त्ति पुरुष ,,
१६७-पुरुषमूर्त्ति सम्वत्सर ,,
१६८-वैधयज्ञ का उपभोग ,,
*---ज्योतिः--पदार्थ--निदर्शन (२) ५३
१६९-पश्चिमी जगत् का ज्योतिर्विज्ञान ,,
१७०-हीट, लाइट, इलेक्ट्री ,,
१७१-हमारा अग्निविज्ञान ,,
१७२-ताप-प्रकाश-विद्युत् ,,

१७३-घनाग्नि, और पार्थिवज्योति ५३
१७४-तापलक्षण पार्थिवाग्निज्योति ,,
१७५-विरलाग्नि, और दिव्यज्योति ,,
१७६-प्रकाशलक्षण दिव्येन्द्रज्योति ,,
१७७-तरलाग्नि, और आन्तरिक्ष्यज्योति ,,
१७८-विद्युल्लक्षण आन्तरिक्ष्य वायुज्योति ,,
१७९-पश्चिमी-विद्वानों की सौरविद्युत् ,,
१८०-भारतीयों की सौर-सौम्य-ध्रौव-विद्युच्छक्तियाँ ,,
१८१-ध्रुवनक्षत्र, और ध्रौवविद्युत् ,,
१८२-भूपिण्डाधार ध्रौवविद्युत् ,,
१८३-इस्पात-सम्पादक ध्रौवविद्युत् ,,
१८४-इन्द्रियवर्ग-सञ्चालिका सौम्यविद्युत् ५४
१८५-समुद्रगर्भ से विनिःसृता सौरविद्युत् ,,
१८६-सरस्वान् समुद्र, और सौरविद्युत् ,,
१८७-'अपां ज्योतिः', और सौरविद्युत् ,,
१८८-विद्युत्, और इन्द्रतत्त्व ५५
१८९-सोमसहचारी इन्द्र ,,
१९०-भौतिकविद्युत् ,,
१९१-आध्यात्मिक-विद्युत् ५६
१९२-मामेव विजानीहि ,,

***-ग्रहपदार्थनिदर्शन (३)**

१९३-ग्रह, और ग्रहयाग ,,
१९४-४० ग्रहपदार्थ ,,
१९५-वायुमूर्त्ति ग्रहतत्त्व ,,
१९६-रुद्र, और ग्रह ,,

***-परिशिष्टपदार्थनिदर्शन (४) ५०**

१९७-ग्रहणविज्ञान ,,
१९८-आविष्कारक अत्रिमहर्षि ,,
१९९-पृथिवी-परिभ्रमणविज्ञान ,,
२००-भ्रामक इन्द्रदेवता ,,
२०१-अहनी चक्रियेव ,,
२०२-आकर्षणसिद्धान्त, और भास्कराचार्य ५८
२०३-ओषधिविज्ञान ,,
२०४-शल्यचिकित्साविज्ञान ६०
२०५-प्रसवचिकित्साविज्ञान ,,
२०६-पश्चिमी-विद्वानों की सम्मतियाँ ६१
२०७-विमानविज्ञान ६२
२०८-वृष्टिविज्ञान ,,
२०९-अक्षमाधेया-प्रश्नावली ६३
२१०-तत्त्वविज्ञान ,,
२११-पञ्चतत्त्ववाद ६४
२१२-पश्चिमी विद्वानों की भावना ,,
२१३-भारतीय-तत्त्ववाद पर आक्षेप ६५
२१४-आक्षेपनिराकरण ६६-६७
२१५-स्थिरधर्म्मपरिगणना ६८
२१६-अस्थिरधर्म्मपरिगणना ,,
२१७-सव्यपेक्षधर्म्मपरिगणना ,,
२१८-आकर्षणबलपरिगणना ६९
२१९-रूढ, योगरूढ, यौगिक-पदार्थ ,,
२२०-घन, द्रव, बाष्पावस्थापन्न पदार्थ ,,
२२१-विविध खण्डविज्ञान ,,
२२२-विज्ञानकोशरूप वेदशास्त्र ,,
२२३-हमारी क्षुद्रवृत्ति ७०
२२४-हमारा अतीत ,,
२२५-हमारा वर्त्तमान ,,
२२६-ध्रुव की कदम्बपरिक्रमा ,,
२२७-ध्रुवपरिभ्रमणसिद्धान्त ७१
२२८-ध्रुवसिद्धान्त का इतिवृत्त ७२
२२९-हमारा संकल्प ७३
२३०-हमारा कर्त्तव्य ७४
२३१-दिव्यपुरुष का प्रसाद ७५
२३२-भूमिका में प्रतिपादित विषयों की तालिका ७६
२३३-समाधान की जटिलता ७७
२३४-सम्भूति के द्वारा असम्भूति का विनाश ७८

प्रारम्भिक निवेदन उपरत

१

* * * * *

[२]-उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है ?
(१ से ३४ पर्य्यन्त)

क-कर्म्मभेदमूलक अधिकारी का विभेद
(१ से ६ पर्य्यन्त)

१-आस्तिकग्रन्थों की मङ्गलकामना १
२-व्यवहारजगत् की मङ्गलकामना ,,
३-मनोभावना, और शुभाशुभ फल ,,
४-स्वस्तिभाव, और हमारा लक्ष्य ,,
५-श्रेय, प्रेय, श्रेय प्रेयकर्म्म ,,
६-हितकर, रुचिकर, हितकर-रुचिकरकर्म्म ३
७-गृहस्थाश्रम, और श्रेयः प्रेयोभाव ,,
८-जन्मसाफल्य ,,
९-अलौकिक अधिकारी ४
१०-लौकिक अधिकारी ,,
११-निकृष्ट अधिकारी ,,
१२-आत्मनिष्ठ अलौकिक पुरुष ,,
१३-व्यवहारनिष्ठ लौकिकपुरुष ,,
१४-पतनोन्मुख कापुरुष ,,
१५-आरण्यकोपनिषत्, और अलौकिकपुरुष ५
१६-ब्राह्मणग्रन्थ, और लौकिकपुरुष ,,
१७-शास्त्रविरोधी लक्ष्यभ्रष्ट मानव ,,
१८-उत्तमाधिकारी ,,
१९-मध्यमाधिकारी ,,
२०-अधमाधिकारी ,,
२१-निःश्रेयस्-जनक कर्म्म ,,
२२-अभ्युदय-निःश्रेयस्-जनक-कर्म्म ,,
२३-प्रत्यवायजनक कर्म्म ,,
२४-आसुरीसम्पत्ति, और मङ्गलफल ,,
२५-दैवीसम्पत्ति की अनन्यता ,,
२६-श्रेयांसि बहु विघ्नानि ,,
२७-उभयतो नमस्कार ,,

---*---

(ख)-दैवी आसुरीसम्पत्, और मङ्गलरहस्य
(७ से ११ पर्य्यन्त)

२८-आत्माभ्युदयलक्षण शुभकर्म्म ६
२९-आत्मपतनलक्षण अशुभकर्म्म ,,
३०-निवृत्तिकर्म्म और आत्मनिष्ठा ७
३१-प्रवृत्तिकर्म्म, और व्यवहारनिष्ठा ,,
३२-अशास्त्रीयकर्म्म, और निष्ठाविच्युति ,,
३३-देवता, और असुर ,,
३४-अश्वमाहिष्यन्याय ,,
३५-कौतुकी स्रष्टा ८
३६-दैवी, और आसुरी-सम्पत्ति ,,
३७-दैवबलप्रधान सात्त्विकभाव ,,
३८-उभयबलप्रधान राजसभाव ,,
३९-आसुरबलप्रधान तामसभाव ,,
४०-सत्त्वभावप्रवर्त्तिका देवता ,,
४१-तमोभावप्रवर्त्तक असुर ,,
४२-आसुरभाव, और विघ्नाक्रमण ,,
४३-द्विविधा दैवीसम्पत् ९
४४-चतुर्विधा आसुरी-सम्पत् ,,
४५-सत्यसंहित--देवता ,,
४६-विज्ञानघन देवता ,,
४७-अनृतसंहित असुर ,,
४८-बलघन असुर ,,
४९-त्रिपर्वा मङ्गलपाठ ,,
५०-अभियुक्त-सम्पति १०
५१-उपनिषदों का मङ्गलपाठ ११

---*---

(ग)-आत्मविद्या, और उपनिषच्छास्त्र
(१२ से १८ पर्य्यन्त)

५२-उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय १२
५३-प्रजापति के कलादि विभाग ,,
५४-प्राजापत्यसंस्था ,,
५५-उद्गीथ-उक्थ-अङ्गी ,,

५६–उपनिषद्विद्या १२
५७–प्रजापति-निरूपक उपनिषच्छास्त्र ,,
५८–ज्ञान-विज्ञान-परिभाषा ,,
५९–विज्ञानयुक्ता ज्ञानोपासना १३
६०–ज्ञानयुक्त विज्ञानानुगमन ,,
६१–ज्ञानपक्ष, और उपनिषच्छास्त्र ,,
६२–वन्यधर्म्म, और उपनिषच्छास्त्र १४
६३–ज्ञानमार्ग, और उपनिषच्छास्त्र ,,
६४–आश्रमविभाग १५
६५–आश्रमभेद से कर्त्तव्यकर्म्मविभाग ,,
६६–क्रत्वर्थ-पुरुषार्थकर्म्म ,,
६७–'एकाकी यतचित्तात्मा' ,,
६८–पुरुषार्थसफलता १६
६९–उपकार्य्य, उपकारकभाव ,,
७०–निष्ठाद्वयी ,,
७१–उपनिषत् की लक्ष्यदृष्टि ,,
७२–सांसारिक-बन्धनविमोक १७
७३–गृहस्थाश्रम, और उपनिषत् १८

——*——

(घ)-मङ्गलभेदमीमांसा
(१९ से ३४ पर्य्यन्त)

७४–उपायप्रदर्शनोपक्रम १८
७५–प्रज्ञा, प्राण-भूत-मयी आत्मसंस्था ,,
७६–शरीरत्रयी, और आत्मसंस्था ,,
७७–शरीत्रयी की मौलिक प्रतिष्ठाएँ ,,
७८–अग्नित्रयी के द्वारा वेदत्रयी का विकास १९
७९–स्थूलशरीर, और ऋग्वेद ,,
८०–सूक्ष्मशरीर, और यजुर्वेद ,,
८१–कारणशरीर, और सामवेद १९
८२–कारणशरीर, और ऋग्वेद की उपनिषत् २०
८३–स्थूलशरीर, और यजुर्वेद की उपनिषत् ,,
८४–सूक्ष्मशरीर, और सामवेद की उपनिषत् ,,
८५–मङ्गलमन्त्र ,,
८६–कर्णेभिः-अक्षभिः ,,
८७–इन्द्रियविज्ञान ,,
८८–ऋङ्मूर्त्ति होता (अग्नि) २२
८९–यजुर्मूर्त्ति अध्वर्यु (वायु) ,,
९०–साममूर्त्ति उद्गाता (आदित्य) ,,
९१–मङ्गलमन्त्ररहस्यार्थ ,,
९२–शरीरत्रयी की मङ्गलकामना २३
९३–ऐतरेयादि-ऋगुपनिषत् २४
९४–ऋगुपनिषदों का मङ्गलमन्त्र २५
९५–मङ्गलमन्त्ररहस्य २६
९६–ईशावास्यादि यजुर्वेदोपनिषत् २७
९७–यजुर्वेदोपनिषदों का मङ्गलमन्त्र ,,
९८–मङ्गमन्त्ररहस्य २८
९९–शुक्ल, कृष्णयजुर्वेद २९
१००–कठतैत्तिरीयादिकृष्णयजुर्वेदोपनिषत् ,,
१०१–कृष्णयजुर्वेदोपनिषदों का मङ्गलमन्त्र ,,
१०२–मङ्गलमन्त्ररहस्य ३०
१०३–केनछान्दोग्यादि सामोपनिषत् ,,
१०४–सामोपनिषदों का मङ्गलमन्त्ररहस्य ,,
१०५–उपनिषदों में दो अमङ्गल ३१
१०६–उपनिषदों के दो मङ्गलपाठ ,,

इति-मङ्गलरहस्यम्
२

—:*:—

(३)–उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है ? (१-६८ पर्य्यन्त)

(क)- विषयोपप्रक्रम

(१ से ६ पर्य्यन्त)

१–'ते मयि सन्तु' १
२–हमारे धार्म्मिक नेता, और उनके उद्गार ,,
३–हेत्वाभासलक्षण हेतु ,,
४–अन्धप्रणाली का अनुगमन ,,
५–क्षोभशान्ति की विफलचेष्टा ,,
६–मनोविज्ञान, और मानहानि ,,
७–छिद्रान्वेषणप्रवृत्ति ,,
८–भाष्यकार पतञ्जलि ३
९–वार्त्तिककार वररुचि ,,
१०–धर्म्मनिर्णायक शब्दशास्त्र ,,
११–वररुचि के आक्षेप ,,
१२–पतञ्जलि का समाधान ,,
१३–वररुचि का अभिनिवेश ४
१४–भाष्यकार का समाधान ,,
१५–सामान्य-लौकिक-दृष्टि, और शास्त्र ५
१६–तात्त्विक-अलौकिक-दृष्टि, और शास्त्र ,,
१७–उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् ६

—*—

(ख)–प्राचीनदृष्टि, और उपनिषच्छाब्दार्थ

(७ से २६ पर्य्यन्त)

१८–स्थावर-जङ्गमात्मक त्रिपर्वा विश्व ८
१९–ज्ञायते, क्रियते, विद्यते ,,
२०–'अर्थक्रियाकारित्वं सत्' ,,
२२–ज्ञानोदय के परिचायक ९
२३–ज्ञान और विषय का पार्थक्य ,,
२४–द्रष्टा और दृश्य का पार्थक्य ,,
२५–ज्ञान और क्रिया का पार्थक्य ,,
२६–प्रत्यगात्म, परमात्म-कर्म्म ,,
२७–ईश्वरेच्छा, और नियतकर्म्म ९
२८–हमारा त्रित्ववाद १०
२९–ज्ञान-कर्म्म-अर्थधाराएँ ,,
३०–सर्वज्ञ ईश्वर ,,
३१–सर्वशक्तिघन ईश्वर ,,
३२–सर्ववित् ईश्वर ,,
३३–अल्पज्ञ जीव १०
३४–अल्पशक्तियुत जीव ११
३५–नियतार्थ, नियतेन्द्रिय जीव ,,
३६–ईश्वर का भौतिक सर्ग ,,
३७–पुरुष की नेदिष्ठता १२
३८–भेदक प्रतिबन्धक ,,
३९–उपनिषत् का प्रतिपाद्य विषय ,,
४०–वेदशास्त्र, और उपनिषत् १३
४१–मन्त्र, ब्रह्म, विद्या ,,
४२–ब्रह्मशब्द का निर्वचन १४
४३–नित्या वेदवाक् ,,
४४–वेदवाक्, और सृष्टिविवर्त्त १५
४५–अग्नि, सोमवेद ,,
४६–वेदस्वरूपपरिचय १६
४७–अत्ता, आद्यमीमांसा ,,
४८–'त्रयो वेदाः' ,,
४९–'चत्वारो वेदाः ,,
५०–ब्रह्मवेदमीमांसा १७
५१–ब्राह्मणवेदमीमांसा ,,
५२–योगत्रयी का समन्वय ,,
५४–'विधि, आरण्यक, उपनिषत्' ,,
५५–पुरोहित अग्नि १८
५६–व्रतपति वायु ,,
५७–'आयाहि वीतये' १९
५८–यजुर्वेद का उपक्रम ,,
५९–'अग्ने व्रतपते' ,,
६०–'इषे त्वोर्जे त्वा' ,,
६१–अथर्वगर्भित त्रयीब्रह्म २०

६२–'विज्ञान-स्तुति इतिहास' २०
६३–इतिहास ही विभीषिका ,,
६४–त्रिकालज्ञ ईश्वर ,,
६५–'धाता यथापूर्वमकल्पयत्' २१
६६–'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' ,,
६७–निगमशास्त्र का ब्रह्मभाग ,,
६८–निगमशास्त्र का ब्राह्मणभाग ,,
६९–कर्म्मयोग, और विधिभाग ,,
७०–भक्तियोग, और आरण्यकभाग ,,
७१–ज्ञानयोग, और उपनिषत्भाग ,,
७२–आध्यात्मिकज्ञान, और उपनिषत् ,,
७३–अर्थकला, और आधिभौतिकविश्व २२
७४–ज्ञानकला, और आधिदैविकविश्व ,,
७५–क्रियाकला, और आध्यात्मिकविश्व ,,
७६–पूर्व, उत्तर, मध्य-काण्डत्रयी ,,
७७–पूर्व, उत्तर, मध्य-मीमांसात्रयी ,,
७८–वेदान्तदर्शन ,,
७९–कर्म्मकाण्ड, और विधिभाग ,,
८०–उपासनाकाण्ड, और आरण्यकभाग ,,
८१–ज्ञानकाण्ड, और उपनिषद्भाग ,,
८२–कर्म्मयोगत्वावच्छिन्न विधिभाग ,,
८३–भक्तियोगत्वावच्छिन्न आरण्यकभाग ,,
८४–अध्यात्मविद्यात्वावच्छिन्न उपनिषद्भाग ,,
८५–उपासना, और सायुज्यभाव ,,
८६–ज्ञान, और निर्वाणभाव ,,
८७–'उप-आसन' और उपासना ,,
८८–उपनिषत्-शब्द का निर्वचन ,,
८९–अध्यात्मविद्याप्रतिपादिका ईशादि उपनिषदें ,,
९०–प्राचीनमतमीमांसा ,,
९१–ब्रह्मवेदपरिलेख ,,
९२–त्रयीवेदपरिलेख २५
९३–ब्राह्मणवेदपरिलेख ,,
९४–ब्रह्मवेद के निरूपणीय विषय ,,
९५–ब्राह्मणवेद के निरूपणीय विषय ,,
९६–आत्मकलापरिलेख २६
९७–शरीरकलापरिलेख ,,
९८–मीमांसात्रयीपरिलेख ,,
९९–अवच्छेदकत्रयीपरिलेख ,,

—*—

(ग)-विज्ञानदृष्टि, और उपनिषच्छब्दार्थ
(२७ से ३० पर्य्यन्त)

१००–निर्विरोध प्राचीनविचार २७
१०१–आदरणीया प्राचीनदृष्टि ,,
१०२–वैज्ञानिक का असन्तोष ,,
१०३–उपनिषत् शब्द का व्यापक अर्थ २७
१०४–शब्दों की अवच्छेदकमर्य्यादा ,,
१०५–भेदक अवच्छेदक तत्त्व ,,
१०६–शब्दशक्ति ,,
१०७–अवच्छेदकावच्छिन्न ,,
१०८–अनवच्छिन्न ईश्वरतत्त्व ,,
१०९–शब्दातीत ईश्वरतत्त्व ,,
११०–'संविदन्ति न यं वेदाः' २८
११ –भेदक, और छन्द ,,
११२–समानार्थक शब्द ,,
११३–कम्बुग्रीवादिमत्त्व २९
११४–सामान्य, और अवच्छेदक ,,
११५–ब्राह्मणग्रन्थों में उपनिषच्छब्दप्रवृत्ति ,,
११६–आरण्यकग्रन्थों में उपनिषच्छब्दप्रवृत्ति ,,
११७–उपनिषत् का तात्त्विकलक्षण ३०

—*—

(घ) ब्राह्मण में उपनिषत् ३१ से ४७ पर्य्यन्त

११८–पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ-कर्म्मपरिगणना ३१
११९–कर्म्मेतिकर्त्तव्यता का विभेद ,,
१२०–भिन्नता, और उपनिषत् ,,
१२१–विज्ञानसिद्धान्त, और उपनिषत् ३२
१२२–मौलिक-उपपत्ति, और उपनिषत् ,,
१२३–'उप-नि-षत्' और उपनिषत् ,,

१२४–उपपत्ति-निश्चय, स्थिति, और उपनिषत् ३२
१२५--व्यावहारिकी उपनिषत् ३३
१२६–उपनिषत् युक्त कर्म्म ,,
१२७--विद्या, श्रद्धा, उपनिषत् ३४
१२८--सर्वहुतयज्ञ, और वैधयज्ञ ,,
१२९--पाङ्क्तवैधयज्ञ की उपनिषत्
* हविर्वेदादिपरिलेख ,,
१३०--सप्तसंस्थ ज्योतिष्टोम की उपनिषत् ३५
१३१--हविर्यज्ञ की उपनिषत् ३६
१३२--हविर्वेदी की उपनिषत् ३७
१३३--गार्हपत्यादि कुण्डों की उपनिषत् ,,
१३४--यज्ञफल की उपनिषत् ३८
१३५--लोकसमतुलित यज्ञोपनिषत् ३९
१३६--अष्टाकपालपुरोडाशोपनिषत् ४०
१३७--'पुरुषसम्मितो यज्ञः' ,,
१३८--क्यों ? की उपनिषदें ४१
१३९--भूत-प्राणमय अग्नि ४२
१४०--भूमहिमा का वितान ,,
१४१--उद्चलच्चण निधनसाम ,,
१४२--पुराणसिद्धान्त की उपनिषत् ,,
१४३--महावेदि, और हविर्वेदि ४३
१४४--उत्तरावेदि, और यूप ,,
१४५--वेदि, यूपों की उपनिषदें ,,
१४६--हविर्द्धानमण्डप की उपनिषत् ४४
१४७--सदोमण्डप की उपनिषत् ,,
१४८--ऋत्विजों की उपनिषत् ,,
१४९--आध्यात्मिक महायज्ञ ,,
१५०--अहरहर्यज्ञ ,,
१५१--आध्यात्मिक यज्ञ की उपनिषत् ,,
१५२--पुराणगार्हपत्य की उपनिषत् ,,
१५३--नूतनगार्हपत्य की उपनिषत् ,,
१५४--उदुम्बरशाखा की उपनिषत् ,,
१५५-यद्वै देवा अकुर्वंस्ततकरवाणि' ४६
१५६--ब्राह्मणग्रन्थ, और उपनिषत् ,,
१५७--विज्ञानोपनिषत् ४६
१५८--उपनिषत् से युक्त ब्राह्मण ४७

(ङ)--आरण्यक में उपनिषत्
(४८ से ४९ पर्य्यन्त)

१५९--आरण्यक में उपनिषत्, और प्राचीनों की सम्मति ४८
१६०--'इत्युपनिषत्' ,,
१६१--मौलिकसिद्धान्तपरक उपनिषच्छन्द ,,
१६२--कार्य्यकारणरहस्य ,,
१६३--आत्मसम्बन्धसूत्र ४९
१६४--कर्म्म का फल के साथ सम्बन्ध ,,
१६५–उपनिषत् की परव्याप्तियाँ ,,
१६६–उपनिषत् से युक्त सफलकर्म्म ,,

(च)–उपनिषत् में उपनिषत्
५०–से ७२ पर्य्यप्त

१६७–मन्त्रब्राह्मणात्मक निगमशास्त्र ५०
१६८–उपनिषत्, और वेदान्त ,,
१६९–'सर्वे वेदान्ताः' ,,
१७०–लोकव्यवहार ,,
१७१–ज्ञानकाण्ड, और उपनिषत् ,,
१७२–वेद का अन्तिम भाग ,,
१७३–सनातन व्यवहार ,,
१७४–विज्ञानदृष्टि पर आक्षेप ,,
१७५–समाधानोपक्रम ,,
१७६–अनुज्ञाधारा, और विधि ५१
१७७–प्रधानकर्म्मों के स्वरूपसम्पादक ,,
१७८–अनारभ्याधीता श्रुति ,,
१७९–अनारभ्याधीत आदेश ५२
१८०–सामान्यविधियाँ ५३
१८१–विधि के तीन पर्व ,,

१८२-उपनिषदों की विभिन्नता ५३
१८३-क्रत्वर्थकर्म्मों की उपनिषदें, और ब्राह्मणग्रन्थ ,,
१८४-अपांप्रणयनकर्म्म ५४
१८५-व्रतपति अग्नि की व्रतसम्पत् ,,
१८६-अपउपस्पर्शलक्षण व्रतोपायन ५५
१८७-काम, तप, श्रम, के ऋजुभाव ५६
१८८-महात्मा-दुरात्मा ,,
१८९-सत्यभाव, अनृतभाव ,,
१९०-अमृतरूप वाङ् मूल ५७
१९१-वाक् का पुष्प, फल ,,
१९२-'तेन पूतिरन्तरतः' ,,
१९३-मेध्य, पवित्रभाव ,,
१९४-व्रतोपायन की उपनिषत् ५८
१९५-क्रत्वर्थकर्म्म, और उपनिषदों का निदर्शन ५९
१९६-पुरुषार्थकर्म्मों की उपनिषदें ६०
१९७-वरुणप्रघासेष्टि ,,
१९८-प्रघासेष्टि की उपनिषत् ६१
१९९-अनारम्याधीत कर्म्म, एवं उनकी उपनिषदें ६२
२००-एकधनावरोध, देवस्मर ,,
२०१-यज्ञविरिष्टसन्धान ६३
२०२-सामान्यकर्म्म ६३
२०३-कर्म्मोपपत्तिजिज्ञासा ६४
२०४-कर्म्मोपनिषत् ,,
२०५-आक्षेपसमाधान ६५
२०६-'सर्वस्यै वाच उपनिषत्' ,,
२०७-हमारी भ्रान्ति ६६
२०८-गीतोपनिषत् ,,
२०९-उपनिषत्सु ,,
२१०-स्मृति और उपनिषत् ,,
२११-'वागेवोपनिषत्' ६७
२१२-अथादेशा उपनिषदाम् ,,
२१३-वेदस्योनिषत् 'सत्यम्' ६८
२१४-सत्यस्योनिषत् 'दमः' ,,
२१५-दानस्योपनिषत् 'तपः' ,,
२१६-दमस्योपनिषत् 'दानम्' ,,
२१७-तपसोपनिषत् 'त्यागः' ,,
२१८-त्यागस्योपनिषत् 'सुखम्' ,,
२१९-सुखस्योपनिषत् 'स्वर्गः' ,,
२२०-स्वर्गस्योनिषत् 'शमः' ,,
२२१-जीवन की कृतकृत्यता ,,

इत्युपनिषच्छब्दार्थमीमांसा

—*—

[४]-क्या उपनिषत् वेद है ?

(क)-प्रस्तावना-१ से ३ पर्य्यन्त

१-सनातनधर्म्मी, और उनका विश्वास १
२-विश्वास का विरोध ,,
३-सनातनधर्म्मी जगत् का क्षोभ ,,
४-सनातनधर्म्मियों से नम्र निवेदन ,,
५-भावुक भारतीय विद्वम्मन्य २
६-हमारी जटिलता ,,
७-निर्भ्रान्त वेदशास्त्र ,,
८-भारतवर्ष के आस्तिक २
९-मनोविज्ञानसिद्धान्त ३
१०-विचारधारा से क्षोभ ,,
११-श्रद्धालुओं की श्रद्धा ,,
१२-नास्तिकोपाधिप्रदान ,,
१३-हमारा व्याज से धर्म्मचारण ,,
१४-कल्पित कथाओं का समावेश ,,
१५-भक्तमण्डली, और उसका अभिनिवेश ,,
१६-कर्त्तव्यविमुक्ति का कल्पित उपाय ,,
१७-लोकवृत्तरक्षा, और मौनव्रत ,,

१८--अन्धश्रद्धात्मक लोकवृत्त ४
१९--हमारा प्रश्न ,,
२०--प्रकृति का प्रबल अनुरोध ,,
२१--'मानात् सत्यं विशिष्यते' ,,
२२--उपास्य सत्यतत्त्व ,,
२३--शास्त्रों का निश्चित सिद्धान्त ,,
२४--मिथ्याश्रद्धा, और समाजविनष्टि ,,
२५--विचारपरामर्श, और श्रद्धानुगमन ,,
२६--श्रद्धालु समाज का वर्गीकरण ,,
२७--यथार्थग्राही श्रद्धालु ,,
२८--शास्त्रग्राही श्रद्धालु ५
२९--कोमलश्रद्ध गतानुगतिक ,,
३०--सत्यासत्य का परीक्षा के द्वारा निर्णय ६
३१--प्रमाणवाद, और आत्मतुष्टि ,,
३२--अशास्त्रीय-कल्पित श्रद्धा ,,
३३--वितण्डावाद का आश्रय ,,
३४--'शेषं कोपेन पूरयेत्' ,,
३५--'गतानुगतिको लोकः' ७
३६--'न बुद्धिभेदं जनयेत्' ,,
३७--समाजविरोध का भय ,,
३८--लोकसंग्रहरक्षा, और मिथ्याभाषण ,,
३९--ईश्वराज्ञा का दुरुपयोग ,,
४०--हमारी विडम्बना ,,
४१--सत्यपक्षपाती जगदीश्वर ८
४२--आज्ञा का मौलिक रहस्य ,,
४३--अधिकारीभेद से कर्म्मभेद ,,
४४--उपासना के विविध भेद ,,
४५--अधिकारसिद्ध-कर्म्मों की स्तुति ,,
४६--शास्त्रसिद्धमार्ग ,,
४७--हमारी सम्प्रदाएँ, और शास्त्रनिष्ठा ,,
४८--वर्णाश्रमविभाग ९
४९--वर्णों का समन्वय ,,
५०--अधिकृत-कर्म्मानन्यता ,,
५१--उत्तम, मध्यम, प्रथम-श्रेणि के कर्म्म ,,
५२--धर्म्म-विधर्म्म का भेद १०
५३--बुद्धिभेद का तात्पर्य्य ,,
५४--मिथ्याश्रद्धा का विरोध ,,
५५--प्रबलविप्रतिपत्ति ,,
५६--गुणदोषमय पदार्थ ,,
५८--दोषदृष्टि, और निन्दा ,,
५९--परीक्षाविधि, और अश्रद्धा ११
६०--परीक्षा के असत्परिणाम ,,
६१--शास्त्रीयदृष्टि और सामाजिकदृष्टि ,,
६२--आवश्यक समाजरक्षा ,,
६३--'महाजनो येन गतः स पन्थाः' ,,
६४--आचार्य्यपरम्परा का सनातनत्व १२
६५--आचार्य्यों की गुणदोषमीमांसा ,,
६६--लोकवृत्त की रक्षा, और मौनव्रत ,,
६७--गुणदोषमीमांसा, और श्रद्धाविनष्टि ,,
६८--दोषद्वारों का अपिधान ,,
६९--परीक्षा से तटस्थता ,,
७०--समालोचना, और वर्त्तमानयुग ,,
७१--दोषदर्शी समालोचक १३
७२--अर्द्धदग्ध समालोचक ,,
७३--छिद्रान्वेषण की जघन्यता ,,
७४--जनता की श्रद्धा का समादर ,,
७५--श्रद्धा का सनातनलक्षण ,,
७६--श्रद्धेय, और श्रद्धालु ,,
७७--श्रद्धा के विविध फल ,,
७८--श्रद्धा से हिन्दुत्व की रक्षा १४
७९--निर्दोष वेदशास्त्र ,,
८०--गुणदोषप्रवृत्ति, और अश्रद्धा ,,
८१--प्रश्नमीमांसा की अनावश्यकता ,,
८२--वेदश्रद्धा का अभिनन्दन ,,
८३--वेदशास्त्र का सर्वोत्कर्ष ,,
८४--वैदिकसाहित्य, और परीक्षादृष्टि ,,
८५--परीक्षा, और अभयपद ,,
८६--शास्त्र के सकारण आदेश १५

८७–भगवान् राम की सम्मति १५
८८–भगवान् व्यास की सम्मति ,,
८९–लोकश्रद्धा, और प्रामाणिकता ,,
९०–वेद की अलौकिकता ,,
९१–लोकोत्तरा-तत्त्वविभूतियाँ १६
९२–गहनतम विज्ञानकोश ,,
९३–अपौरुषेयता के कारण ,,
९४–अलौकिक विज्ञानभाव ,,
९५–महापुरुषता के परिचायक विभूतिगुण ,,
९६–हमारी युक्ति की निर्मूलता १७
९७–परमवेदशास्त्र ,,
९८–श्रद्धेय की मीमांसा ,,
९९–परीक्षाभय, और मिथ्याश्रद्धा ,,
१००–परीक्षा, और सत्यश्रद्धा ,,
१०१–कल्पित श्रद्धा का अनुपयोग ,,
१०२–व्यक्तिगत विश्वास, और धर्म्मरक्षा ,,
१०३-जनसाधारण का अविश्वास १८
१०४–गुणदोष की मान्यता ,,
१०५-सत्यता की दृढ़ता, और परीक्षा ,,
१०६-परीक्षा, और माता का टीका ,,
१०७–परीक्षा, और शवदाहप्रक्रिया ,,
१०८–परीक्षा, और आविष्कार १९
१०९-परीक्षा, और ग्रहणविज्ञान ,,
११०–परीक्षा, और यज्ञविद्या ,,
१११-परीक्षा, और सत्यासत्यनिर्णय ,,
११२--सात्त्विकी श्रद्धा ,,
११३--राजसी श्रद्धा ,,
११४--तामसी श्रद्धा ,,
११५--कारणविशेष का अपरिज्ञान, और तामसी श्रद्धा ,,
११६--गङ्गाश्रद्धा में विप्रतिपत्ति २०
११७--नास्तिकों का तर्कजाल ,,
११८--हमारी अविश्वासवृद्धि ,,
११९–ऋषिवाणी, और कुतर्क २१
१२०--विषम वातावरण, और नास्तिक २१
१२१--रहस्यज्ञान की आवश्यकता ,,
१२२--स्वाभाविकी जिज्ञासा ,,
१२३--कोमलश्रद्धों की असद्भावना ,,
१२४--नास्तिकता का मूलकारण २२
१२५--घातकभावानुगता--अन्धश्रद्धा ,,
१२६--तामसी श्रद्धा का दूसरा रूप ,,
१२७--अज्ञानमूला श्रद्धा ,,
१२८--विपरीतज्ञानाभिनिवेश ,,
१२९--गयाश्राद्ध, और प्रेतात्मा ,,
१३०--बाह्य-आभ्यन्तर-वायु २३
१३१--वातवायु, और कणाद ,,
१३२–चेष्टाकर्म्म, और प्राणवायु ,,
१३३–तामसीश्रद्धा, और अर्थ का अनर्थ ,,
१३४--वायुप्रकरण, और ईश्वर २४
१३५-तामसीश्रद्धा का अन्यविवर्त्त ,,
१३६--अपौरुषेयता के अर्थ में भ्रान्ति ,,
१३७--आक्षेप समाधान ,,
१३८–लोकसंग्रह, और उसका स्वरूप ,,
१३९--असत्-मण्डलियाँ ,,
१४०--धर्म्मवृषभ का संत्रास ,,
१४१--अन्धश्रद्धा से सर्वनाश ,,
१४२--विज्ञानदृष्टि के द्वारा परीक्षण २६
१४३--सात्विकी श्रद्धा का अनुगमन ,,

इति--प्रस्तावना

---*---

(ख)--विषयप्रवेश–(३३ से ३८ पर्य्यन्त)

१४४--परोक्षप्रियदेवता २७
१४५--पौरुषेय, अपौरुषेयशास्त्रपरिगणना। ,,
१४६--अपौरुषेयता, और अतिप्रश्न ,,
१४७--प्रश्नसापेक्ष अतिप्रश्न ,,
१४८--विचारप्रवृत्ति की पद्धति २८
१४९--हमारा विकृत बौद्धजगत् ,,
१५०--वर्त्तमान युग के असदुत्तर ,,

१५१--प्रकृति का निरर्थक उद्‌घोष २८
१५२--वेदसम्बन्ध में उद्‌गार २९
१५३--सुविज्ञेयभाव की दुर्विज्ञेयता ,,
१५४--यथार्थग्राही, और विज्ञानदृष्टि ,,
१५५--शास्त्रग्राही, और अन्तर्दृष्टि ,,
१५६--गतानुगतिक, और बाह्यदृष्टि ,,
१५७--अप्रामाणिकी बाह्यदृष्टि ३०
१५८--बाह्यदृष्टि के अपवाद ,,
१५९--सत्या अन्तर्दृष्टि ,,
१६०--बाह्यदृष्टि, और और अल्पज्ञता ३१
१६१--अन्तर्दृष्टि, और अनन्तता ,,
१६२--निरर्थक आक्षेप ,,
१६३--आत्मसत्य के व्याप्ति-स्थान ,,
१६४--निर्भ्रान्त अपौरुषेयत्व सिद्धान्त ३२
१६५--अपौरुपेयत्व, और अतीन्द्रियभाव ३२
१६६--विज्ञानदृष्टि, और श्रुति ,,
१६७--अन्तर्दृष्टि, और स्मृति ,,
१६८--बहिर्दृष्टि, और लोकवृत्त ,,
१६९--'इदमित्थमेव' ,,
१७०--भातिभाव, और दर्शन ,,
१७१--सत्ताभाव, और विज्ञान ,,
१७२--विज्ञान, और सत्यनिर्णय ,,
१७३--दर्शन, और मतवाद ,,
१७४--भारतीय षड्दर्शनवाद ३३
१७५--शास्त्रों के विसंवाद ,,
१७६--परस्पर विरोध, और दर्शन ,,
१७७--'हर निरपवाद: परिकर:'
१७८--दार्शनिकदृष्टि, और अपौरुषेय-पौरुषेय-मीमांसा ,,

इति-विषयप्रवेश:

---*---

ग-वेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय?, इस सम्वन्ध में दार्शनिकों के विभन्न विचार

पृष्ठसं० १ से ८८ पर्य्यन्त

---*---

अथ-त्रयोदश-(१३)-अवान्तरमत-युक्तं पूर्वोत्तरमीमांसादर्शनाभिमतं-मतप्रदर्शनम्

१

* * *

मीमांसानुगत-दृष्टिकोण

१-विभिन्न-मत-दिग्‌दर्शनानुगत-प्रमुख लक्ष्य ३
२-मीमांसानुगत-दृष्टिकोण ४
३-पूर्वोत्त मीमांसाद्वयी ४
४-पूर्वमीमांसानुगता षट्सूत्री ,,
५-सूत्रतात्पर्य्यार्थ-समन्वय-प्रयास ,,
६-समाख्याभाव, और सूत्रार्थसमन्वय ,,
७-वेद की अपौरुषेयता पर आक्षेप ,,
८-काठकं-कापिलं-आदि मूलक आक्षेपों का निराकरण ५
९-अनित्यता का मूलोच्छेद ,,
१०-शब्दार्थ का औत्पत्तिक-सन्बन्ध ,,
११-नित्यसम्बन्धानुगता-अपौरुषेयता ,,
१२-मीमांसा-सम्मत-दृष्टिकोण का उपराम ,,

* * *

(१)-'नित्यसिद्ध, अतएव कूटस्थ अपौरुषेय-वेद-ईश्वर से अभिन्न है'-नामक-प्रथममीमांसामत

---*---

१३-विज्ञानमय-वेदशास्त्र ,,
१४-ब्रह्म का स्वरूप-संस्मरण ,,

१५—त्रयं ब्रह्म, और त्रयो वेदाः ५
१६—वेद, और ब्रह्म की अभिन्नता ”
१७—सूर्य्यात्मक ब्रह्म, और वेदात्मिका रश्मियाँ ”
१८—उक्थरूप ब्रह्म, और अर्कात्मक वेद ”
१९—मूलात्मक ब्रह्म, और तूलात्मक वेद ”
२०—अङ्गी-रूप ब्रह्म, और अङ्गात्मक वेद ”
२१—अवयवीरूप ब्रह्म, और अवयवात्मक वेद ”
२२—'तस्य वाचकः प्रणवः' का संस्मरण ६
२३—प्रणवात्मक ओङ्कार का संस्मरण ”
२४—'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' का संस्मरण ”
२५—'वेदशब्द' का समन्वय ”
२६—ईश्वर से अभिन्न वेद का समन्वय ”
२७—प्रथममतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ”

मीमांसानुगत-प्रथम-मत-उपरत

१

* * *

(२)- "नित्यसिद्ध, अतएव कूटस्थ-अपौरुषेय-वेद ईश्वर के तुल्य है"—नामक-द्वितीय-मीमांसा-मत

—*—

२८—ईश्वर के समकक्ष वेद ८
२९—शब्दब्रह्मधारा, और परब्रह्मधारा ”
३०—शब्दब्रह्मानुगता स्तोर-स्वर-वर्ण-त्रयी ९
३१-परब्रह्मानुगता-अव्यय-अक्षर-क्षर-त्रयी ”
३२—परब्रह्म के ब्रह्मा-विष्णु-इन्द्र-अग्नि-सोम-रूप पञ्चाक्षरविवर्त्त ”
३३—शब्दब्रह्म के अ-इ-उ-ऋ-लृ-रूप पञ्च-स्वर-विवर्त्त ”
३४-परब्रह्म का निर्विकार-अखण्ड-विवर्त्त ”
३५—शब्दब्रह्म का निर्विकार-अखण्ड-विवर्त्त ”
३६—उभय ब्रह्मानुगत-पारिभाषिक-समतुलन ९
३७—शब्द-पर-ब्रह्मानुगत अभेदसम्बन्ध ”
३८—अन्तर्दृष्टिनिबन्धा नित्यता ”
३९—शब्दार्थरूप परब्रह्म की प्रमेयरूपता का पारिभाषिक-समन्वय ”
४० प्रमाणानुगत प्रमेय का संस्मरण ”
४१—प्रमेय का संसाधक प्रमाणतत्त्व ”
४२—प्रमाणात्मक वेद, और प्रमेय ईश्वर ”
४३—वेद का ईश्वर से समतुलन ”
४४—ईश्वरसमकक्ष अपौरुषेय-वेद ”
४५—द्वितीयमतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ”

मीमांसानुगत-द्वितीयमत उपरत

२

* * *

(३)—"नित्यसिद्ध कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय यह वेद ईश्वर का निःश्वास है" नामक तृतीय-मीमांसा-मत

—*—

४६—अध्यात्मसंस्थानुगत श्वास-प्रश्वास १०
४७—वेद, और ईश्वर का सम्बन्ध ”
४८—श्वास-प्रश्वासानुगता-जीवसत्ता ”
४९—वेदात्मक-श्वास-प्रश्वास ”
५०—वेदात्मक-ईश्वर ”
५१-ईश्वर-निःश्वासात्मक-वेदतत्त्व ”
५२—निःश्वासरूप वेद की अपौरुषेयता ”
५३—तृतीय-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ११

मीमांसानुगत-तृतीयमत उपरत

३

* * *

(४)–'नित्यासिद्ध-कूटस्थ, अतएव अपौरुषेयवेद को ईश्वरानुग्रह से ब्रह्माने प्राप्त किया है" नामक चतुर्थ-मीमांसा-मत

५४–ईश्वरानुग्रह से अनुग्रहीत आदिदेव ११
५५-सर्वसृष्टिप्रवर्त्तक-हिरण्यगर्भप्रजापति ,,
५६–ब्रह्मा के हृदय में वेद का आविर्भाव ,,
५७–ब्रह्मा के मुख से वेदों का विनिर्गमन ,,
५८–ब्रह्मा की तटस्थता, और वेद का स्वतः आविर्भाव ,,
५९–सर्वज्ञान, और तदनुगत प्राथम्य ,,
६०–प्रयत्न का अभाव ,,
६१–बुद्ध्यनुगता-योग्यता, और कर्म्मप्रवृत्ति १२
६२–बुद्ध्यनुगत-कर्म्म ,,
६३–ईश्वरीय-व्यापारात्मक-ज्ञानप्रवाह ,,
६४–वेदज्ञान के सम्बन्ध में ब्रह्मा का पारतन्त्र्य ,,
६५–ब्रह्मा के द्वारा वेद की अभिव्यक्ति, न तु-उत्पत्ति ,,
६६–ज्ञानराशिरूप वेद का अपौरुषेयत्त्व ,,
६७–चतुर्थ-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ,,

मीमांसानुगत-चतुर्थ–मत उपरत

४

* * *

(५)–'नित्यसिद्ध–कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद को ईश्वरानुग्रह से महर्षियोंनें प्राप्त किया है'–नामक–पञ्चम–मीमांसा–मत

६८–ऋषियों की चिरकालानुगता तपश्चर्य्या १३
६९–तपोऽनुगत विशुद्धीकरण ,,
७०–ईश्वरानुग्रह, और ऋषियों के निर्म्मलान्तःकरण में वेद का आविर्भाव १३
७१–ईश्वरीय-ज्ञानरूप-वेदों का आनन्त्य ,,
७२–'अनन्ता वै वेदाः' का संस्मरण ,,
७३–उपलब्ध-वेदों की सापेक्षता ,,
७४–सापेक्षभावानुबन्धी-समन्वय ,,
७५–ऊर्ध्वरेता महर्षियों का अन्तःकरण ,,
७६–वेदमन्त्रद्रष्टा महर्षिगण ,,
७७–पञ्चम-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ,,

मीमांसानुगत–पञ्चम–मत–उपरत

५

* * * *

(६)–'नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय-वेद को अजपृष्णि–प्रमुख-ऋषियोंनें प्राप्त किया'–नामक षष्ठ-मीमांसा-मत

७८–अजपृष्णि नामक ऋषियों की महती तपश्चर्य्या ,,
७९–तपश्चर्य्यानुगत ईश्वरानुग्रह ,,
८०–ईश्वरानुग्रहरूप वेदाविर्भाव १४
८१–पारिभाषिकी–ऋषित्रयी ,,
८२–'आकुष्ट-भावाः' ,,
८४–'सिकता-निवावरी' ,,
८४–'पृष्णयोऽजाः' ,,
८५–अजपृष्णि-ऋषि की प्रमुखता ,,
८६–षष्ठमतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ,,

मीमांसानुगत–षष्ठ–मत–उपरत

६

* * * *

(७)--'नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद को अथर्वाङ्गिरा-ऋषिने ईश्वरानुग्रह से प्राप्त-किया' नामक-सप्तम-मीमांसामत

*

८७–ऋषिसम्प्रदायानुगत-'अथर्वाङ्गिरा' नामक सुप्रसिद्ध ऋषि का संस्मरण १४
८८–अङ्गिराप्राण के परीक्षक अङ्गिरा-महर्षि ,,
८९–ब्रह्मपर्षदध्यक्ष-'ब्रह्मा' रूप अङ्गिरा-महर्षि ,,
९०–आर्त्विज्यानुगत श्रेष्ठता, और तदनुबन्धिनी-'ब्रह्मा'-उपाधि ,,
९१–अङ्गिरा-महर्षि के वंशजों का संस्मरण ,,
९२–अङ्गिरामहर्षि के अन्तःकरण में नित्यवेद का आविर्भाव ,,
९३–अङ्गिरा के ज्येष्ठपुत्र अथर्वा ,,
९४–अथर्वा में त्रयीविद्या का संस्थापन ,,
९५–अथर्वाङ्गिरा के द्वारा वेद की अभिव्यक्ति का समन्वय ,,
९६–अथर्वाङ्गिरा-महर्षियों का वेद प्रवर्त्तकत्व-समन्वय ,,
९७–सप्तम-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ १५

मीमांसानुगत-सप्तम-मत-उपरत

७

* * * *

(८)--''नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय-वेद ईश्वर के वाक्य हैं, ईश्वर ही इन का सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक है''--नामक-अष्टम-मीमांसा--मत

*

९८–नित्यसिद्ध, वेद १७
९९–वेदों की ईश्वरीय-वाक्यरूपता ,,
१००–वेदसम्प्रदाय-प्रवर्त्तक ईश्वर ,,
१०१–वेदवाणी, और ईश्वर १७
१०२–वेदवाणी के द्वारा विश्व का निर्म्माण ,,
१०३–शिवादि ऋषि-पर्य्यन्त वेदज्ञातृमण्डल ,,
१०४–अष्टम-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

मीमांसानुगत-अष्टम-मत-उपरत

८

* * *

(९)-''नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय यह वेद चतुर्मुख-ब्रह्मा का वाक्य है''--नामक-नवम-मीमांसा-मत

*

१०५–नित्यसिद्धवेद, और ब्रह्मवाक्य १८
१०६–सृष्टिनिर्म्माता-स्वयम्भू ब्रह्मा ,,
१०७–स्वयम्भू ब्रह्मा के मुख से वेदवाक् का विनिर्गमन ,,
१०८–नित्या वेदवाक्, और ब्रह्मा ,,
१०९–वेदवाक्, और सृष्टिनिर्म्माण ,,
११०–वेदों के आदिसम्प्रदायप्रवर्त्तक स्वयम्भू-ब्रह्मा ,,
१११–स्वयम्भू के प्राणमुख से वेदों का आविर्भाव ,,
११२–वेदों के संस्मर्त्ता-ब्रह्मा, और वेदों का अपौरुषेयत्त्व ,,
११३-नवम-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

मीमांसानुगत-नवम-मत-उपरत

९

* * *

(१०)--''नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय-वेद भिन्न भिन्न ऋषियों का वाक्य है''-नामक दशम-मीमांसा-मत

*

११४–विभिन्न ऋषि-वर्ग १९
११५–वेद के सम्प्रदायप्रवर्त्तक-आप्त-महर्षि ,,

११६–ऋषियों की तपःपूता-आर्षदृष्टि १६
११७–आर्षदृष्टि के द्वारा वेद का दर्शन "
११८–ऋषिकल्पना से असंस्पृष्ट वेदशास्त्र "
११६–ईश्वरदत्ता-विभूति, और वेद "
१२०–ऋषियों के हृदयाकाश में वेद का आविर्भाव "
१२१–दिव्यज्ञानप्रकाशात्मक-वेद "
१२२–वेद का स्वतः आविर्भाव "
१२३–वेदप्रचारक महर्षिगण "
१२४–वेदनिर्माण से असंस्पृष्ट-ऋषिगण "
१२५–दशममतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ "

मीमांसानुगत-दशम-मत-उपरत

१०

* * *

(१०)–"नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद के तात्पर्य्यानुसार-ईश्वर ने विश्व का निर्म्माण-किया है"-नामक ग्यारवाँ मीमांसामत

———*———

१२६–बेदतात्पर्य्याधार पर ईश्वर के द्वारा विश्व-सर्ग की प्रवृत्ति २०
१२७–पदार्थानुगत उत्पत्ति-क्रमादि "
१२८–पूर्वकल्प का उत्तरकल्प में संस्मरण "
१२६–वेदसृष्टि का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय "
१३०–ईश्वरीय वेदज्ञान का कल्पानुपात से आविर्भाव "
१३१–ईश्वरीय-ज्ञानात्मक वेद "
१३२–ईश्वरीय-प्रत्यक्ष-ज्ञान, और वेद "
१३३–प्रत्यक्षज्ञानरूप वेद, और तद्द्वारा विश्व-स्वरूप की अभिव्यक्ति "
१३४–एकादश-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ "

मीमांसनुगत ११ वाँ मत उपरत

११

* * *

(१२)–नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेदशब्दों से ईश्वर ने विश्व का निर्म्माण किया है"-नामक १२वाँ मीमांसामत

१२

——*——

१३५–वेदशब्द, और तद्द्वारा ईश्वरप्रजापति से विश्व का निर्म्माण २१
१३६–वेदशब्दों से भूत-भौतिक-प्रपञ्च की अभिव्यक्ति "
१३७–शब्दों का सन्निवेश-तारतम्य, और विश्वानुगत नाम-रूपों की अभिव्यक्ति "
१३८–विश्व का वाङ्मयत्व "
१३६–पञ्चमहाभूतानुगता शब्दोलब्धि "
१४०–शब्दोपलब्धिमूला वेदानुगता व्यापकता "
१४१–शब्द की सर्वव्यापकता का संस्मरण "
१४२–द्वादश-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ "

मीमांसानुगत १२ वाँ मत उपरत

१२

* * *

(१३) "नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद के पूर्व कल्प का स्मरण करके सृष्टि के आदि में इस वेद को ईश्वर ने प्रकट किया है"-नामक १३वाँ मीमांसा–मत

१३

——*——

१४३–निद्रानिमग्न मानव, और पूर्वदिनके कर्म्मों का उपराम १२३
१४४–पूर्वकल्प-स्थानीय-पूर्वदिन "

१४५–उत्तरकल्प-स्थानीय-उत्तरदिन २३
१४६–निद्राभङ्गानन्तर उत्तरकल्प में पुनः पूर्वकल्प का आविर्भाव ,,
१४७–सुषुप्तिकालानुगता रात्रि ,,
१४८–रात्रिनिबन्धन पूर्वकल्प ,,
१४९–जाग्रदवस्थानुगत अहः ,,
१५०–अहरनुगत-उत्तरकल्प ,,
१५१–ईश्वरीय-सृष्टि-लय-धारा-क्रमका कल्पानुगत संस्मरण ,,
१५२–सृष्टिकालोपलक्षित-अहरागम ,,
१५३–रात्र्यागम, और वेदविलयन ,,
१५४–अहरागम, और वेदाविर्भाव ,,
१५५–वेदों के स्मर्त्ता ईश्वरप्रजापति ,,
१५६–त्रयोदश-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ २४

मीमांसानुत १३वाँ–मत–उपरत

* * *

१५७–पूर्वोत्तर-मीमांसा-सम्मत-तेरह(१३)प्रकार के अबान्तर-मतों का संकलनात्मक-समन्वय २५

इति–त्रयोदश-(१३)-आवान्तर-मतयुक्तंपूर्वोत्तरमीमांसानुगतं–मतप्रदर्शनम्

१

अथ-सप्त–(७)–अवान्तरमत-युक्तं-नव्यन्यायाभिमतं–मतप्रदर्शनम्

२

नव्यन्यायानुगत–दृष्टिकोण–

१५८–वेद की नित्यता के सम्बन्ध में नव्यन्याय का दृष्टिकोण ३१
१५९–वेद का ऋषिद्रष्टृत्व, न तु कर्तृत्व ३१
१६०–वेद की आपत्तिमूला अपौरुषेयता ,,
१६१–परोक्षकर्त्ता का अनुगमन ,,
१६२–आनुमानिक कर्त्ता ईश्वर ,,
१६३–वेदकार्य्य का प्रवर्त्तक-ईश्वर ,,
१६४–वेद की पारिभाषिकी-पौरुषेयता ,,
१६५–कुसुमाञ्जलि, और प्रामाण्यवाद ,,
१६६–तत्त्वचिन्तामणि, और प्रामाण्यवाद ,,
१६७–नव्यन्यायानुगत-दृष्टिकोण का उपराम ,,

(१)–"प्रतिकल्प की सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर नवीन ही वेद बनाता है"–नामक–प्रथम–नव्यन्याय-मत

१६८–वेदतत्त्व की ईश्वररूप से भिन्नता ३२
१६९–नित्य-अनादि, एवं शरीरानाश्रित ईश्वर ,,
१७०–शब्दराशिरूप वेद की अनित्यता, सादिता, एवं शरीरव्यापाराश्रितता ,,
१७१–सूर्य्य-चन्द्रादि-विश्वपदार्थों का-युगानुगत-कल्पानुगत-आविर्भाव-तिरोभाव ,,
१७२–वेदों का विश्वपदार्थवत् प्रतिकल्पादि के अन्त में आविर्भाव-तिरोभाव ,,
१७३–प्रथम-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ३३

नव्यन्यायानुगत-प्रथम-मत-उपरत

१

* * *

(२)–"नित्यसिद्ध-वाक्तत्त्व से ईश्वर वेद, और विश्व को उत्पन्न करता है"–नामक-द्वितीय-नव्यन्याय-मत

१७४–वाक्तत्त्वरूप साधन से ईश्वर के द्वारा वेद, और विश्व का निर्म्माण ३४
१७५–कणाद-सिद्धान्त का संस्मरण ,,
१७६–वाक् की नित्यता का संस्मरण ,,

१७७–नित्यपरमाणुओं से अनित्य सूर्य्य-आदि का निर्म्माण ३४
१७८–नित्यावाक् से अनित्यवेद का आविर्भाव ,,
१७९–वेदों का वाङ्मयत्त्व ,,
१८०–द्वितीय-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ,,

नव्यन्यायानुग -द्वितीय-मत-उपरत

२

* * *

३)--"वेद, एवं विश्व को ईश्वर ने अपनी इच्छानुसार बनाया है"--नामक-तृतीय-नव्यन्याय-मत

——*——

१८१–ईश्वर की इच्छा, और वेद, तथा विश्व का निर्म्माण ३५
१८२–नित्य-परमाणु, एवं नित्या-वाक् की अपेक्षा से असंस्पृष्टा-ईश्वरेच्छा ,,
१८३–ईश्वरेच्छा का सर्वतन्त्र-स्वातन्त्र्य ,,
१८४–इच्छानुगत निर्म्माण, और ईश्वर ,,
१८५–अपौरुषेय वेद के शब्दों के द्वारा पौरुषेय-ग्रन्थों का निर्म्माण ,,
१८६–सूर्य्य'-समुद्रात्मक-उदाहरण ,,
१८७-वेदनिर्म्माण-समन्वय ,,
१८८–तृतीय-मतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ,,

नव्यन्यायानुगत-तृतीय-मत-उपरत

३

* * *

(४)-"ईश्वरने वेद का निर्म्माण कर ब्रह्मा, एवं महर्षियों के द्वारा उसे लोक में प्रवृत्त किया"–नामक-चतुर्थ- नव्य–न्याय-मत

——*——

१८९–विश्व, तथा वेदों का निर्म्माता ईश्वर, और उसकी आकारविहीनता ,,
१९०–निराकार-ईश्वर के द्वारा वेदोपदेश की अप्रवृत्ति ३५
१९१–शरीरधारी-उत्कृष्ट-सात्त्विक-जीव के माध्यम से ही वेदोपदेश की प्रवृत्ति ,,
१९२–शरीरधारी के द्वारा ही वेदप्रचार-प्रसार ,,
१९३–उत्कृष्ट-आधिकारिक-जीवों का नाम-संस्मरण ,,
१९४–ब्रह्मा-व्यास-महर्षि-आदि महामानव, और तद्द्वारा वेदोपदेश ,,
१९५- चतुर्थ-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ३६

नव्यन्यायानुगत-चतुर्थ-मत-उपरत

४

* * *

(५)--"ईश्वरने अपनी इच्छा से अग्नि-वायु-सूर्य्य-के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया है"-नामक-पञ्चम-नव्यन्यायमत

——*——

१९६–अग्निरूप-पार्थिवरस ३६
१९७–वायुरूप -आन्तरिक्ष्य रस ,,
१९८–आदित्यरूप-द्युलोकीय-रस ,,
१९९–तीन देवदेवता, और तीन लोक ,,
२००–अग्निरस से ऋग्वेद की उत्पत्ति ,,
२०१–वायुरस से यजुर्वेद की उत्पत्ति ,,
२०२–आदित्यरस से सामवेद की उत्पत्ति ,,
२०३–ईश्वरविभूतिरूपा-देवदेवता-त्रयी ,,
२०४–ईश्वर के वेदकर्तृत्त्व की अक्षुण्णता ,,
२०५–पञ्चम-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

नव्यन्यायानुगत-पञ्चम-मत-उपरत

५

* * *

(६)–"ईश्वर ने अपनी इच्छा से सूर्य्य के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया"–नामक षष्ठ-नव्यन्याय-मत

—*—

२०६–ज्ञान-क्रिया-अर्थ-तन्त्रत्रयी का संस्मरण ३८

२०७–तन्त्रत्रयी के सञ्चालक सूर्य्यदेव ,,

२०८–विष्वद्वृत्तात्मक-बृहतीछन्द ,,

२०९–बृहतीछन्द का केन्द्र, और सूर्य्य ,,

२१०–एकल-एव-स्थाता-सूर्य्य ,,

२११–सहस्रांशु-सूर्य्य के द्वारा ईश्वरेच्छा से वेद का आविर्भाव ,,

२१२–ईश्वरेच्छा के पूरक सूर्य्यनारायण ,,

२१३–षष्ठ-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

नव्यन्यायानुगत-षष्ठ-मत-उपरत

६

* * *

(७)–ईश्वरने अपनी इच्छा से यज्ञपुरुष के द्वारा वेदों को उत्पन्न किया"–नामक-सप्तम-नव्यन्याय-मत

—*—

२१४–वेद का प्रभव-स्थान-यज्ञ ,,

२१५–यज्ञ के द्वारा ही वेद की स्वरूपाभिव्यक्ति का समन्वय ,,

२१६–वेदसाक्षात्कर्ता महर्षियों के द्वारा संकलित-वेदशास्त्र ,,

२१७–आम्नाय-निबन्धन-शाखा-भेद ,,

२१८–वेदाम्नाय-प्रवर्त्तक-ऋषियों का संस्मरण ,,

२१९–सप्तम-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

नव्यन्यायानुगत-सप्तम-मत-उपरत

७

* * *

२२०–नव्यन्यायानुगत-सप्त (७)-अवान्तरमतों का संकलनात्मक-समन्वय ३९

इति-सप्त (७)-अवान्तर-मतयुक्तं नव्यन्यायानुगतं-मतप्रदर्शनम्

२

* * * * *

अथ-पञ्च (५)-अवान्तर-मतयुक्तं प्राचीनन्यायाभिमतं-मतप्रदर्शनम्

३

—*—

प्राचीनन्यायानुगत–दृष्टिकोण

२२१–प्राचीनन्यायानुगा वेददृष्टि का संस्मरण ४३

२२२–ऋषिकृत-वेदों की पौरुषेयता, और प्राचीन-न्याय ,,

२२३–वेदों की समादरणीया प्रवाहनित्यता ,,

२२४–लौकिक-प्रावाहिक-शब्द, और तान्निबन्धना उदाहरणविधि ,,

२२५–आप्तपुरुषों का वचनरूप वेदशास्त्र ,,

२२६–आप्तवचन की प्रामाणिकता ,,

२२७–न्यायदर्शन, और प्राचीनन्यायानुगत-दृष्टि-कोण ,,

२२८–वात्स्यायनभाष्य, और दृष्टिकोण ,,

२२९–वात्स्यायन-सूत्रों का समन्वय-प्रयास ४४

२३०–प्रमा की साधनभूता-प्रमाणचतुष्टयी का संस्मरण ,,

२३१–सर्वप्रमाणमूर्द्धन्य-शब्दप्रमाण का स्वरूप-समन्वय ,,

२३२–आप्तपुरुषों की विषयाप्तता ,,

२३३–आप्तपुरुष, और 'तत्र भवान्' ,,

२३४–दृष्ट-अदृष्ट-अर्थ–भेद से शब्दप्रमाण का द्वैविध्य ,,

२३५–अदृष्टार्थनिबन्धन शब्दप्रमाण, और वेद की प्रामाणिकता ४४
२३६–शास्त्रप्रमाण की अनिवार्य्या-शरणी-करणीयता का संस्मरण ,,
२३७–लौकिक क्षेत्रों के आप्तपुरुष, और तद्वचनों की प्रमाणिता ,,
२३८–अलौकिक-क्षेत्रों के आप्तपुरुष, और तद्वचनों की प्रामाणिकता ,,
२३९–'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते' का पावन-संस्मरण ,,
२४०–शब्दराशिरूप-वेदशास्त्र ४५
२४१–आयुर्वेद–शास्त्र की प्रामाणिकता का समन्वय ,,
२४२-आप्तप्रामाण्यबुद्धि की अनन्या शरणानुगति ,,
२४३-वेदों का आप्तपुरुषों के द्वारा आविर्भाव ,,
२४४–'अनुज्ञाता-स्वयम्भुवा' का संस्मरण ,,
२४५–मन्वन्तरानुगत–वेदाविर्भाव ,,
२४६-वेदोद्धारक्रम का नैरन्तर्य्य ,,
२४७–वेद की प्रवाहनित्यता ,,
२४८–आयुर्वेद, और वेद के प्रवक्ताओं का समतुलन ४५
२४९–आप्तता की समानता ,,
२५०–वेद की प्रामाणिकता का समन्वय, और तन्निबन्धन-शब्दप्रमाण ,,
२५१–न्यायानुगता-शब्दनित्यता ,,
२५२(क)–प्राचीनन्यायानुगत-दृष्टिकोण का उपराम ,,

* * *

(१)--"ईश्वरावतार-ब्रह्मा ने वेद का निर्म्माण किया है"--नामक-प्रथम-प्राचीनन्याय-मत

——*——

२५२(ख)–ईश्वरावतार ब्रह्मा का संस्मरण ४६
२५३-ब्रह्मा के द्वारा ही सर्वप्रथम वेदोत्पत्ति ,,
२५४–सगुण-निर्गुण-रूपा ब्रह्मविवर्त्तद्वयी ४६
२५५- सगुण-साकार-ब्रह्मविवर्त्त ,,
२५६–निर्गुण-निराकार-ब्रह्मविवर्त्त ,,
२५७–धर्म्मोपहित-सगुणेश्वर-ब्रह्म ,,
२५८-धर्म्मविशिष्ट-सगुणेश्वर-ब्रह्म ,,
२५९–ईश्वर-जीव-शिपिविष्टरूपा-महिमात्रयी, और धर्म्मविशिष्ट-सगुणेश्वर ,,
२६०–सर्वज्ञ-हिरण्यगर्भ-विराट्-रूपा विवर्त्तत्रयी ,,
२६१–क्षेत्रज्ञात्मा-महानात्मा-भूतात्मा-रूपा विवर्त्तत्रयी ,,
२६२–असंज्ञ-अन्तःसंज्ञ-संसज्ञरूपा-जीवत्रयी ,,
२६३–आत्मविवर्त्तसमष्ट्यनुगत ईश्वरप्रपञ्च ,,
२६४–मध्यस्थ-हिरण्यगर्भ का संस्मरण ,,
२६५–ईश्वरावतारभूत-हिरण्यगर्भ के द्वारा वेदों का निर्म्माण ,,

प्राचीनन्यायानुगत-प्रथम-मत-उपरत

१

—*—

(२)--"ईश्वरावतार मत्स्यभगवान ने वेदों का निर्म्माण किया है"--नामक-द्वितीय प्राचीन-न्यायमत

——

२६६–ईश्वरावतार-भूत 'मत्स्य' भगवान् ,,
२६७–वेद के आदिप्रवर्त्तक मत्स्यावतार ,,
२६८–भूतावेशन्याय, और मत्स्यावतार ४७
२६९–द्वितीय-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राचीनन्यायानुगत-द्वितीय-मत-उपरत

२

—*—

(३)--"ईश्वरावतार--अग्नि, वायु--सूर्य्य--नामक देवताओंनें वेद का निम्मर्ाण किया है"—नामक-तृतीय-प्राचीन-न्यायमत

—*—

२७०–सुप्रसिद्धा वेदत्रयी का संस्मरण ४८
२७१–लोकत्रयी, और उसके अभिमानी देव-देवताओं का संस्मरण ,,
२७२–'अभिमानी-व्यपदेश' का पारिभाषिक-समन्वय ,,
२७३–शरीरधारी-चेतनजीव, और देवदेवता ,,
२७४–२८ इन्द्रियों से समन्वित देवदेवता ,,
२७५–सांख्यकारिका का संस्मरण ,,
२७६- भूतसर्ग-निबन्धन त्रिविध-महिमा-विवर्त्त ,,
२७७–चतुर्द्दश (१४) भूतसर्ग का नामस्मरण ,,
२७८–चन्द्रिका-निवासी चान्द्रदेवता ,,
२७९–ऐन्द्रसर्ग, और तदनुगत सार्वदैवत्य ,,
२८०–वर्गदेवताओं का समन्वय ,,
२८१–'ईश्वरावतार' का स्वरूप-समन्वय ,,
२८२–भूतात्मक-अग्नि-वायु-सूर्य्य ,,
२८३–देवात्मक-अग्नि-वायु-सूर्य्य ,,
२८४–देवत्रयी से वेदाविर्भाव ,,
२८५–तृतीय-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,
२८६–'सूर्य्य' नामक अभिमानी देवता का संस्मरण ,,

प्राचीनन्यायानुगत-तृतीय-मत-उपरत

३

* * *

(४)-'ईश्वरावतार-'सूर्य्य' नामक देवताने वेद का निम्मर्ाण किया है'–नामक–चतुर्थ प्राचीनन्याय–मत

—*—

२८७–वेदत्रयी में सूर्य्यदेव का आपेक्षिक श्रेष्ठत्त्व ५०
२८८–मध्यमस्थानीय-वायु ५०
२८९–भूस्थानीय-अग्नि ,,
२९०–देवद्वयी के आविर्भावक सूर्य्यनारायण ,,
२९१–सूर्य्यदेव के द्वारा ही देवत्रयी-निबन्धना वेदत्रयी का आविर्भाव ,,
२९२- चतुर्थ-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राचीनन्यायानुगत-चतुर्थ-मत-उपरत

४

* * *

(५ –"ईश्वरावतार-सर्वहुत-यज्ञपुरुषने वेदों का निम्मर्ाण-किया है"-नामक-पञ्चम-प्राचीन-न्यायमत

—*—

२९३–'यज्ञ' पदार्थ की आधिभौतिकता का स्वरूप-संस्मरण ५१
२९४–यज्ञ के अभिमानी-देवता ,,
२९५–यज्ञभगवान् विष्णुदेवता ,,
२९६–यज्ञ, और विष्णु का अभेद ,,
२९७–यजनीय-पूजार्ह-विष्णुदेवता की यज्ञरूपता ,,
२९८–यज्ञमूर्त्ति विष्णु के द्वारा ही वेदों का आविर्भाव ,,
२९९- पञ्चम-मतानुगामी-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राचीनन्यायानुगत-पञ्चम-मत-उपरत

५

* * *

इति–पञ्चम (५)-अवान्तरमतयुक्तं प्राचीनन्यायाभिमतं- मतप्रदर्शनम्

३

* * *

३००–प्राचीनन्यायाभिमत-पञ्चविध (५) अवान्तर मतों का संकलनात्मक-समन्वय ,,

अथ–सप्त [७]–अवान्तरमतयुक्तं प्राधानिकाभिमतं–मतप्रदर्शनम् [सांख्यदर्शनाभिमतं -मतप्रदर्शनम्]

४

—— * ——

३०१–क्रमानुगत-सांख्यमत ५७
३०२ (क)–'प्रधाना' प्रकृति का संस्मरण ,,
३०२ (ख)-प्रधाना' प्रकृति से अनुप्राणित प्राधानिक-दर्शन ,,
३०३–प्राकृत-पदार्थों का उत्पत्तिक्रम ,,
३०४–वेदों की प्रावाहिकता ,,
३०५–वेदों का उत्पत्ति-विनाशशालित्त्व ,,
३०६–प्रकृतिसिद्ध वेदों की नित्यसिद्धता का अपलाप ,,
३०७–वेदों की अपौरुषेयता का समन्वय ,,
३०८–प्राधानिक-सांख्य-सूत्रों का संस्मरण ,,
३०९–प्रजापति का महान् तप ,,
३१०–प्राजापत्य-तप से वेदाविर्भाव ,,
३११–वेदों की अनित्यता का दिग्दर्शन ,,
३१२–वेदों की पौरुषेयता, और अपौरुषेयता के सम्बन्ध में सूत्रकार ५८
३१३–सांख्य के द्वारा अभिमत ईश्वर ,,
३१४–विश्व से असंस्पृष्ट ईश्वरपुरुष ,,
३१५–'ईश्वरासिद्धेः' का तात्त्विक-समन्वय ,,
३१६–प्रवाहनित्य-प्राकृतिक वेद, और उन की अपौरुषेयता ,,
३१७–मुक्त-भावानुबन्धी पुरुषवर्ग ,,
३१८–अमुक्त-भावानुबन्धी-पुरुषवर्ग ,,
३१९–उभयविध पुरुषों में द्वारा वेदनिर्म्माण की कल्पना का विरोध ,,
३२०–अक्षुण्णा अपौरुषेयता ,,
३२१–अपौरुषेयता, और नित्यता से अनुप्राणित विवाद, और तन्निराकरण ५८
३२२-'कर्त्ता' की स्वीकृति, और उसका इन्द्रियातीतत्त्व ,,
३२३–'दृष्टबाधदोष' का उत्थान, और तन्निराकरण ,,
३२४-वादी का प्रश्नाक्षेप, और तन्निराकरण ,,
३२५–पौरुषेयत्त्व की लक्षणात्मिका मीमांसा ,,
३२६–पौरुषेय-लक्षण-स्वरूप-समन्वय ,,
३२७–वेदों की अप्रतिहता-अपौरुषेयता ,,
३२८–वेदों का प्राकृतित्त्व-समर्थन ,,
३२९ (क)- सांख्यदर्शनानुगत दृष्टिकोण का उपराम ,,

(१)–'प्रकृतिसिद्ध-अग्नि-वायु-सूर्य्य-इन तीनों भौतिक-पदार्थों से तीनों वेद अभिन्न हैं'-नामक-प्रथम-प्राधानिक-मत

—— * ——

३२९ (ख)–अग्नि-वायु-सूर्य्य-रूप भौतिक पदार्थ, और तद्द्वारा वेदोत्पत्ति, तथा नव्यन्यायमत ५९
३३०–ईश्वरावताररूपा देवता-त्रयी, और तद्द्वारा वेदोत्पत्ति, तथा प्राचीनन्याय-मत ,,
३३१–भौतिकपदाथत्रयीरूपा वेदत्रयी का समन्वय, और प्राधनिक-मत ,,
३३२–जन्य-जनकभाव का संस्मरण ,,
३३३–जन्य-जनकभाव का समादर ,,
३३४–अग्निपदार्थ का ऋग्वेदत्त्व ,,
३३५–वायुपदार्थ का यजुर्वेदत्त्व ,,
३३६–आदित्यपदार्थ का सामवेदत्त्व ,,
३३७–प्राधानिक-मत-निष्कर्ष ,,
३३८–प्रथममतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राधानिकानुगत-प्रथम-मत-उपरत

१

* * * *

(२)-"प्रकृतिसिद्ध भौतिक सूर्य्य तीनों वेदों से अभिन्न है"--नामक द्वितीय-प्राधानिक-मत

——*——

३३६-नव्यन्यायानुगत-दृष्टिकोण का संस्मरण ६०
३४०-प्राचीनन्यायानुगत दृष्टिकोण का संस्मरण ,,
३४१-प्राधानिक दृष्टि, और भौतिक-सूर्य्यात्मक-वेद ,,
३४२-सूर्य्य से अभिन्ना त्रयीविद्या ,,
३४३-निगम शास्त्रात्मक-सूर्य्यनारायण ,,
३४४-आगमशास्त्रात्मिका-पृथिवी ,,
३४५-सूर्य्य का सर्वप्रभवत्त्व-समन्वय ,,
३४६-रोदसी-त्रैलोक्य के अधिष्ठाता सूर्य्य से अभिन्न तीनों वेद ,,
३४७-द्वितीय-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राधानिकानुगत-द्वितीय-मत-उपरत

२

* * * *

(३)-"प्रकृतिसिद्ध--अग्नीषोमात्मक-भौतिक-यज्ञ तीनों वेदों से अभिन्न है"-नामक तृतीय-प्राधानिक-मत

——*——

३४८-नव्यन्यायानुगत-दृष्टिकोण ६१
३४९-प्राचीनन्यायानुगत-दृष्टिकोण ,,
३५०-प्राधानिक-मत, और अग्नी-षोमरूपा वेद-चतुष्टयी ,,
३५१-अग्नीषोमात्मक-यज्ञ ,,
३५२-यज्ञात्मक- वेद ,,
३५३-हौत्र-औद्गात्रादि-कर्म्मसमष्टिरूप-यज्ञ ,,
३५४-यज्ञकर्म्मात्मक-वेदशास्त्र ,,
३५५-तृतीय-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राधानिकानुगत--तृतीय-मत-उपरत

३

* * * *

(४)-"प्रकृतिसिद्ध कालचक्र से वेद उत्पन्न हुआ है"-नामक चतुर्थ-प्राधानिक-मत

——*——

३५६-प्रजापति से उपक्रान्त स्थावर-जङ्गमात्मक-विश्व का संस्मरण ६२
३५७-कालचक्रानुगता गति, और विश्वचक्र ,,
३५८-सर्व-प्रभव, प्रतिष्ठा, परायण-कालचक्र ,,
३५९-प्राकृतिक कालचक्र, और उससे वेदोत्पत्ति ,,
३६०-चतुर्थमतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राधानिकानुगत-चतुर्थ-मत-उपरत

४

* * * *

(५)-"सृष्टि के आरम्भ में यह वेद प्रकृति के अनुसार स्वयं उत्पन्न हुआ है"-नामक पञ्चम-प्राधानिक-मत

——*——

३६१-सृष्टि का आरम्भकाल, और वेदाविर्भाव ,,
३६२-अलौकिक-विद्यात्मक-वेदशास्त्र का मानव-बुद्धि से बहिर्भूतत्त्व ,,
३६३-समुद्र-पर्वतादि-प्राकृतिक पदार्थों के साथ सत्यसंहित वेद का समतुलन ६३
३६४-अनृतसंहित मानव की बुद्धि से अतीत वेदशास्त्र ,,
३६५-ईश्वरकर्तृत्त्व पर आपत्ति ,,
३६६-ईश्वर की स्वरूप-परिभाषा ,,
३६७ (क)-विशिष्टाद्वैतवादियों का ईश्वर ,,
३६७ (ख)-अनन्तकल्याणगुणाकर-ईश्वर ,,
३६७ (ग)-नित्य-प्रकृतिजात-पुरुषजात-भेदेन पदार्थों का त्रिधा वर्गीकरण ,,
३६८-स्वयंसिद्ध-पदार्थों की स्वरूप-परिभाषा ,,
३६९-प्राकृतिक-पदार्थों की स्वरूप-परिभाषा ,,
३७०-पौरुषेय-पदार्थों की स्वरूप-परिभाषा ,,

३७१–सर्वगात्री, निराकार, चिद्घन, पुरुष, और प्रकृतिदेवी ६३
३७२–पुरुष, और प्रकृति का अनादित्व ,,
३७३–त्रिविध-पदार्थों का अपेक्षानुबन्धी मूल्याङ्कन ,,
३७४–प्रकृति के प्रवाह में निग्रह की व्यर्थता ,,
३७५–सर्वप्रपञ्च की प्रकृतिसिद्धता का समर्थन ,,
३७६–प्राकृत–वेदशास्त्र ,,
३७७–पञ्चममतानुगत-प्रमाण सन्दर्भ ,,

प्राधानिकानुगत–पञ्चम-मत–उपरत

५

* * * *

(६)–"तीन प्राकृत-लोकों से क्रमशः तीन वेद उत्पन्न हुए हैं"–नामक षष्ठ-प्राधानिक-मत

——*——

३७८–भूः, और पृथिवी ६४
३७९–भुवः, और अन्तरिक्ष ,,
३८०–स्वः, और द्यौः ,,
३८१–लोकत्रयी से वेदत्रयी की उत्पत्ति ,,
३८२–आग्नेय-पार्थिव-पदार्थ, और ऋग्वेद ,,
३८३–वायव्य-आन्तरिक्ष्य-पदार्थ, और यजुर्वेद ,,
३८४–सौर-दिव्य-पदार्थ, और सामवेद ,,
३८५–पुरोहित-पार्थिव–अग्नि ,,
३८६–प्रजापति-आन्तरिक्ष्य-अग्नि ६४
३८७–आगमनभाव, और दिव्याग्नि ,,
३८८–अग्नित्रयी, और लोकत्रयी ,,
३८९–लोकत्रयी, और वेदत्रयी ,,
३९०–षष्ठ मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राधानिकानुगत-षष्ठ-मत-उपरत–उपरत

६

* * *

(७)–"तीन छन्दों, सवनों, तथा तदनुगत स्तोमों से त्रयीवेद उत्पन्न हुआ है"–नाम-सप्तम-प्राधानिक-मत

——*——

३९१–सुप्रसिद्धा-लोकत्रयी का संस्मरण ,,
३९२–अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द ,,
३९३–एकादशाक्षर-त्रिष्टुपछन्द ,,
३९४–द्वादशाक्षर-जगतीछन्द ,,
३९५–नव-अहर्गणात्मक त्रिवृत्स्तोम ,,
३९६–पञ्चदश-अहर्गणात्मक-पञ्चदशस्तोम ,,
३९७–एकविंश-अहर्गणात्मक-एकविंशशस्तोम ,,
३९८–त्रिवृत्, और प्रातःसवन ,,
३९९–पञ्चदश, और माध्यन्दिनसवन ,,
४००–एकविंश, और सांयसवन ,,
४०१–प्रातःसवनानुगत-ऋग्वेद ,,
४०२–माध्यंदिनसवनानुगत-यजुर्वेद ,,
४०३–सांयसवनानुगत-सामवेद ,,
४०४–सप्तम-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

प्राधानिकानुगत-सप्तम-मत

७

* * *

४०५–प्राधानिकदर्शनाभिमत- सप्तविध (७)–अवान्तरमतों का संकलनात्मक-समन्वय ६५

इति-सप्त-(७)–अवान्तर-मतयुक्तं प्राधानिकदर्शनाभिमतं-मतप्रदर्शनम्

(सांख्यदर्शनाभिमतं-मतप्रदर्शनम्)

४

* * *

अथ-सप्त-(७)-अवान्तरमतयुक्तं वैशेषिकदर्शनाभिमतं-मतप्रदर्शनम्

५

——*——

वैशेषिकदर्शनानुगत-दृष्टिकोण-

४०६-महर्षि उलूक (कणाद) का पावन संस्मरण ६६
४०७-वेदों का ऋषिकृतत्त्व ,,
४०८-ऋषिकृत वेदों का अपौरुषेयत्त्व ,,
४०९-दृष्टिभेदेन अकृतक, और अपौरुषेयवेद, तथा तत्समन्वय ,,
४१०-शब्दापेक्षया वेदों का पौरुषेयत्त्व ,,
४११-पौरुषेय-वेदों का अनित्यत्त्व ,,
४१२-शब्दात्मक-वेद के द्वारा प्रतिपादित तत्त्वात्मक वेद का विद्यात्त्व समन्वय ,,
४१३-विद्यात्मक वेद का नित्यत्त्व ,,
४१४-विद्यात्मकवेद का अपौरुषेयत्त्व ,,
४१५-वैशेषिक-सूत्रत्रयी का संस्मरण ,,
४१६-प्रज्ञान से अविनाभूत विज्ञान ,,
४१७-मन से सम्परिष्वक्ता बुद्धि ,,
४१८-बुद्धिपूर्वा-वाक्यकृति, और उसका वेदत्त्व ,,
४१९-परिच्छिन्न-मानव-पुरुष, और तत्कृतिरूप वेदों का पौरुषेयत्त्व ,,
४२०-ब्राह्मणग्रन्थानुगता-निर्वचनप्रक्रिया ,,
४२१-निर्वचनों के द्वारा वेदों का कृतकत्त्व-संस्थापन ,,
४२२-मानवबुद्धि का निर्वचनात्मक धर्म्म ,,
४२३-निर्वचनशैली से अनुप्राणित वेदों का पौरुषेयत्त्व ,,
४२४-वेदशास्त्रानुगत-आर्षज्ञान का वेदविद्यात्त्व-प्रतिपादन ७०
४२५-वेदतत्त्वात्मिका वेदविद्या की अपौरुषेयता ,,
४२६-धर्म्मबुद्धि, और तद्द्वारा विद्यात्मक अपौरुषेय वेद का सम्भावित-स्वरूपबोध ७०
४२७-भगवान् पतञ्जलि के द्वारा वैशेषिक मत का समर्थन ,,
४२८-सर्वश्री कैय्यट, तथा जयादित्यादि के समर्थनानुगत संस्मरण ,,
४२९-वचनाभिप्राय-समन्वय ,,
४३०-वैशेषिकदर्शनानुगत-दृष्टिकोण का उपराम ,,

* * *

(१)-"यह वेद अग्नि वायु-सूर्य्य-नामक तीन देवर्षियों का वाक्य है"—नामक प्रथम-वैशेषिक-मत

——•——

४३१-देवयुगात्मक-पुरायुग का संस्मरण ७१
४३२-देवयुगानुगत-भौमस्वर्ग का संस्मरण ,,
४३३-भौमस्वर्गनिवासिनी-देवजातियाँ ,,
४३४-पृथिवीलोक-निवासिनी-मानवजाति ,,
३३५-देवमानवानुगत-देवर्षिवर्ग ,,
४३६-पार्थिवमानवानुगत-ऋषि-महर्षि-वर्ग ,,
४३७-अग्नि-वायु-सूर्य्य-नामक मानवविध-देवता ,,
४३८-मानवदेवता-त्रयी के द्वारा वेदमन्त्रों का निर्म्माण ,,
४३९-भौम-मानवदेवताओं के ऐतिहासिक-तथ्यों का संस्मरण ,,
४४०-प्रथममतानुगत-प्रमाणसन्दर्भ ,,

वैशेषिकानुगत-प्रथम-मत-उपरत

१

* * *

(२)–"यह वेद अजपृष्णि नामक ऋषियों का वाक्य है"—नामक-द्वितीय-वैशेषिक-मत

——*——

४४१–पार्थिवी-प्रजा का संस्मरण ७१
४४२–पार्थिव-प्रजा से अनुगत चार प्रकार के वर्ण-मानव ,,
४४३–चार प्रकार के अवर्ण-मानव ,,
४४४–वेदतत्त्वद्रष्टा भारतीय ब्राह्मण, और तद-नुगता–'मनुष्यर्षि'-उपाधि ,,
४४५–अजपृष्णि-सिकतानिवावरी-आकृष्टमाष नाम की भारतीया-महर्षित्रयी ,,
४४६–अजपृष्णि नामक तपस्विवर्ग के द्वारा ही वेदमन्त्रों का स्वरूप-निर्म्माण ,,
४४७–द्वितीय-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ,,

वैशेषिकानुकागत–द्वितीय-मत–उपरत

२

* * *

(३)–"यह वेद अथर्वाङ्गिरा नामक ब्रह्मर्षि का वाक्य है"–नामक तृतीय-वैशेषिक-मत

——*——

४४८–अग्नि की ध्रुवात्मिका घनावस्था, और अग्नि ७२
४४८–अग्नि की धर्त्रात्मिका तरलावस्था, और वायु ,,
४४६–अग्नि की धरुणात्मिका विरलावस्था, और आदित्य ,,
४५०–अग्नित्रयी से ऋक्-यजुः-साम-रूपा-वेद-त्रयी की स्वरूपाभिव्यक्ति ,,
४५१–वेदसमष्टिरूप-'अग्निब्रह्म' ७२
४५२–अग्निब्रह्मात्मक-'ज्येष्ठब्रह्म' ,,
४५३–भृगु, और अङ्गिरा की समष्टिरूप 'सोम-ब्रह्म' ,,
४५४–सुब्रह्म से अभिन्न-सोमब्रह्म ,,
४५५–अग्नि का त्रिधा विभाजन ,,
४५६–देवलोकरूप-आपोलोक की चतुर्थलोक-रूपता ,,
४५७–भृगुत्रयी, और अङ्गिरात्रयी का संस्मरण ,,
४५८–षड्ब्रह्ममय-सोमावच्छिन्न-अथर्ववेद ,,
४५६–वेदचतुष्टयी का स्वरूप-समन्वय ,,
४६०–चतुर्म्मुख ब्रह्मा से अनुगता वेदचतुष्टयी
४६१–ब्रह्मा की-'जगद्गुरु' उपाधि ,,
४६२–ब्रह्मा की-'स्वयम्भू'-अभिधा ,,
४६३–आदिब्रह्मा का पावन-संस्मरण ,,
४६४–हिरण्यगर्भ-नामक द्वितीय ब्रह्मा ,,
४६५–अपान्तरतमा-नामक-तृतीय-ब्रह्मा ,,
४६५–प्राचीनगर्भ-महर्षि का संस्मरण ,,
४६६–अथर्वा-नामक-चतुर्थ-ब्रह्मा ,,
४६७–आदिब्रह्मा का प्रथमजदेवत्त्व-समन्वय ,,
४६८–आर्य्यायणात्मक-प्रतीच्य-भारत ,,
४६६–वरुणराजधानी-पुष्कर, और बुखारा ,,
४७०–वाह्लीकनगरनिवासी-वरुण ,,
४७१–वरुण के औरसपुत्र भृगु ,,
४७२–स्वयम्भू ब्रह्मा के दत्तकपुत्र-भृगु ,,
४७३–सरस्वती-ग्रामवासी-प्राचीनगर्भ ७३
४७४–वसिष्ठाश्रम का संस्मरण ,,
४७५–'सारस्वत-ऋषि' नाम से प्रसिद्ध-महर्षि ,,
४७६–स्वयम्भू-हिरण्यगर्भ-प्राचीनगर्भ नाम की ब्रह्मा-त्रयी, और तद्द्वारा हिरण्यशृङ्गपर्वत पर वेदनिर्म्माण ,,
४७७–अथ-अर्वाक्, और अथर्वा ,,
४७८–अथर्ववेद का निर्वचनात्मक समन्वय ,,

४७९–ब्रह्मर्षिरूप-ब्रह्मा के द्वारा ही वेदाविर्भाव ७३
४८०–तृतीय-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ”

वैशेषिकानुगत–तृतीय–मत–उपरत

३

* * *

(४)–“यह वेद अपान्तरतमा ऋषि का वाक्य है”-नामक चतुर्थ-वैशेषिक-मत

—*—

४८१–अपान्तरतमा-ऋषि के द्वारा वेद का निर्वचन ७४
४८२–आदिब्रह्मा के मानव-पुत्र-अपान्तरतमा ”
४८३–अपान्तरतमा-महर्षि के अवतार-वेद संकलनकर्त्ता भगवान्-कृष्णद्वैपायन का संस्मरण ”
४८४–प्राचीनगर्भ, और अपान्तरतमा ”
४८५–(क) चतुर्थ-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ”

वैशेषिकानुगत-चतुर्थ-मत-उपरत

४

* * *

(५)–“यह वेद ऊर्ध्वरेता महर्षियों का वाक्य है”-नामक-पञ्चम-वैशेषिक-मत

—*—

४८५–(ख) महर्षियों की विद्यात्मिका-रहस्यपूर्णा वाणी, और वेदशास्त्र ७४
४८५–(ग) कदम्बवृत्तानुगत-विष्णुपद का संस्मरण ”
४८५–(घ) पचीससहस्रवर्ष-पूर्वात्मक-वेदयुग का पावन-संस्मरण ”
४८६–‘नाकस्थ विष्णु’ का संस्मरण ”
४८७–५० सहस्र-गृहस्थाश्रमी महर्षि ७४
४८८–८८ सहस्र-नैष्ठिक-महर्षि ”
४८९–महर्षियों के द्वारा सृष्टितत्त्वों का अन्वेषण ”
४९०–महर्षियों के द्वारा आविष्कृत तत्त्ववाद का शब्दात्मक स्वरूप, और उस का वेदत्त्व ”
४९१–पञ्चम-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ७५

वैशेषिकानुगत-पञ्चम-मत-उपरत

५

* * *

(६)–“यह वेद वसिष्ठादि ७ महर्षियों का वाक्य है” नामक-षष्ठ-वैशेषिक-मत

—*—

४९२–वसिष्ठ-प्रमुख ऋषियों का संस्मरण ७६
४९३–वेदप्रवर्त्तक-सप्तर्षिगण ”
४९४–गोत्रप्रवर्त्तक-सप्तर्षिगण ”
४९५–सृष्टिप्रवर्त्तक-सप्तर्षिगण ”
४९६–सप्तर्षिप्राण-मूला-सप्तावयवा-सृष्टि ”
४९७–सप्तपुरुषपुरुषात्मक–प्रजापति ”
४९८–प्राणात्मक-ऋषितत्त्व ”
४९९–प्राणात्मक ऋषियों के प्रथमद्रष्टा-मानव-श्रेष्ठ, और उनका तत्प्राण नाम से ही यशःख्यापन ”
५००–सप्तर्षियों की वंशपरम्परा ”
५०१–नित्य-ऋषियों का संस्मरण ”
५०२–द्वादश-ऋषियों का संस्मरण ”
५०३–वेदकर्त्ता-ऋषियों के आठ नाम ”

५०४–गोत्र, और शाखा-प्रवर्त्तक सप्तर्षि ७६
५०५–वसिष्ठ-अगस्त्य-अत्रि-त्रयी-को मूलपुरुष-रूपता ७७
५०६–ऋषि ऋषिपुत्र-ऋषिपौत्र-आदि का पावन संस्मरण ”
५०७–गोत्रप्रवर्त्तक-सुप्रसिद्ध-सात महर्षि ”
५०८–वेदप्रवर्त्तक-सुप्रसिद्ध-सात-महर्षि ”
५०९–सृष्टिप्रवर्त्तक-सुप्रसिद्ध सात-महर्षि ”
५१०–षष्ठ-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ”

वैशेषिकानुगता–षष्ठ–मत–उपरत

६

* * *

(७)–"यह वेद आम्नायवचनों से संगृहीत है"–नामक–सप्तम–वैशेषिक–मत

—*—

५११–लोकपरम्परानुगता-जनश्रुति ७८
५१२–जनश्रुति से अनुगंत-'आम्नायवचन' ”
५१३–आम्नायवचनों का प्रमाणत्त्व ”
५१४–आम्नायवचनात्मक-वेदमन्त्र ”
५१५–ऋषिवंशों से आम्नायवचनों का भगवान् व्यास के द्वारा संकलन ”
५१६–व्यासदेव के द्वारा संकलित आम्नाय-वचनों का ही वेदसंहितात्त्व ”
५१७–वेदशाखाओं का पावन-संस्मरण ”
५१८–वेदशाखात्मक वेद ”
५१९–सप्तम-मतानुगत-प्रमाण-सन्दर्भ ”

वैशेषिकानुगत सप्तम-मत-उपरत

७

* * *

५२०–वैशेषिकदर्शनाभिमत-सप्तविध-(७) अवान्तर-मतों-का संकलनात्मक-समन्वय ७९

इति–सप्त-(७)-अवान्तरमतयुक्तं वैशेषिकदर्शनाभिमतं-मतप्रदर्शनम्

५

—*—

अथ–युगधर्म्मानुगत-कलिवात्याहित–विभिन्न–काल्पनिक-मतप्र-दर्शनम्, तदनु–नास्तिकदर्शनाभिमत–मतप्रदर्शनञ्च

६

—*—

मताभासात्मक–काल्पनिक मत

५२१–मन्त्रब्राह्मणात्मक-वेदशास्त्र का संस्मरण ८३
५२२–संहिता-चतुष्टयी-मात्र का ही वेदत्त्वाग्रह ”
५२३–ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्-त्रयीरूप ब्राह्मणभाग के वेदत्त्व में आपत्ति ”
५२४–मतानुगता कल्पना ”
५२५–मताभासात्मक-मतवाद ”
५२६–प्रमाणवचन का आत्यन्तिक-अभाव ”

मताभासात्मक–काल्पनिक–मत का उपराम

—*—

नास्तिक–दर्शनाभिमत–मत–प्रदर्शन—

५२७–नास्तिकमत की मूलभित्ति-अभिनिवेशात्मक दुराग्रह ८३

५२८–'नास्तिक' की स्वरूप-परिभाषा ८३
५२९–चार्वाकादि षड्विध-नास्तिक ,,
५३०–भ्रान्ति-पथों के प्रवर्त्तक, प्रचारक-नास्तिक ,,
५३१–वेदमार्गविरोधी-नास्तिकवर्ग ,,
३२–नास्तिकशिरोमणि बृहस्पति ,,
५३३–चार्वाक-मत-स्वरूप--दिग्दर्शन ८४
५३४–"यह वेद स्वार्थी–मनुष्यों की स्वार्थ–सिद्धि का द्वारभूत-वाक्यसंग्रहमात्र है"-नामक-४० वें नास्तिक-मत से अनुप्राणित-नास्तिकों के कतिपय-आवेशात्मक उद्गार ८४
५३५–नास्तिकमतोपराम ८६

* * * * *

—*—

इति–नास्तिकदर्शनाभिमत-मतप्रदर्शनम्

६

इति-वेदापौरुषेयत्त्व–पौरुषेयत्त्व–सम्बन्धे

"दार्शनिक–विचारप्रसङ्गः"

उपरतः

* * * * *

श्रीः

वेद के तात्त्विक–स्वरूप की रूपरेखा मे अनुप्राणिता
'वैज्ञानिक-वेद-निरुक्तिः'

नामक

सन्दर्भ–उपक्रात

विषयोपक्रम

१—वेदपदार्थ का एकत्व, और तत्र जैमिनि-व्यासादि-विभिन्न-दार्शनिकों के विभिन्न-विचार ९१
२—विभिन्नविचारानुगत-संशयवाद ,,
३—संशयोत्थान के कारण का समन्वय ,,
४—वैज्ञानिक-वेद का माङ्गलिक-संस्मरण ,,
५—वैज्ञानिक-तथ्यों के समन्वयाधार पर सम्पूर्ण संशयों का सम्भावित-निराकरण ,,
६—वैज्ञानिक-वेद-निर्वचनोपक्रम ,,

* * *

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ वेदप्रतिष्ठानुगता–आत्मस्वरूप–निरुक्तिः

१

—*—

७—रागद्वेषादि-अगणित-द्वन्द्वभावों का संस्मरण ,,
८—द्वन्द्वभावाक्रान्त विश्व के मूलकारण की जिज्ञासा ,,
९—प्रश्नोत्थानपरा तैत्तिरीय-श्रुति ,,
१०—उत्तरश्रुति का संस्मरण ,,
११—श्रुत्यक्षरार्थ-समन्वय ९२
१२—ब्रह्मात्मक-वन ,,
१३—ब्रह्मात्मक-वृक्ष ,,
१४—ब्रह्मवृक्ष से त्रैलोक्याभिव्यक्ति ,,
१५—ईशभाष्य का संस्मरण ९२
१६—परात्परब्रह्म का वनत्व ,,
१७—परात्पर की परमेश्वररूपता ,,
१८—दिग्देशकालानवच्छिन्न-परात्पर ,,
१९—परात्पर की अननुमेया इयत्ता ,,
२०—असंख्य-मायाबलों का संस्मरण ९३
२१—मायापुर के सीमित-परात्पर-अंश ,,
२२—मायी-परात्परांश की पुरुषरूपता ,,
२३—असंख्य-मायी-पुरुष ,,
२४—मायीपुरुष का स्वतन्त्रेश्वरत्व ,,
२५—वृक्षात्मक-मायी-महेश्वर ,,
२६—मायी-महेश्वरों के असंख्य-विवर्त्त ,,
२७—अश्वत्थवृक्षात्मक-मायी-महेश्वर ,,
२८—सप्तलोकाधिपति मायी-महेश्वर ,,
२९—सहस्र-सहस्र-उपेश्वरों को स्वमहिमा के गर्भ में रखने वाला एक एक मायी-महेश्वर ,,
३०—अश्वत्थवृक्षमूर्त्ति विश्वेश्वर, और तत्स्वरूप-वर्णनपरा-मन्त्रश्रुति ,,
३१—अश्वत्थवृक्षेश्वर के अमृत-ब्रह्म-शुक्र-नामक तीन-महिमा-विवर्त्त ,,
३२—अव्यय-अक्षर-आत्मक्षर-की समष्टिरूप–'अमृतम्' ,,
३३—प्राणः-आपः-वाक्-अन्नम्-अन्नादः-की समष्टि-रूप-'ब्रह्म' ,,
३४—वाक्-आपः-अग्नि-की समष्टिरूप-'शुक्रम्' ,,

३५–तुरीय-परात्पर का सन्निवेश ६३
३६–चतुष्पाद-पुरुषब्रह्म ,,
३७–परात्पर–अमृत-ब्रह्म-रूप तीन पादों की असङ्गता, एवं तुरीय-शुक्र-पाद का ही सृष्ट्यनुगतत्त्व ,,
३८–'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः' ,,
३९–'पादोस्येहाभवत्पुनः' ,,
४०-वृक्ष का निकृन्तन, और तद्द्वारा विश्वभुवनों का निर्म्माण ,,
४१-परात्परानुगत अव्यय का विश्वालम्बनत्त्व ,,
४२–अक्षर का कर्तृत्त्व ,,
४३–क्षर का उपादानमूलत्त्व ,,
४४–ब्रह्म का उपादानारम्भणत्त्व ,,
४५–शुक्र का उपादानत्त्व ,,
४६–ब्रह्म-शब्द-व्यवहार का समन्वय ,,
४७–अमृत-ब्रह्म-शुक्र-विवर्त्त का तालिका के माध्यम से स्वरूप-समन्वय ६४
४८–ब्रह्म की सच्चिदानन्दरूपता, और तत्समर्थक-श्रुतिवचन ६५
४९-ब्रह्म की विश्वरूप में परिणति, और तत्समर्थक श्रुतिवचन ,,
५०–विश्व के मूलभूत ब्रह्म का सच्चिदानन्दत्त्व ,,
५१–मूल से अभिव्यक्त-तूल-रूप विश्व का भी सच्चिदानन्दत्त्व ,,
५२–शुक्रत्रयी से कृतरूप विश्व ,,
५३–वाक्-शुक्र का महिमा-मय विवर्त्त, और तद्-रूप वेद ,,
५४–'वागविवृताश्च वेदाः' का संस्मरण ,,
५५–मूलवेद का स्वरूप-संस्मरण ,,
५६–ब्रह्मा–-विष्णु–-महेश–-नामकी देवत्रयी का व्यापार, और वेदाभिव्यक्ति ,,
५७–ब्रह्मेन्द्रविष्णुकृत-वीरण, और उस से अभिव्यक्त साहस्री-त्रयी ,,
५८–मन्त्रश्रुति से अनुप्राणिता लोक-वेद-वाक्-साहस्री-त्रयी ६५
५९–इन्द्राविष्णू, और तत्स्पर्द्धा की स्वरूप-जिज्ञासा ,,
६०–स्पर्द्धा के आधारभूत 'अप्तत्त्व' की स्वरूप-जिज्ञासा ,,
६१–त्रिकल-आत्मा का संस्मरण ,,
६२–ज्ञानात्मा, और मतस्तन्त्र ,,
६३–कर्म्मात्मा और प्राणतन्त्र ,,
६४–भूतात्मा, और वाक्तन्त्र ,,
६५–त्रिवृद्भाव की व्यापकता का संस्मरण ,,
६६–मनःप्राणवाङ्मय-आत्मा ,,
६७–पञ्चीकरण से समतुलित-त्रिवृद्भाव ६६
६८–आत्मा के त्र्यात्मक-महिमा-मय-तीन विभिन्न-विवर्त्तों का स्वरूप-समन्वय ,,
६९–मनःप्रधान-ज्ञानात्मा की त्रिवृद्भावानुगता तीन कलाओं का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
७०–प्राणप्रधान-कर्म्मात्मा की त्रिवृद्भावानुगता तीन कलाओं का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ६७
७१–वाक्प्रधान-भूतात्मा की त्रिवृद्भावापन्ना तीन कलाओं का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
७२–विद्यात्मक-त्रिवृद्भावापन्न-मनस्तन्त्र, और ज्ञानात्मा ६८
७३–वीर्य्यात्मक-त्रिवृद्भावापन्न-प्राणतन्त्र, और कर्म्मात्मा ,,
७४–अन्नात्मक-त्रिवृद्भावापन्न-वाक्तन्त्र, और भूतात्मा ,,
७५–विद्यात्मक-मनःप्रधान-ज्ञानात्मा से अनुगत-अव्ययात्मा ६९
७६–वीर्य्यात्मक-प्राणप्रधान-कर्म्मात्मा से अनुगत-अक्षरात्मा ,,
७७–अन्नात्मक-वाक्प्रधान-भूतात्मा से अनुप्राणित-क्षरात्मा ,,
७८–अव्ययानुगत-मनःप्रधान–विद्यात्मक-ज्ञानात्मा का ईश्वरात्मत्त्व-समन्वय ,,

७६-अक्षरानुगत-प्राणप्रधान-वीर्य्यात्मक-कर्म्मात्मा का जीवात्मत्त्व-समन्वय ६६
८०-क्षरानुगत-वाक्प्रधान-अन्नात्मक-भूतात्मा का-जगत्-स्वरूपत्त्व-समन्वय ,,
८१-ब्रह्माक्षरानुगत-ईश्वरतन्त्र ,,
८२-विष्णवक्षरानुगत-जीवतन्त्र ,,
८३-इन्द्राक्षरानुगत-जगत्तन्त्र ,,
८४-ज्ञानात्मा से अनुगृहीत ब्रह्मा का ज्ञानपतित्त्व ,,
८५-कर्म्मात्मा से अनुगृहीत विष्णु का कर्म्मपतित्त्व ,,
८६-भूतात्मा से अनुगृहीत-इन्द्र का भूतपतित्त्व ,,
८७-ब्रह्मेन्द्विष्णु-सहकृत-रहस्यपूर्ण--त्रिवृद्भाव का संस्मरण ,,
८८-तालिका के द्वारा त्रिवृद्भाव का स्वरूप-स्पष्टीकरण १००
८६-मूलवेद, और सच्चिदानन्दब्रह्म ,,
६०-वेदप्रतिष्ठानुगत-त्रिवृद्भावापन्न--आत्मस्वरूप का तात्त्विक-दिग्दर्शन ,,

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ वेदप्रतिष्ठानुगता-आत्मस्वरूप-निरुक्तिः

१

——×——

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ सच्चिदानन्दात्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

२

——*——

६१-आत्मदृष्टि से अनुगत-मूलवेद १०५
६२-विश्व के मूलाधार का संस्मरण ,,
६३-विश्वात्मा की अवान्तर-पाँच कलाएँ ,,
६४-आनन्दकलानुगत-आनन्दभाव ,,
६५-विज्ञानकलानुगत-चिद्भाव १०५
६६-मनः-प्राण-वाक्-कलानुगत-सद्भाव ,,
६७-पञ्चकला का कलात्रयी पर विश्राम ,,
६८-मूलप्रभव की-'उक्थरूपता' ,,
६६-उक्थ-नाम-निर्वचन ,,
१००-आनन्दमय-उक्थभाव, और तद्रूप-ऋग्तत्त्व ,,
१०१-उक्थ, महदुक्थ, और महोक्थ ,,
१०२-ऋचां-समुद्रः ,,
१०३-आनन्द का सर्वप्रतिष्ठात्त्व ,,
१०४-मूल-ऋग्वेद, और आत्मा की आनन्दकला ,,
१०५-सत्ताभाव से आक्रान्त-भूत भौतिक-पदार्थ ,,
१०६-'अस्ति' प्रतीति की व्याप्ति ,,
१०७-स्वतन्त्र-अस्तित्त्व से समन्वित पदार्थ ,,
१०८-उपलब्धि के अभाव में क्षोभ का उदय ,,
१०६-जिज्ञासाभाव की उपशान्ति ,,
११०-विषयावाप्ति, और अवसानभूमि ,,
१११-अवसानात्मक 'साम' भाव १०६
११२-सत्तानुगत-सामभाव ,,
११३-महती-सत्ता, और महाव्रत ,,
११४-महाव्रतरूप-सामसमुद्र ,,
११५-आनन्द, और सत्ता का संयोजक-ज्ञानसूत्र ,,
११६-'तद्विज्ञानेन-परिपश्यन्ति' ,,
११७-यजनात्मक-यजुर्भाव, और मध्यस्थ ज्ञानात्मक-चिद्भाव ,,
११८-'अग्नि', और यजुः ,,
११६-पुरुष, और यजुः ,,
१२०-आनन्दात्मक-ऋग्वेद ,,
१२१-चिदात्मक-यजुर्वेद ,,
१२२-सत्तात्मक-सामवेद ,,
१२३-प्रकारान्तरेण-मूलवेद का समन्वय-प्रयास ,,
१२४(क)-सच्चिदानन्दब्रह्म के "विश्व-विश्वात्मा-विश्वचर"-रूप-तीन-महिमा-विवर्त्त ,,
१२४(ख)-स्रष्टात्मा, और विश्वविवर्त्त ,,

१२५–प्रविष्टात्मा, और विश्वात्मविवर्त्त १०६
१२६–प्रविविक्तात्मा, और विश्वविवर्त्त ,,
१२७–अविज्ञेय-प्रविविक्त-ब्रह्म १०७
१२८–दुर्विज्ञेय-सृष्टब्रह्म ,,
१२९–सुविज्ञेय-सृष्टब्रह्म ,,
१३०–नित्यानन्द-विवर्त्त ,,
१३१–नित्यविज्ञान-विवर्त्त ,,
१३२–नित्यसत्ता-विवर्त्त ,,
१३३–आत्मानन्द-विवर्त्त ,,
१३४–आत्मज्ञान-विवर्त्त ,,
१३५–आत्मसत्ता-विवर्त्त ,,
१३६–विषयानन्द-विवर्त्त ,,
१३७–विषयज्ञान-विवर्त्त ,,
१३८–विषयसत्ता-विवर्त्त ,,
१३९–त्रिवृद्भावापन्न-सच्चिदानन्दब्रह्म ,,
१४०–त्रिवृद्भावापन्न-तद्रूपवेद ,,
१४१–सच्चिदानन्द-लक्षण-आत्मवेद के महिमामय-तात्त्विक-स्वरूप-का विस्तार ,,
१४२–आत्मानुगत-त्रिवृद्वेद-परिलेखः १०८
१४३–'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'-श्रुति से अनुप्राणित-वेद का परिलेख के द्वारा महिमामय–विस्तार १०९
१४४–आनन्द-चित्-सत्-लक्षणः–महोक्थ- महाव्रत-साममयः-मूलवेदः-परिलेखानुगतः ,,
१४५–शेषभूता- वेदविवर्त्तद्वयी, और उसका रहस्यात्मक-समन्वय ,,

इति–वैज्ञानिक–वेदनिरुक्तौ–सच्चिदानन्दात्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

२

अथ–वैज्ञानिक–वेदनिरुक्तौ अमृत–मृत्युमय आत्मलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

३

१४६–सच्चिदानन्दघन-मुक्तिसाक्षी-आत्मविवर्त्त ११७
१४७– ,, -सृष्टिसाक्षी- ,, ,,
१४८–निष्कामभावापन्न-अव्ययपुरुष ,,
१४९–सकामभावापन्न-अव्ययपुरुष ,,
१५०–अमृतानुगत-अव्ययपुरुष ,,
१५१–मृत्यु से अनुगत-अव्ययपुरुष ,,
१५२–'अमृतं-चैव मृत्युश्च - सदसच्चाहम-र्जुन' ! का संस्मरण ,,
१५३–आनन्द, विज्ञान, मनोभाव, और मुक्तिसाक्षी-अमृतात्मा ,,
१५४–मनः-प्राण-वाग्भाव, और सृष्टिसाक्षी–मर्त्यात्मा ,,
१५५–आनन्द, और ऋग्वेद ,,
१५६–विज्ञान, और यजुर्वेद ,,
१५७–मन, और सामवेद ,,
१५८–मन, और ऋग्वेद
१५९–प्राण, और यजुर्वेद ,,
१६०–वाक्, और सामवेद ,,

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ अमृत-मृत्युमय-अमृतात्मलक्षणा वेदनिरुक्तिः

३

अथ-वैज्ञानिक-वेदनिरुक्तौ मनः-प्राण-वाङ्मयी-त्रिकला-वेदनिरुक्तिः

४

---*---

१६१-आत्मभाव का संस्मरण	१२३
१६२-आत्ममन, और कामना	,,
१६३-आत्मप्राण, और तप	,,
१६४-आत्मवाक, और श्रम	,,
१६५-मनसा नित्यं कामयते	,,
१६६-प्राणेन नित्यं तप्यते	,,
१६७-वाचा नित्यं श्राम्यति	,,
१६८-कामयमान मन की ज्ञानशक्ति	,,
१६९-तेपान प्राण की क्रियाशक्ति	,,
१७०-श्रमानुगता वाक् की अर्थशक्ति	,,
१७१-कायमनान मन की उक्थरूपता	,,
१७२-उक्थात्मक मन, और ऋग्वेद	,,
१७३-तेपान-प्राण, और यजुर्वेद	,,
१७४-श्रममयी वाक्, और सामवेद	,,
१७५-मनोमय-मन, और ऋग्वेद	१२४
१७६-मनोमय-प्राण, और यजुर्वेद	,,
१७७-मनोमयी वाक्, और सामवेद	,,
१७८-प्राणमय-मन, और ऋग्वेद	,,
१७९-प्राणमय-प्राण, और यजुर्वेद	,,
१८०-प्राणमयीवाक्, और सामवेद	,,
१८१-वाङ्मय-मन, और ऋग्वेद	,,
१८२-वाङ्मय प्राण, और यजुर्वेद	,,
१८३-वाङ्मयी-वाक, और सामवेद	,,

इति-वैज्ञानिक-वेदनिरुक्तौ मनः-प्राण-वाङ्मयी-त्रिकला वेदनिरुक्तिः

४

---*---

अथ-वैज्ञानिक-वेदनिरुक्तौ उक्थ-ब्रह्म-साम-लक्षणा-वेदनिरुक्तिः

५

---*---

१८४-निरुपाधिक-लक्षणातीत-निर्द्धर्मक ब्रह्म	१२९
१८५-सोपाधिक आत्मा का लक्षणानुगतत्त्व	,,
१८६-आत्मा का रहस्यात्मक-लक्षण	,,
१८७-उक्थभाव, और आत्मा	,,
१८८-ब्रह्मभाव, और आत्मा	,,
१८९-सामभाव, और आत्मा	,,
१९०-लौकिक-उदाहरणों के माध्यम से उक्थ-ब्रह्म-साम-भावों का स्वरूप-समन्वय	,,
१९१-आत्मलक्षण का आधिभौतिकी-संस्था के साथ समन्वय-प्रयास	,,
१९२-पञ्चमहाभूतों की मूलजननी वाग्देवी	,,
१९३-वाङ्मय-पञ्चमहाभूत	,,
१९४-मन, और प्राण से अविनाभूता वाक्	,,
१९५-अकार, और मनस्तन्त्र	,,
१९६-उकार, और प्राणतन्त्र	१३०
१९७-'अच्' भाव, और याञ्चा	,,
१९८-'वाक्' शब्द के मनः-प्राण-वाक्-स्वरूप-संग्राहक-रहस्यात्मक-निर्वचन का तात्विक-स्वरूप-समन्वय	,,

१९९–वाक् की उक्थरूपता का पारिभाषिक-समन्वय १३०
२००–विधर्त्ता–प्राणभाव ,,
२०१–चरकूट का अधिष्ठाता सूत्रात्मा-प्राणतत्त्व ,,
२०२–अखण्डधरातलात्मक-मनस्तन्त्र ,,
२०३–"मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यम्, आकाशात्मा" का संस्मरण ,,
२०४–मन के सामभाव का समन्वय ,,
२०५–व्यासज्यवृत्ति, और आत्मैक्य ,,
२०६–आत्मा--एकः सन्ने तत् त्रयम् ,,
२०७–त्रयं सदेकमयमात्मा ,,
२०८–वेदमूर्त्तिरात्मा-सर्वेषाम् १३१
२०९–ऋङ् मूर्त्ति-उक्थ मन ,,
२१०–यजुम्मूर्त्ति-ब्रह्मप्राण ,,
२११–साममूर्त्ति-सामवाक् ,,
२१२–उक्थ-ब्रह्म-साम से अनुगत-परम्पराश्रिद्ध-त्रिवृद्भाव ,,
२१३–त्रिवृद्भावापन्न वेद का त्रिवृद्भावानुबन्धी विस्तार ,,
२१४–तालिका के माध्यम से विस्तार का समन्वय प्रयास १३२

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
उक्थ-ब्रह्म-साम-मयी–वेदनिरुक्तिः

५

---*---

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
आत्म–ज्योति–प्रतिष्ठा–लक्षणा-वेदनिरुक्तिः

६

---*---

२१५–आत्मा का सच्चिदानन्दघनत्त्व १३७
२१६–आत्मकलाभाव-संस्मरण ,,
२१७–मनस्तन्त्र, और रूपभाग १३७
२१८–प्राणतन्त्र, और कर्मभाग ,,
२१९–वाक्तन्त्र, और नामभाग ,,
२२०–प्रज्ञात्मक-मनस्तन्त्र ,,
२२१–प्राणात्मक-प्राणतन्त्र ,,
२२२–रसो ह्येव सः ,,
२२३–रसात्मक-आनन्द ,,
२२४–'आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्र का संस्मरण ,,
२२५–आनन्दमय-रसवेद ,,
२२६–आनन्द विकासभूमि, और वेदतत्त्व १३८
२२७–चेतना-विकासभूमि, ,, ,,
२२८–सत्ता-विकासभूमि, ,, ,,
२२९–आनन्दात्मक-आत्मा, और आत्मभाव ,,
२३०–चेतनात्मक-आत्मा, और ज्योतिर्भाव ,,
२३१–सत्तात्मक-आत्मा, और प्रतिष्ठाभाव ,,
२३२–आत्मभाव से अनुप्राणित-रसवेद, और तदात्मक-यजुर्वेद ,,
२३३–ज्योतिर्भाव से अनुप्राणित वितानवेद, और तदात्मक-सामवेद ,,
२३४–प्रतिष्ठाभाव से अनुप्राणित छन्दोवेद, और तदात्मक ऋग्वेद ,,
२३५–आनन्दगभित--मनोमय--ब्रह्मप्राण, और यजुर्वेद, १३९
२३६–आनन्दगर्भित-मनोमन--साम--मन, और सामवेद ,,
२३७–आनन्दात्मके-मनोमये-आत्मलक्षणे-यजुर्वेदे एव मनसस्त्रिवृद्भावाद्वेदत्रयोपभोगः ,,
२३७–(ख) सत्तागर्भित-वाङ्मय-मन से अभिन्ना आत्मघृति, और ऋग्वेद १४०
२३८–सत्तागर्भित-वाङ्मय प्राण से अभिन्ना असतोघृति, और यजुर्वेद ,,
२३९–सत्तागर्भित-वाङ्मयी-वाक् से अभिन्ना सतोघृति, और सामवेद ,,

२४०–सत्तात्मके-वाङ्मये-प्रतिष्ठालक्षणे--ऋग्वेदे एव-वाचस्त्रिवृद्भावाद्वे दत्रयोपभोगः १४०
२४१–चेतनागर्भित-प्राणमय-मन से अभिन्ना–ज्ञानज्योति, और ऋग्वेद १४१
२४२–चेतनागर्भित प्राणमय-प्राण से अभिन्ना-भूतज्योति, और यजुर्वेद ”
२४३–चेतनागर्भिता--प्राणमयी---वाक् से अभिन्ना सत्यज्योति, और सामवेद ”
२४४–चेतनात्मके-प्राणमये-ज्योतिर्लक्षणे-सामवेदे प्राणस्य-त्रिवृद्भावाद्वे दत्रयोपभोगः ”

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ आत्मा-ज्योति-प्रतिष्ठा-लक्षणा वेदनिरुक्तिः

६

—— * ——

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ उपलब्धिलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

७

—— * ——

२४५–विशिष्टाद्वैतानुबन्धिनी-ईश्वर-जीव–जगत्–त्रयी का संस्मरण १४७
२४६–विवर्त्तत्रयी का धारावाहिक-सच्चिदानन्दमयत्व ”
२४७–आधिदैविक-विवर्त्त, और ईश्वरसंस्था ”
२४८–आध्यात्मिक-विवर्त्त, और जीवसंस्था ”
२४९–आधिभौतिक-विवर्त्त, और जगत्संस्था, ”
२५०–आनन्दमूर्त्ति-ईश्वर, और अधिदैवतभाव ”
२५१–चिन्मूर्त्ति-जीव, और अध्यात्मभाव ”
२५२–सन्मूर्त्ति-जगत्, और अधिभूतभाव ”
२५३–अस्ति, और ईश्वरभाव ”
२५४–भाति, और जीवभाव ”
२५५–प्रिय, और जगद्भाव १४७
२५६–समष्टिभावात्मिका-उपलब्धि ”
२५७–वस्तुप्राप्तिरूपा उपलब्धि ”
२५८–समन्वयात्मिका-उपलब्धि ”
२५९–'यदि स्यादुपलभ्येत' ”
२६०–सत्ता से अभिन्ना उपलब्धि ”
२६१–अस्ति, और उपलब्धि का तादात्म्य ”
२६२–अस्तिरूपा उपलब्धि के सम्बन्ध में कठ-श्रुति का संस्मरण १४८
२६३–नामरूपानुग्रह से समन्वित-अस्तित्व, और तद्रूपा उपलब्धि ”
२६४–उपलब्धि के विभिन्न तीन महिमा-विवर्त्त ”
२६५–उपलब्धित्रयी से अभिन्ना वेदत्रयी ”
२६६–उपलब्धिवेद का प्रथम-पर्व ”
२६७– ” द्वितीय-पर्व ”
२६८– ” तृतीय-पर्व ”
२६९–सत्तानुगता-उपलब्धि ”
२७०–चेतनानुगता-उपलब्धि ”
२७१–आनन्दानुगता-उपलब्धि ”
२७२–उपलब्धि से अनुगत भूतभौतिक-विवर्त्त ”
२७३–निर्विषयक-ज्ञान की अनुपलब्धि ”
२७४–सविषयक-ज्ञान की उपलब्धि ”
२७५–निर्विषयक-आनन्द की अनुलब्धि ”
२७६–सविषयक-आनन्द की उपलब्धि ”
२७७–निर्विषया-सामान्या-सत्ता की अनुपलब्धि ”
२७८–सविषया-विशेषा-सत्ता की उपलब्धि ”
२७९–विषयात्मक-भूत भौतिक विवर्त्त ”
२८०–आनन्दोपलब्धिरूप आत्मलक्षण-यजुर्वेद ”
२८१–चेतनोपलब्धिरूप-ज्योतिर्लक्षण-सामवेद ”
२८२–सत्तोपलब्धिरूप-प्रतिष्ठा-लक्षण-ऋग्वेद ”
२८३–भूताधारानुगत-उपलब्धिवेद ”
२८४–उपलब्धिवेद-रहस्य का समन्वय ”

२८५–'त्रय्यां वाव विद्यायां भूतान्यपश्यत्' १४६
२८६–'विद्यते-इति-वेदः', और तन्निबन्धन-'सत्तोपलब्धि वेद' ,,
२८७–'वेत्ति-इति-वेदः',और तन्निबन्धन 'चेतनोपलब्धिवेद' ,,
२८८-'विन्दति इति-वेदः', और 'आनन्दोपलब्धिवेद' ,,
२८९–'सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' का संस्मरण ,,
२९०–आधिदैविकवेद-का समन्वय ,,
२९१–आध्यात्मिकवेद-का समन्वय ,,
२९२–आधिभौतिकवेद का समन्वय ,,
२९३–उपलब्धिरूपा वेदत्रयी का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय १४०

इति–वैज्ञानिकवेदक्तौ उपलब्धिलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

७

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृता-वेदनिरुक्तिः सत्यवेदनिरुक्तिर्वा

८

---

२९४ सप्तविध-निर्वचनों का सिंहावलोकनात्मक-संस्मरण १५५
२९५–पञ्चकल-अव्ययपुरुष से अनुप्राणित-सप्त–विध–निर्वचन ,,
२९६–प्रकृति, और पुरुष का अविनाभाव ,,
२९७–प्रकृति, और पुरुष का अनादित्व ,,
२९८–अव्ययपुरुष का रहस्यात्मक आविर्भाव ,,
२९९–पराप्रकृति की सहृदयता ,,
३००–केन्द्र की अकेन्द्ररूपता १५५
३०१–हृदयभावनिबन्धन-प्रकृतिभाव ,,
३०२–मायोदय से पुरुषोदय १५५
३०३–पुरुष के साथ ही प्रकृति का उदय ,,
३०४(क)–केन्द्रतत्त्व की व्यापकता ,,
३०४(ख)–हृदयात्मक 'स्व'–भाव, और 'स्वभाव' ,,
३०५–'स्वभाव', और 'प्रकृति' ,,
३०६–'रसबलमूर्त्ति-अव्ययपुरुष ,,
३०७–रसबलात्मिका-अव्ययप्रकृति ,,
३०८–मृत्युगर्भिता-अमृतलक्षणा-पराप्रकृति ,,
३०९–अमृतगर्भिता-मृत्युलक्षणा-अपराप्रकृति ,,
३१०–पराप्रकृति, और अन्तरङ्गभाव ,,
३११–अपराप्रकृति, और अन्तरङ्गभाव १५६
३१२–अन्तरङ्गप्रकृतिरूप-अक्षरतत्त्व ,,
३१३–बहिरङ्गप्रकृतिरूप-क्षरतत्त्व ,,
३१४–अक्षरप्रकृति के हृदयानुगत तीन महिमा-विवर्त्त ,,
३१५–मूलाक्षरप्रकृति, और स्थितिभाव ,,
३१६–मध्याक्षरप्रकृति, और आगतिभाव ,,
३१७–अग्राक्षरप्रकृति, और गतिभाव ,,
३१८–मूलानुगत-स्थितिभाव, और ब्रह्मा ,,
३१९–मध्यानुगत-आगतिभाव, और विष्णु ,
३२०–अग्रानुगत-गतिभाव, और इन्द्र
३२१–अश्वत्थवृक्ष के मूल में प्रतिष्ठिता ब्रह्माक्षरप्रकृति ,,
३२२–अश्वत्थवृक्ष के मध्य में प्रतिष्ठिता विष्ण्वक्षरप्रकृति ,,
३२३–अश्वत्थवृक्ष के अग्रभाग में प्रतिष्ठिता इन्द्राक्षरप्रकृति ,,
३२४–व्याख्यामुद्राक्षमालादिरूप आगमशास्त्रानुबन्धी-रहस्यपूर्ण ध्यान, और परमशिवतत्त्व का माङ्गलिक-संस्मरण ,,
३२५–यजुर्वेदाध्यक्ष-ब्रह्माक्षर ,,
३२६–सामवेदाध्यक्ष-विष्ण्वक्षर

३२७-ऋग्वेदाध्यक्ष-शिवाक्षर १५६
३२८-पञ्चाक्षरमूर्त्ति-त्र्यक्षरविवर्त्त ,,
३२९-अक्षरत्रयमूर्त्ति-सत्यवेद ,,
३३०-सत्यात्मिका-त्रयीविद्या १५७
३३१-सत्य, और धर्म्म अभिन्नता ,,
३३२-'अक्षरमित्युपास्व' ,,
३३३-'एकामूर्त्तिस्त्रयो देवाः-ब्रह्मविष्णु-महेश्वराः'
३३४-सत्यानुगतः-अक्षरवेदः १५८
३३५-'त्रिमूर्त्तिः' - 'सत्यम्'-'हृदयम्', और 'त्रयीविद्या' ,,

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ ब्रह्मेन्द्रविष्णुसहकृता-वेदनिरुक्तिः सत्यवेदनिरुक्तिर्वा

८

---*---

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ प्राण-आपः-वाक्-सहकृता-वेदनिरुक्तिः

९

---*---

३३६-अमृत-मर्त्य-भावापन्ना प्रकृति का संस्मरण १६३
३३७-अमृत की अक्षररूपता का समन्वय ,,
३३८-मृत्यु की क्षररूपता का समन्वय ,,
३३९-अपराप्रकृति के महिमामय-पाँच विवर्त्त ,,
३४०-प्राणात्मक-ऋषितत्त्व ,,
३४ -भूतपति शिव की लिङ्गात्मिका उपासना ,,
३४२-आनन्दात्मक ब्रह्मा का अनुग्राहक-ऋषितत्त्व ,,
३४३-ऋषितत्त्व, और क्षरप्रधान यजुर्वेद ,,
३४४-'ऋषिर्वेदमन्त्रः' का संस्मरण ,,
३४५-ब्रह्मनिःश्वसितवेद १६३
३४६-गायत्रीमात्रिकवेद ,,
३४७-यज्ञमात्रिकवेद ,,
३ ८-पितॄणां-पतिः-विष्णुः ,,
३४९-देवानां-पतिः-ब्रह्मा ,,
३५०-भूतानां-पतिः-शिवः ,,
३५१-ज्ञानपति-ऋषि १६४
३५२-क्रियापति देवता ,,
३५३-अर्थपति-भूत ,,
३५४-प्राणात्मक-यजुर्वेद १६५
३५५-वागात्मक-सामवेद ,,
३ ६-अन्नादात्मक-ऋग्वेद ,,
३५७-ब्राह्मी-संयती-त्रिलोकी का संस्मरण, और तन्निबन्धन-स्वायम्भुववेद ,,
३५८-वैष्णवी-क्रन्दसी-त्रिलोकी का संस्मरण, और तन्निबन्धन सौरवेद ,,
३५९-रौद्री-रोदसी-त्रिलोकी का संस्मरण, और तन्निबन्धन-पार्थिववेद ,,
३६०-स्वयम्भू, और ब्रह्मनिःश्वसितवेद ,,
३६१-सूर्य्य, और गायत्री मात्रिकवेद ,,
३ २-पृथिवी, और यज्ञमात्रिकवेद ,,

इति-वेदनिरुक्तौ प्राणापोवाक्सहकृता-वेदनिरुक्तिः

९

---*---

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ समष्टिरूपेण-आत्मवेदनिरुक्तिः

१०

---*---

३६३-वेदतत्त्व, और तत्सम्बन्धी सच्चिदानन्दघन-आत्मब्रह्म १६६

३६४–सत्ता–चेतना-आनन्द-नाम की कलात्रयी से अनुप्राणित चितिभाव १६६
३६५–रसप्रधाना अन्तश्चिति, और तदनुगता मुमुक्षा ,,
३६६–बलप्रधाना बहिश्चिति, और तदनुगता सिसृक्षा ,,
३६७–मुमुक्षा, तथा सिसृक्षा की आधारभित्ति-कामना ,,
३६८–कामनोक्थरूप-मनस्तन्त्र ,,
३६९–मन की प्रतिष्ठाभूमि-हृदय ,,
३७०–हृदयानुगत-सीमाभाव ,,
३७१–मायानुगत-सीमाभाव ,,
३७२–सच्चिदानन्दपुरुष का सीमाभावत्त्व ,,
३७३–सीमानुबन्धी-विश्वात्मा ,,
३७४–विश्वात्मनिबन्धन-षोडशीप्रजापति ,,
३७५–विश्वप्रविष्ट-गूढोत्मा ,,
३७६–अर्थप्रधान-क्षरात्मा, और ऋग्वेद ,,
३७७–क्रियाप्रधान-अक्षरात्मा, और सामवेद ,,
३७८–ज्ञानप्रधान-अव्ययात्मा, और यजुर्वेद ,,
३७९–समष्ट्यात्मक-वेद-स्वरूप-समन्वय १७१
३८०–समष्टिवेदानुगत परिलेख ,,
३८१–प्राणगावात्मक-समष्टिवेद-परिलेख

इति–वेदनिरुक्तौ समष्टिरूपेण–आत्मवेदनिरुक्तिः

——*——

अथ–वैज्ञानिकवेदनिक्तौ ब्रह्म-विद्या-वेद-भिन्ना-ज्ञानलक्षणा-वेदनिरुक्तिः

——*——

३८२–'वेद'- 'विद्या' - 'ब्रह्म' - शब्दत्रयी का संस्मरण १७५
३८३(क)-विज्ञानतत्त्व के अवस्थाकृत विभिन्नभेद-भावों का संस्मरण १७५
३८३(ख)–उपाधिकृत भेद-स्वरूप ,,
३८४–यथार्थज्ञान, और तत्स्वरूपाभिव्यञ्जक प्रत्यक्ष-अनुमान-उपमान-शब्द नामक चतुर्विध-प्रमाण ,,
३८५–प्रमाणचतुष्टयी से अनुगत सत्यज्ञान का संशय-विपर्य्ययादि से असंस्पृष्ट निर्भ्रान्त-ज्ञानतत्त्व ,,
३८६–प्रमाजनक-प्रमाण ,,
३८७–प्रमाण-शब्दनिर्वचन ,,
३८८–प्रत्यक्षप्रमाण का संस्मरण ,,
३८९–अनुमानप्रमाण का संस्मरण ,,
३९०–उपमानप्रमाण का संस्मरण ,,
३९१–शब्दप्रमाण का संस्मरण ,,
३९२–चिदंश की सर्वव्याप्ति ,,
३९३–विश्वव्यापक चैतन्य का स्वरूप-समन्वय, और कठोपनिषत् ,,
३९४-योगमाया का अनुग्रह ,,
३९५–अन्तःकरणावच्छिन्न चिदात्मा ,,
३९५–उक्थ, और अर्कभाव
३९६–वैश्वानर-तैजस-प्राज्ञ- मूर्त्ति-जीवात्मा का विषयबोध १७६
३९७–चिद्भावानुबन्धी-उक्थ -अर्क - अशीति-नाम के तीन विवर्त्त ,,
३९८–आत्मा, और अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्य ,,
३९९–आत्मरश्मियाँ, और अन्तःकरणवृत्त्यव-च्छिन्न चैतन्य ,,
४००–आत्मभोग, और विषयावच्छिन्न-चैतन्य ,,
४०१–प्रत्यक्ष का चेतन्यावच्छिन्न-स्वरूप-लक्षण ,,
४०२–अन्तःकरणावच्छिन्न-चैतन्य-रूप-प्रमाता ,,
४०३–वृत्यवच्छिन्न-चैतन्यरूप-प्रमाण ,,
४०४-अन्तःकरणवृत्ति का दार्शनिक-स्वरूप ,,
४०५–अन्तःकरणवृत्तिरूप-'विज्ञान' ,,

४०६-विषयभेदभिन्न ज्ञान से अनुगत-महिमा-मय-तीन-विवर्त्त १७६
४०७-विषयावच्छिन्न-ज्ञान, और-तद्रूप 'ब्रह्म' ,,
४०८-शब्दावच्छिन्न-ज्ञान, और तद्रूप 'वेद' ,,
४०९-संस्कारावच्छिन्न-ज्ञान, और तद्रूपा 'विद्या' ,,
४१०-'त्रयं-ब्रह्म', और-'ब्रह्म' ,,
४११-'त्रयो-वेदाः', और-'वेद' ,,
४१२-'त्रयी-विद्या', और-'विद्या' ,,
४१३-ब्रह्म, विद्या, और वेद-शब्दों का प्रकारान्तर से स्वरूप-समन्वय १७७
४१४-पाष्टिज्ञान का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
४१५-शब्द, और अर्थ का संस्मरण ,,
४१६-पार्वतीपरमेश्वर से समतुलित-शब्दार्थ का अभिन्न-सम्बन्ध ,,
४१७-'सर्वं शब्देन भासते' का संस्मरण ,,
४१८-संस्कार, और शब्द से समन्विता अन्तः-करणवृत्ति ,,
४१९-संस्कारज्ञानरूपा वृत्ति का अर्थज्ञानशब्द-ज्ञानमयत्त्व-समर्थन ,,
४२०-ब्रह्म-वेद-विद्या-शब्दों का अंशतः-परस्पर-पर्य्याय-सम्बन्ध १७८
४२१-तीनों की विजातीयता, एवं आंशिक-सजा-तीयता का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
४२२-ज्ञानत्त्वेन तीनों का अभेदप्रतिपादन ,,
४२३-एकं वा इदं वि बभूव सर्वम् ,,
४२४-मुण्डकश्रुति का संस्मरण ,,
४२५-यजुःश्रुति का संस्मरण ,,
४२६-सर्वज्ञ-सर्वशक्ति-सर्ववित्-ब्रह्म का संस्मरण ,,
४२७-तथाभूत-ब्रह्म से ब्रह्म, नामरूप, एवं अन्न का प्रादुर्भाव ,,
४२८-ब्रह्मानुगता-अर्थसृष्टि ,,
४२९-नामरूपानुगता-शब्दसृष्टि ,,
४३०-अन्नानुगता-उभयसृष्टि ,,
४३१-सृष्टित्रयी में इतर-सम्पूर्ण-सृष्टियों का अन्तर्भाव १७८
४३२-ज्ञान, तथा क्रिया की आधाररूपा-प्रतिष्ठा, और अर्थतन्त्र ,,
४३३-पदार्थ का प्रतिष्ठात्मक स्वरूप-समन्वय ,,
४३४-बिभर्त्ति ज्ञान-तद्ब्रह्म १७९
४३५-'ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा' ,,
४३६-प्रजापति के प्रथम-'ब्रह्म' विवर्त्त का तात्त्विक-स्वरूप समन्वय ,,
४३७-नाम-रूपानुग्राहक-शब्दविवर्त्त ,,
४३८-प्रजापति के नामरूपात्मक द्वितीय-विवर्त्त का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
४३९-संस्कारावच्छिन्न प्रजापति की अन्नरूपता ,,
४४०-उक्थानुगत-अर्कभाव ,,
४४१-आत्मानुगत-अशीतिभाव ,,
४४२-'अशीतिभिर्हि महदुक्थमाप्यायते' ,,
४४३-उक्थ, और महदुक्थ-शब्दों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
४४४-अन्नानुगत-सत्त्व-रज-स्तमोभाव का रहस्यात्मक-समन्वय ,,
४४५-'सङ्गात् सञ्जायते कामः' का पारिभाषिक-समन्वय ,,
४४६-सुसङ्ग, और कुसङ्ग का समतुलन ,,
४४७-भैषज्ययज्ञ का संस्मरण ,,
४४८-प्रजापति के क्रमप्राप्त तीसरे-'अन्नविवर्त्त' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
४४९-'ब्रह्म', और 'प्रतिष्ठातत्त्व' १८०
४५०-'नामरूप', और 'ज्योतिस्तत्त्व' ,,
४५१-'अन्न', और-'यज्ञतत्त्व' ,,
४५२-समष्टि की-'सर्वरूपता ,,
४५३-यज्ञात्मक-अन्न, और तन्निबन्धन-संस्कारावच्छिन्न-ज्ञान ,,
४५४-संस्कारावच्छिन्न ज्ञान, और 'विद्या' ,,
४५५-प्रतिष्ठात्मक-ब्रह्म, और तन्निबन्धन-विषयावच्छिन्न-ज्ञान ,,

४५६–विषयावच्छिन्न ज्ञान, और-'ब्रह्म' १८०
४५७–ज्योतिर्भावात्मक नामरूप, और शब्दावच्छिन्न-ज्ञान ,,
४५८–शब्दावच्छिन्न ज्ञान, और वेद ,,
४५६–कार्य्यदृष्टि, और ब्रह्म-वेद-विद्या-भावों की विभिन्नता ,,
४६०–कारणदृष्टि, और तीनों की अभिन्नता ,,
४६१–'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' का समन्वय ,,
४६२–महाभूतानुगत विवर्त्त का संस्मरण ,,
४६३–पार्थिव-मृद् विभाग-चतुःषष्टि-[६४] ,,
४६४–आप्यविभाग-त्रिंशत्-[३०] ,,
६४५–तेजोविभाग-दश-[१०] ,,
६५६–वायुविभाग-एकोनपञ्चाशत्-[४६] ,,
४६७–१५८ विभागों का पाँच-विभागों में अन्तर्भाव ,,
४६८–त्रिवत्करणविद्या का संस्मरण ,,
४६६–ऐतदात्म्यमिदं सर्वम् ,,
४७०–सर्वं खल्विदं ब्रह्म ,,
४७१–'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' ,,
४७२–'प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च' ,,
४७३–सदसद्रूप कारणब्रह्म, और तत्कार्य्यरूप ब्रह्म-वेद-विद्या-विवर्त्त ,,
४७४–भेदसहिविष्णु-अभेदसम्बन्ध ,,
४७५–घटोऽयं मृत्तिकैव ,,
४७६–घटोऽयं मृत्तिकाजन्यः ,,
४७७–ब्रह्मैवेदमीश्वरः ,,
४७८–त्रिधेयमीश्वरः ,,
४७६–वेदोऽयमीश्वरः ,,
२८०–ब्रह्मेदमीश्वरः ,,
४८१–विद्येयमीश्वरकृता ,,
४८२–वेदोऽयमीश्वरकृतः
४८३–वेद की परमेश्वररूपता १८१
४८४–विभिन्नदृष्टि-कोणों के माध्यम से सभी तत्त्ववादों का निर्विरोध-निरापद-समन्वय ,,
४८५–'शास्त्रयोनित्त्वात्' का मङ्गल-संस्मरण ,,
४८६–ब्रह्मात्मिका-प्रतिष्ठा १८१
४८७–प्रतिष्ठानुगता-सत्ताकला ,,
४८८–सत्तात्मक-ऋग्वेद ,,
४८६–नामरूपात्मक-ज्योतिर्भाव ,,
४६०–ज्योतिरनुगता-चेतना-कला ,,
४६१–चेतनात्मक सामवेद ,,
४६२–अन्नात्मक-यज्ञभाव ,,
४६३–यज्ञानुगता-आनन्दकला ,,
४६४–आनन्दात्मक-यजुर्वेद ,,
४६५–'वेद'-रूप वेद, और तन्निबन्धन सामवेद ,,
४६६–'ब्रह्म' रूप वेद, और तन्निबन्धन ऋग्वेद ,,
४६७–'वागज्योतिरयं पुरुषः' का समन्वय ,,
४६८–'सर्वं शब्देन भासते' ,,
४६६–गद्य-पद्य-गेय-भेदभिन्न शब्दविवर्त्त ,,
५००–पद्यात्मक-शब्दविवर्त्त, और यजुर्वेद ,,
५०१–गेयात्मक-शब्दविवर्त्त, और सामवेद ,,
५०२–त्रयीवेद का तात्त्विक-समन्वय १८२
५०३–'गीतिषु-समाख्या' का समन्वय ,,
५०४–'विद्या' रूप वेद, और तन्निबन्धन-ऋजुर्वेद ,,
५०५–संस्कार के जनक ,,
५०६–संस्कार का द्वैविध्य ,,
५०७–ज्ञानजनिक-संस्कार, और भावना ,,
५०८–शब्दात्मक-संस्कार का ऋग्वेदत्त्व ,,
५०६–वेदत्रयी का परिलेख १८३
५१०–प्रतिष्ठालक्षणे––सत्तात्मके––ब्रह्मवेदे–ऋग्वेदे-वेदत्रयोपभोगः ,,
५११–ज्योतिर्लक्षणे-चिन्मये––वेदवेदे-सामवेदे वेदत्रयोपभोगः ,,
५१२–आत्मलक्षणे––आनन्दमये-विद्यावेदे-यजुर्वेदे-वेदत्रयोयोपभोगः ,,
५१३–चतुष्पाद्ब्रह्म की कारणरूपता १८४
५१४–उपादानकारणात्मक-आत्मब्रह्म ,,
५१५–निमित्तकारणात्मक-आत्मब्रह्म ,,

५१६–आलम्बनकारणात्मक-आत्मब्रह्म १८४
५१७-कारणभूत-आत्मब्रह्म से अनुगता स्थूलदृष्टि ,,
५१८–ब्रह्म-नामरूप-अन्न-का उपबृंहण, और तद्-रूप विश्व ,,
५१९–प्रकृतिसिद्ध वेदावतारकर्म्म का पावन संस्मरण ,,
५२०–आत्मानुगत वेद के सम्बन्ध में बिभिन्न दृष्टिकोणों का संस्मरण ,,
५२१–मूलवेद का स्वरूप-दिग्दर्शन-प्रयास, और वेदनिरुक्तियाँ ,,
५२२–वेदग्रन्थों का वेद से असंस्पृष्टत्व ,,
५२३–वेदतत्त्वप्रतिपादक--शब्दशास्त्रमात्र--अमुक ग्रन्थविशेष ,,
५२४–प्रकीर्णक-वेदभावों का नामसंस्मरण ,,

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ ब्रह्म-विद्या-वेद-भिन्ना–ज्ञानलक्षणा-आत्मवेदनिरुक्तिः ११

अथ–वैज्ञानिकवेदकिरुक्तौ पर्ववेदनिरुक्तिः-प्रकीर्णभावापन्ना १२

५२५–पर्ववेदात्मक-त्रयीवेद १८६
५२६–त्रयीवेद की मूलप्रतिष्ठारूप अग्नितत्त्व ,,
५२७–अनन्त-व्यष्टि-गर्भिता-समष्टि, और तत्-रूप महाविश्व ,,
५२८–सोमगर्भित-अग्नि के द्वारा महाविश्व का स्वरूप-सम्पादन ,,
५२९–बृहज्जाबालोपनिषत् के द्वारा समर्थन ,,
५३०–शिवरूप अग्नि, और शक्तिरूप सोम की व्यापकता १८६
५३१–रयि-योषा-आर्द्र-स्नेह-आज्य-आदि सोम वर्ग ,,
५३२–प्राण-वृषा-शुष्क-तेज-पृष्ठ-आदि अग्निवर्ग ,,
५३३–वेदमूर्त्ति विश्वात्मा के अग्नि-सोम-विवर्त्त ,,
५३४–अत्ता, और आद्य का समन्वय ,,
५३५–आद्यगर्भित अत्ता अग्नि के आधार पर पर्ववेद की स्वरूपाभिव्यक्ति ,,
५३६–पर्वधातु, और कनिन् प्रत्यय २९०
५३७–पर्वशब्द के बिभिन्न निर्वचनों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
५३८–पर्व के द्वारा क्षतिपूर्त्ति, और पर्व का पूरकत्व-धर्म्म ,,
५३९–शारीरिक-पर्व, उत्सवात्मक पर्व, अहोरात्रानुगत पर्व, आदिरूपेण पर्वशब्द की विभिन्ना व्याप्तियों का संस्मरण ,,
५४०–विश्व के क्षतिपूरक-उक्थ-पृष्ठ-ब्रह्म-नामक तीन पारिभाषिक-पर्व ,,
५४१–पारिभाषिकी-पर्वत्रयी से अनुप्राणित पर्व-वेदत्रयी ,,
५४२-पदार्थों का अग्निमयत्त्व ,,
५४३–अग्नि की अवस्थात्रयी, और उक्थ-पृष्ठ-ब्रह्म-त्रयी ,,
५४४–वस्तु का उपक्रम, और उक्थभाव ,,
५४५–प्रकाश का उक्थ-दीपार्चि ,,
५४६–शब्दों का उक्थ वागिन्द्रिय ,,
५४७–दृष्टि का उक्थ-चक्षु ,,
५४८–ओषधि-वनस्पतियों का उक्थ-पृथिवी ,,
५४९–लिपि का उक्थ-लेखिनी ,,
५५०–न्याय का उक्थ-न्यायाधीश ,,
५५१–उपदेश का उक्थ-आचार्य्य ,,
५५२ सुलोकों का उक्थ–पुण्य ,,
५५३–अधोलोकों का उक्थ–पाप ,,

५५४–विदेहमुक्ति का उक्थ-निष्कामभाव १८६
६५५–आध्वर्य्यवकर्म्म का उक्थ-अध्वर्यु "
५५६–हौत्रकर्म्म का उक्थ-होता "
५५७–औद्गात्रकर्म्म का उक्थ-उद्गाता "
५५८–आरम्भस्थानानुगत-उक्थ-भाव १९०
५५९–हृदयात्मक-आरम्भस्थान "
५६०–हृदय से वस्तु का प्रस्ताव "
५६१–उक्थ, और प्रस्ताव "
५६२–उपक्रम-बीजरूप-प्रस्ताव "
५६३–हृदयस्थानीय-प्रस्तावबिन्दु की उक्थरूपता "
५६४–उक्थरूप-ऋग्भाव "
५६५–हृदयपर्व, और उक्थात्मिका ऋक् "
५६६–सापेक्षभावानुबन्धी 'आरम्भ' शब्द "
५६७–प्रस्तव, और निधन "
५६८–नाश, और तन्निबन्धन मृत्युभाव "
५६९–अवसान, और मृत्युभाव "
५७०–वस्तु का अन्तिम-आवरण, और निधनभाव "
५७१–निधनात्मक-छन्द "
५७२–छन्दोरूप-वयोनाध "
५७३–वयोनाधात्मक-पारावतपृष्ठ "
५७४–'पृष्ठ' के पारिभाषिक-स्वरूप-का-समन्वय "
५७५–पृष्ठात्मक-सामभाव "
५७६–अवसानात्मक-सामभाव "
५७७–प्रस्तावात्मिका-ऋक् "
५७८–निधनात्मक-साम "
५७९–अनिरुक्तभावापन्न-हृदय "
५८०–निरुक्तभावापन्ना-परिधि "
५८१–अनिरुक्त-मूलभाव "
५८२–निरुक्त-मूलभाव "
५८३–उक्थात्मक-अनिरुक्तभाव "
५८४–पृष्ठात्मक-निरुक्तभाव "
५८५–संकोचात्मक-उक्थभाव १९२
५८६–विकासात्मक-पृष्ठभाव "
५८७–उक्थ की ही पृष्ठरूपता "
५८८–ऋक् की ही सामरूपता १९२
५८९–'ऋच्यधूढं साम गीयते' का पारिभाषिक समन्वय "
५९१–(क)–'त्रिचं साम' "
५९१–(ख)–'ऋचा समं मेने, तस्मात् साम' "
५९२–हृदयरूप-उक्थपर्व, और ऋग्वेद "
५९३–परिधिरूप-पृष्ठपर्व, सामवेद "
५९४–प्रतीति, और भाति का समतुलन "
५९५–सत्तासिद्ध-पदार्थ का स्वरूप-समन्वय "
५९६–'वस्तुभाव' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय "
५९७–सत्तासिद्ध-पदार्थ, और 'ब्रह्म' भाव "
५९८–हृदय-और परिधि-से सीमित-'रसभाव' "
५९९–रसभाव का उपबृंहणधर्म्म "
६००–उपबृंहणधर्म्म, और 'ब्रह्म' भाव "
६०१–'ब्रह्म' पर्व, और यजुर्वेद "
६०२–वस्तुपूरक अग्निमय-तीन-पर्व, और तन्निबन्धन-पर्ववेद "
६०३–पर्वत्रयी का अन्योऽन्याश्रयत्त्व "
६०४–पदार्थमात्रानुबन्धिनी पर्वत्रयी, और तदभिन्ना वेदत्रयी "
६०५–पर्वत्रयी-रूपेण वेदत्रयी का विश्व में साम्राज्य "
६०६–पर्ववेदसंस्था-परिलेखः १९३

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(१)पर्ववेदनिरुक्तिः-प्रकीर्णभावापन्ना

१२

——*——

अथ–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ (२)-भावनावेदनिरुक्तिः-प्रकीर्ण-भावापन्ना

१३

—*—

६०७(ख–)ज्ञान, और कर्म्म के साम्राज्य का संस्मरण १९७
६०८–कर्म्मगर्भित-ज्ञानतत्त्व, और तत्प्रधान विश्वात्मा ,,
६०९–ज्ञानगर्भित-कर्म्मतत्त्व, और तत्प्रधान विश्व ,,
६१०–विश्वात्मा की 'नियति' से सञ्चालित विश्व ,,
६११–विश्वात्मा की अप्रतिहता प्रेरणा ,,
६१२–नियतिर्दण्डात्मक महद्भय ,,
६१३–कर्म्मधारा का परितः प्रवाह ,,
६१४–'कर्म्मभावना', और वेदोपलब्धि ,,
६१५–'भावना' शब्द का पदे पदे अभिनय ,,
६१६–'भावना' के विविध विवर्त्त ,,
६१७–'कर्म्मभावना', तथा 'ज्ञानभावना' रूपेणभावना के दो महिमा-विवर्त्त ,,
६१८–सत्ता-स्वभाव- अभिप्राय- चेष्टा-आत्म-जन्म-क्रिया-विभूति-बन्धु-आदि - विविध-भावानात्मक-विवर्त्त, और कोशकार ,,
६१९–'भावो-भावना-क्रिया' आदिरूपेण व्याकरणसम्मता भावना ,,
६२०–उत्तर का लोकसंग्रहदृष्ट्या समादर ,,
६२१–वेदत्रयी का स्वरूपसंसाधक-भावनावेद ,,
६२२–'भावना' रूप परिभाषिक तत्त्व से समन्वित 'क्रतु', और 'दक्ष' १९८
६२३–भावना-मात्र में क्रतु, और दक्ष की व्यापकता ,,
६२४–क्रतु-दक्ष-की समन्वितावस्था से ही-'भावना' की स्वरूप-निष्पत्ति ,,
६२५-क्रतु, और दक्ष के रहस्यपूर्ण-पारिभाषिक-स्वरूप का विश्लेषक-श्रौत सन्दर्भ १९८
६२६–दैवात्मा का मित्र-क्रतुभाव १९९
६२७-दैवात्मा का वरुण-दक्षभाव ,,
६२८–कामना, और क्रतु ,,
६२९–कामपूर्त्ति, और दक्ष ,,
६३०–ब्रह्म, और क्रतु ,,
६३१-क्षत्र और दक्ष ,,
६३२–अभिगन्ता, और क्रतु ,,
६३३–कर्त्ता, और दक्ष ,,
६३४–ब्रह्म-क्षत्र का साह-समन्वय ,,
६३५–मित्र-वरुण का ,, ,,
६३६–ब्राह्मण-क्षत्रिय का ,, ,,
६३७–ज्ञान-कर्म्म का ,, ,,
६३८–क्रतु-दक्ष का ,, ,,
६३९–समन्वयमूलक-'मैत्रावरुणग्रह' ,,
६४०–मित्र-पुरोहित की स्वरूप-परिभाषा ,,
६४१–समृद्धि के पारिभाषिक तथ्यों का स्वरूप-समन्वय ,,
६४२-ज्ञानरूप ब्रह्म का स्वातन्त्र्य ,,
६४३–कर्म्मरूप क्षत्र का पारतन्त्र्य ,,
६४४–ज्ञानोपासक-ब्राह्मणतन्त्र ,,
६४५–कर्म्मानुगत-सत्तातन्त्र ,,
६४६–ब्राह्मणतन्त्र का स्वातन्त्र्य ,,
६४७–सत्तातन्त्र का पारतन्त्र्य ,,
६४८–राष्ट्रसमष्टि का रहस्यात्मक समन्वय ,,
६४९–'ग्रहयाग' का संस्मरण ,,
६५०–'कर्म्मप्रेरणा, कर्म्म, कर्म्मसिद्धि, रूप तीन विभाग, और तत्समन्वय ,,
६५१–उदाहरणात्मक-यज्ञकर्म्म ,,
६५२–यज्ञकर्म में ऋत्विजों का वरण ,,
६५३–यज्ञेतिकर्त्तव्यता का अनुगमन, और ऋत्विजों के आदेश ,,
६५४–यज्ञ-पारणाम-वेत्ता ऋत्विक ,,

६५५–कर्म्मपरिणामदर्शी-ऋत्विग्ब्राह्मण १९९
६५६–कर्म्मोत्थान का आरम्भस्थान, और ब्राह्मण ,,
६५७–ब्राह्मण, और 'कर्म्मोपक्रम' ,,
६५८–कर्म्म का अवसानस्थान, और 'कर्म्मसिद्धि' ,,
६५९-स्वयं यज्ञकर्म्म, और 'कर्म्ममध्य' ,,
६६०–ब्रह्म-क्षत्रोभय-सहयोग की व्याप्ति, और कर्म्मसिद्धि का संस्मरण ,,
६६१–श्रौतसिद्धान्त की रहस्यात्मिका-व्याप्ति का समन्वय ,,
६६२-ब्रह्म, और उसका कर्म्मशैथिल्य २००
६६३–क्षत्र, और उसका आदेशदानशैथिल्य ,,
६६४-ब्रह्म का भी ज्ञानकर्म्मोभयत्त्व, किन्तु-प्रधानरूपेण-ज्ञानानुगतत्त्व ,,
६६५-क्षत्र का भी कर्म्मज्ञानोभयत्त्व, किन्तु प्रधानरूपेण-कर्म्मानुगतत्त्व ,,
६६६–ब्रह्म, और आज्ञाप्रदान ,,
६६७–क्षत्र, और आज्ञानुवर्त्तन ,,
६६८-वर्गीकरण की अनिवार्य्यता, और तन्मूला समृद्धि ,,
६६९-उभयानुगमन से उभय-धर्म्मों का अभिभव, और समृद्धि का अवरोध ,,
६७०-ज्ञान के स्वातन्त्र्य का स्वरूप-संरक्षण, और तन्निबन्धनोपाय–प्रदशन ,,
६७१–मैत्रावरुणग्रहपतिपादिका-श्रुति के द्वारा समृद्धिवीज का स्पष्टीकरण ,,
६७२-हितैषी, और मित्र २०१
६७३–द्वेषी, और वरुण ,,
६७४–एक रहस्यपूर्ण-आपत्ति ,,
६७५- आपत्ति-निराकरणोपक्रम ,,
६७६–कम्मप्रवृत्ति, और मित्रभाव ,,
६७७–कर्म्मसिद्धि, और शत्रुभाव ,,
६७८–कर्म्मावसानरूपा कर्म्मसिद्धि ,,
६७९–कर्म्मावसान का महान् शत्रुत्व ,,
६८०–श्रौत-शब्दों के रहस्यार्थों का स्वरूप-समन्वय, और तन्निबन्धन मित्र, तथा वरुण-शब्द २०१
६८१–सिद्धि के साथ मानवप्रज्ञा की शत्रुता ही कर्म्मप्रवृत्ति का अन्यतम–द्वारा २०२
६८२–पूर्वभावी-संकल्प ,,
६८३–उत्तरभाविनी-कर्म्मसिद्धि ,,
६८४- मध्यस्थ-कर्म्म ,,
६८५–भावना, वासना-त्मक संकल्प ,,
६८६–भावना-वासनात्मक संस्कारों के द्वारा-मानस-विकास का अवरोध ,,
६८७–स्मृति के उत्तेजक-संस्कार ,,
६८८–उत्तेजनात्मक-क्षोभ ,,
६८९–क्षोभानुगता-अशान्ति ,,
६९०–अशान्तिमूलक-दुःख ,,
६९१–दुःखरूपा महामृत्यु, और तन्निबन्धन महाविनाश ,,
६९२–मृत्युपाश से आत्मपरित्राण का अन्यतम उपाव ,,
६९३–कामभावानुगता प्रवृत्ति ,,
६९४-प्रकृतिकर्म्मानुगता कर्म्मसिद्धि ,,
६९५–'त मन्दोऽपि प्रवर्त्तते' का संस्मरण ,,
६९६–सिद्धि की वरुणरूपता में एक महती अन्या विप्रतिपत्ति, और तन्निराकरणप्रयास ,,
६९७–मध्यस्थ-कर्म्म के माध्यम से ही विप्रतिपत्ति का सम्भावित निराकरण ,,
६९८–आरम्भलक्षण, और सिद्धिभाव की लक्ष्या-रूढता २०३
६९९–लक्ष्यानुगति, और संसिद्धि का जन्म ,,
७००–लक्ष्यपूरक-कर्म्म ,,
७०१–कर्म्म के प्रति अनन्यता, और लक्ष्यसिद्धि ,,
७०२–कर्म्मानुगत-अधिकार ,,
७०३–फलानुगत-अधिकार ,,
७०४–फलचर्व्वणा से कर्म्माधिकार-शैथिल्य ,,

७०५–फलचर्वणा से सम्भावित दो महान्-अनिष्ट २०३
७०६–संकल्पानुगता सिद्धि की अधिकारात्मिका-चर्व्वणा का अन्यतम-शत्रुत्त्व ”
७०७–सिद्धि की श्रुतिनिबन्धना 'वरुणरूपता' का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ”
७०८–सिद्धिदास-मानवों का कर्म्मशून्यत्त्व ”
७०९–ज्ञानसिद्ध- लक्ष्मीसिद्ध - भोजनसिद्ध-आदि सिद्धों की अतिमानात्मिका-अकर्म्मण्यता का दिग्दर्शन ”
७१०–समृद्धि से अनुगत अतिमान का शत्रुत्त्व ”
७११–सिद्धिरूप-वारुणपाश से आत्मत्राण का एकमात्र-उपाय ”
७१२–क्रतुरूप ब्रह्मभाव का पूर्वरूपत्त्व ”
७१३–दक्षरूप क्रतुभाव का उत्तररूपत्त्व ”
७१४–उभयानुगत कर्म्मभाव का मध्यरूपत्त्व ”
७१५–त्रिपर्वा-भावनात्मक-पदार्थ, और तन्निबन्धन-'भावनात्मवेद' ”
७१३–ब्रह्मानुगत-अनुज्ञाकर्म्म ”
७१४–क्षत्रानुगत-धाराकर्म्म ”
७१५–परिणामी–समृद्धिकर्म्म ”
७१६–भावनाकर्म्मानुगता-प्रस्तावना, और तन्निबन्धना–अनुज्ञा ”
७१७–उपक्रमात्मिका-प्रस्तावना, और तन्निबन्धन उक्थभाव २०४
७१८–उक्थरूपा-अनुज्ञा, और 'ऋग्वेद' ”
७१९–कर्म्मसिद्धिरूप निधनभाव, और तन्निबन्धन-'सामवेद' ”
७२०–मध्यस्थ-यजनरूप-कर्म्म, और 'यजुर्वेद' ”
७२१–भावनाजगत्, और तदनुगत-त्रयीवेद का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ”
७२२–मित्रः-ब्रह्म-ज्ञानम्-उपक्रमः, और तन्निबन्धन-'ऋग्वेद' ”
७२३–कर्म्म-पुरुषार्थः-प्रवृत्तिः–मध्यबिन्दुः, और तन्निबन्धन–'यजुर्वेद' २०४
७२४–दक्षः–क्षत्रम्–कर्म्म–उपसंहारः, और तन्निबन्धन-'सामवेद' ”

इति—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(२)—भाववेदनिरुक्तिः–
प्रकीर्णभावापन्ना
१३

—*—

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(३)—भाववेदनिरुक्तिः–
प्रकीर्णभावापन्ना
१४

—*—

७२५–भाव, और भावना के अभेद का आंशिक समन्वय-प्रयास २०६
७२६–क्रियादृष्टि से अनुप्राणिता उभय-भिन्नता ”
७२७–परमार्थदृष्टि से 'भाव', और 'भावना' की विभिन्नता ”
७२८–अन्तर्जगदनुगता क्रिया, और 'भावना' ”
७२९–बहिर्जगदनुगता क्रिया, और 'भाव' ”
७३०–भावनामय पदार्थों का ज्ञानमण्डल में प्रवेश ”
७३१–ज्ञानसीमा से बहिर्भूत पदार्थों का भावमयत्त्व-संस्थापन ”
७३२–भावनात्मक पदार्थों के निर्म्माता अन्य व्यक्ति, और ईश्वर ”
७३३–भाव, और भावना-शब्दों से अनुप्राणित सुसूक्ष्म-पारिभाषिक-भेद का समन्वय ”
७३४–पदार्थसत्ता के दो विभिन्न-स्वरूप ”

७३५–ज्ञानपूर्विका-सत्ता २०९
७३६–सत्तापूर्वक-ज्ञान ,,
७३७–ज्ञानपूर्वक पदार्थों का अस्तित्व ,,
७३८–अस्तिपूर्वक-पदार्थों का ज्ञान
७३९–ज्ञानपूर्विका सत्ता, और तन्निबन्धना भावना ,,
७४०–सत्तापूर्वक-ज्ञान, और तन्निबन्धन भाव ,,
७४१–ज्ञानानुगृहीत पदार्थों का भावनामयत्त्व ,,
७४२–सत्तानुगृहीत पदार्थों का भावमयत्त्व ,,
७४३–'भावना', और ज्ञानप्राधान्य ,,
७४४–'भाव', और सत्ता-प्राधान्य ,,
७४५–भावना, और भाव के पार्थक्य का तात्त्विक स्वरूप-समन्वय २१०
७४६–भावरूप पदार्थों से अनुप्राणित प्रतिक्षणानुगत-परिवर्त्तन ,,
७४७–अनन्तभावविकारों का षड्भावविकारों में अन्तर्भाव ,,
७४८–'जायते'-रूप प्रथम भावविकार ,,
७४९–'अस्ति'-रूप द्वितीय ,, ,,
७५०–'विपरिणमते'-रूप-तृतीय ,, ,,
७५१–'वर्द्धते' रूप-चतुर्थ ,, ,,
७५२–'अपक्षीयते'-रूप-पञ्चम ,, ,,
७५३–'नश्यति'-रूप-षष्ठ ,, ,,
७५४–"अतोऽन्ये भावविकाराः--एतेषामेव विकारा भवन्तीति ह्स्माह वार्ष्यायणिः" २११
७५५–आरम्भानुगता-भावविकारचतुष्टयी, और ऋग्वेद ,,
७५६–पञ्चम-भावविकार, और यजुर्वेद ,,
७५७–अन्तिम-भावविकार, और सामवेद २११
७५८–भाववेदत्रयी-स्वरूप-परिलेखः ,,

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(३)—भाववेदनिरुक्तिः-
प्रकीर्णभावापन्ना
१४

—*—

अथ–वैज्ञानिक–वेदनिरुक्तौ
(४)—दिग्वेदनिरूक्तिः
प्रकीर्णभावापन्ना
१५

७५९–सत्तासिद्ध-पदार्थ २१५
७६०–भातिसिद्ध-पदार्थ ,,
७६१–उभयसिद्ध-पदार्थ ,,
७६२–विशुद्धसत्तासिद्ध-पदार्थ ,,
७६३–वर्त्तमानानुबन्धी-सत्तासिद्ध–पदार्थ ,,
७६४–चर्म्मचक्षु से अतीत सत्तासिद्ध पदार्थ ,,
७६५–ईश्वर-जीव-परलोक-प्राण-मन-बुद्धि-चित्त–महान्-अव्यक्त-देवशक्तियाँ-आदि प्रत्यक्षातीत सत्तासिद्ध-पदार्थ ,,
७६६–वर्त्तमानानुबन्धी–सत्तासिद्ध–पदार्थों का स्वरूप-समन्वय ,,
७६७–उभयसिद्ध-पदार्थों का स्वरूप-दिग्दर्शन ,,
७६८–व्यवहारभावानुगत-भातिसिद्ध-पदार्थ ,,
७६९–दिक्-देश-काल-संख्या–परिमाण—आदि पदार्थों का भातिसिद्धत्त्व ,,
७७०–अस्तित्त्व से असंस्पृष्टा भातियाँ ,,
७७१–अस्ति, और भाति का पार्थक्य ,,

७७२–सत्तारूपेण-पदार्थोपलब्धि, और वेद का सम्बन्ध २१६
७७३–भातिरूपेण-पदार्थोपलब्धि, और वेद का सम्बन्ध ,,
७७४–उभयरूपेण-पदार्थोपलब्धि, और वेद का सम्बन्ध ,,
७७५–वेदतत्त्व की सर्वव्याप्ति का संस्मरण ,,
७७६–सर्वव्याप्तिलक्षण-विश्वमूर्त्ति वेद का पदार्थ त्रयी के भेद से तीन संस्थाओं में विभाजन ,,
७७७–तीनों संस्थाओं के रहस्यात्मक-उदाहरण का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
७७८–हृदय-परिधि-सत्तारस-रूप पर्ववेद का संस्मरण ,,
७७९–पर्ववेदानुगत–उभयसिद्धा वेदसंस्थानुगत–उदाहरण ,,
७८०–मानसभावनानुगत-'भावनावेद' का संस्मरण ,,
७८१-भावनावेदानुगत-भातिसिद्ध वेदसंस्था का उदाहरण ,,
७८२–बहिर्जगदनुबन्धी-भाववेद का संस्मरण ,,
७८३–भाववेदानुगत-सत्तासिद्धा वेदसंस्था का उदाहरण ,,
७८४–विशुद्धभातिसिद्धा-वेदसंस्था के तात्त्विक उदाहरण का स्वरूप-समन्वय ,,
७८५--रहस्यात्मक-वर्गीकरण, और सप्तविध वेद-संस्थाओं का नाम-संस्मरण ,,
७८६-क्रमप्राप्ता चतुर्थी-दिग्वेदसंस्था, और उस का रहस्यात्मक-स्वरूप-समन्वय ,,
७८७-दशविध-दिशाओं का प्रमुख चार दिशाओं में अन्तर्भाव ,,
७८८–ऊर्ध्व-अधः-स्वस्तिक-भाव ,,
७८९–मित्रार्द्धकपाल २१७
७९०–वरुणार्द्धकपाल ,,
७९१–ऐन्द्र-पर्वकपाल ,,
७९२–वरुण-पश्चिमकपाल ,,
७९३–मैत्रावरुणग्रह, और दिक्तत्त्व २१७
७९४–पूर्वादिक्, और इन्द्रदेवता २१८
७९५–पश्चिमादिक् और वरुणदेवता ,,
७९६–उत्तरादिक्, और चन्द्रदेवता ,,
७९७ दक्षिणादिक्, और यमदेवता ,,
७९८–पूर्वादिक, और ऋग्वेद ,,
७९९–दक्षिणादिक्, और सामवेद ,,
८००–उत्तरादिक्, और सामवेद ,,
८०१–प्रतिचीदिक्, और अथर्ववेद ,,
८०२–दिग्वेदप्रतिपादक-श्रुतिवचन ,,

इति—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ (४)—दिग्वेदनिरुक्तिः-प्रकीर्णभावापन्ना

१५

—*—

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ (५)—देशवेदनिरुक्तिः-प्रकीर्णभावापन्ना

१६

—*—

८०३–स्थानात्मक देशभाव का संस्मरण २२३
८०४–देशानुग्राहिका-दिशा का संस्मरण ,,
८०५–देश की परिचायिका-दिशा ,,
८०६–भातिसिद्धा दिशा के सहयोगी देशभाव का भी भातिसिद्धत्त्व ,,
८०७–पूर्वदेश-पश्चिमदेश--आदिभेदेन-देशभावों का दिगनुबन्धत्त्व-समन्वय ,,
८०८–स्वस्वरूपानुगत--देश का सत्तासिद्धत्त्व–समन्वय ,,

८०६—देशानुगत-प्रदेशभाव २२३
८१०—प्रदेशानुगत-मूर्तिरूप-पिण्डभाव ,,
८११—सत्तासिद्ध-धामच्छद--देशात्मक-पदार्थों के साथ दिगदनुबन्धी भातिसिद्ध-भाव का सम्बन्ध ,,
८१२—पूर्वदेश, और ऋग्वेद ,,
८१३—दक्षिणदेश, और यजुर्वेद ,,
८१४—उत्तरदेश, और सामवेद ,,
८१५—पश्चिमदेश, और अथर्ववेद ,,
८१६—देशशब्द की पर्य्यवसानभूमि सत्तासिद्ध पदार्थ ,,
८१७—उपलब्धि, और अस्तित्त्व ,,
८१८—अस्तित्त्व, और सत्ताभाव ,,
८१६—सत्तात्मक-सूर्य्य की उपलब्धि ,,
८२०—देशात्मक-सूर्य्य, और उसका देश-वेदत्त्व ,,
८२१—मूर्त्ति-मण्डल-गति-भावत्रयी रूप भगवान् सुर्य्यनारायण २२४
८२२—मूलहिण्डात्मक-सूर्य्यदेश, और ऋग्वेद ,,
८२३—अनन्त-अर्कों का आधारभूत उक्थ ,,
८२४—उक्थ का एकत्त्व-समन्वय ,,
८२५—अर्कों का अनेकत्त्व-समन्वय ,,
८२६—अर्कानुगत-स्वतन्त्र-तेजोमण्डल ,,
८२७—तेजोमण्डलरूप देश, और सामवेद ,,
८२८—तेजोमण्डलरूप-बहिःपृष्ठ ,,
८२६—सूर्य्यपिण्डरूप-उक्थपृष्ठ ,,
८३०—मध्यस्थ-सञ्चारीभाव ,,
८३१—सूर्य्यबिम्बतः--भूपृष्ठपर्य्यन्त व्याप्त गतिभाव, और तद्रूप यजुर्वेद ,,
८३२—सत्तासिद्ध—पिण्डमात्र का देशवेदत्त्व ,,
८३३—पिण्डानुगता उक्थ—पृष्ठ-ब्रह्म-त्रयी ,,
८३४—मूलपिण्डात्मक-उक्थभाव ,,
८३५—तूलमण्डलात्मक-पृष्ठभाव ,,
८३६—गतिभावात्मक-ब्रह्मभाव २२४
८३७—स्वज्योतिर्म्मय--सूर्य्यात्मक--उदाहरण का समन्वय ,,
८३८—परज्योतिर्म्मय-उदहरण का संस्मरण ,,
८३६—रूपज्योतिर्म्मय-उदाहरण का संस्मरण ,,
८४०—देशात्मक पदार्थों से अनुगत तीन वेदों का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय ,,
८४१—देशवेदप्रतिपादक-श्रुतिवचन ,,
८४२—मूर्त्ति-उक्थ, और तदनुबन्धी ऋग्वेद २२५
८४३—वस्तुभाव-ब्रह्म--और तदनुबन्धी यजुर्वेद ,,
८४४—मण्डल-पृष्ठ, और तदनुबन्धी सामवेद ,,

इति – वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(५)—देशवेदनिरुक्तिः–
प्रकीर्णभावापन्ना

१६

—*—

अथ—वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(६)—कालवेदनिरुक्तिः–
प्रकीर्णभावापन्ना

१७

—*—

८४५—विश्वसृष्टिप्रवर्त्तक-प्रतिष्ठापुरुष-ब्रह्म २२६
८४६—विश्वसृष्टिपालक-यज्ञपुरुष-विष्णु ,,
८४७—विश्वसृष्टिसंहारक-महापुरुष-महाकाल ,,
८४८—कालसीमा से अतीत-महाकाल ,,
८४६—कालविजयी-मृत्युञ्जय-महाकाल ,,
८४६—(ख) अखण्ड-कालातीत-महाकाल ,,
८५०—उपाधिभावानुगत-कालपुरुष ,,

८५१-अखण्ड-काल के उपाधिभेद निबन्धन भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान-नामक तीन महिमा विवर्त्त २२६
८५२-विशुद्धसत्तासिद्ध--कालातीत--विश्वतीत-अखण्ड-महाकालपुरुष ,,
८५३-सोपाधिक-कालपुरुष की भातिसिद्धता ,,
८५४-खण्डत्रयी से अनुगत भातिभाव ,,
८५५-खण्डत्रयी की सर्वव्याप्ति ,,
८५६-भूतात्मक-कालखण्ड के गर्भ में सृष्टिप्रपञ्च का विलयन ,,
८५७-भविष्यदात्मक-कालखण्ड में सृष्टि का विलयन ,,
८५८-विश्वसत्ताकालात्मक-वर्त्तमानकाल ,,
८५९-सृष्टि का मूलाधार-'भूतकाल' २३०
८६०-वर्त्तमान का जन्मदाता 'भूतकाल' ,,
८६१-अभाव को भाव के प्रति कारणता ,,
८६२-उत्पत्तिदशानुगत-वर्त्तमानकाल ,,
८६३-प्रभवस्थान, और भूतपर्व ,,
८६४-प्रतिष्ठास्थान. और वर्त्तमानपर्व ,,
८६५-परायणस्थान, और भविष्यत्पर्व ,,
८६६-विश्वप्रपञ्च का प्रभवस्थान-भूतकालात्मक-उक्थ, और तन्निबन्धन ऋग्वेद ,,
८६७-विश्वप्रपञ्च का परायणस्थान-भविष्यत् कालात्मक-निधन, और तन्निबन्धन-सामवेद ,,
८६८-विश्वप्रपञ्च का प्रतिष्ठास्थान-वर्त्तमानकालात्मक-पृष्ठ, और तन्निबन्धन-यजुर्वेद ,,
८६९-भूतकालः-सृष्टेः प्रागवस्था-उक्थम्, और ऋग्वेद ,,
८७०-वर्त्तमानकालः--सृष्ट्यवस्था--ब्रह्म, और यजुर्वेद ,,
८७१-भविष्यत्कालः-सृष्टेरुत्तरावस्था पृष्ठम्, और सामवेद ,,
८७२-महाकालवेद-का स्वरूप-समन्वय २३०
८७३-महाकालखण्डत्रयी के अगणित-खण्ड ,,
८७४-महाप्रलय--प्रलय – खण्डप्रलय-नित्य--प्रलयादि-खण्डावस्थाएँ ,,
८७५-कालवेदत्रयी का स्वरूप-समन्वय ,,
८७६-प्रातःकाल, और पूर्वाह्न ,,
८७७-सायंकाल, और अपराह्न ,,
८७८-मध्यकाल, और मध्याह्न ,,
८७९-कालानुगता-वेदत्रयी का स्वरूप-समन्वय-प्रयास ,,
८८०-कालवेदप्रतिपादक-श्रुतिवचन ,,
८८१-पूर्वाह्नबिन्दुः-भूतकालः-उक्थम् और ऋग्वेदः ,,
८८२-मध्यकालः-वर्त्तमानकालः-ब्रह्म, और यजुर्वेदः ,,
८८३-अपराह्णबिन्दुः-भविष्यत्कालः-पृष्ठम्, और सामवेदः ,,

इति-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ (६)-कालवेदनिरुक्तिः-प्रकीर्ण-भावापन्ना

१७

——*——

अथ-वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ (७)-वर्णनिरुक्तिः-प्रकीर्ण-भावापन्ना

१७

——*——

८८४-ब्राह्मणानुगत-ब्राह्मणत्व २३५
८८५-क्षत्रियानुगत-क्षत्रियत्व ,,

८८६–वैश्यानुगत-वैश्यत्त्व २३५
८८७–'स्व'-भावानुबन्धी वर्णभाव "
८८८–अष्टाक्षर-गायत्रीछन्द, और तदनुगत-प्रातःसवनीय-प्राणाग्निदेवता "
८८९–ब्रह्मतत्त्वानुगत-ब्रह्मवीर्य्य "
८९०–ब्रह्मवीर्य्यात्मक - ब्राह्मणवर्णविशिष्ट महान्-अग्निदेव "
८९१–एकादशाक्षर-त्रिष्टुप्-छन्द, और तदनुगत-माध्यन्दिनसनीय-प्राणेन्द्रदेवता "
८९२–क्षत्रतत्त्वानुगत-क्षत्रवीर्य्य "
८९३–क्षत्रवीर्य्यात्मक-क्षत्रियवर्णविशिष्ट-इन्द्रदेव "
८९४–द्वादशाक्षर-जगती-छन्द, और तदनुगत-सायंसवनीय-प्राणात्मक-विश्वेदेवता "
८९५–विट्तत्त्वानुगत-विड्वीर्य्य "
८९६–विड्वीर्य्यात्मक-वैश्यवर्णविशिष्ट-विश्वेदेव "
८९७–आधिदैविक - प्रकृतिसिद्ध - नित्य- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यवर्णात्मक अग्नि-इन्द्र-विश्वेदेव "
८९८–गायत्र्या-ब्राह्मणं-निरवर्त्तयत "
८९९–त्रिष्टुभा-राजन्यं- " "
९००–जगत्या-वैश्यंम्- " "
९०१–न केनचिच्छन्दसा शूद्रं निरवर्त्तयत् "
९०२–वर्णतत्त्वानुबन्धी-प्राणदेव, और तदनुगत-सत्तासिद्ध-भाव का तात्त्विक-स्वरूप-समन्वय "
९०३–इन्द्रियातीता-वर्णत्रयी "
९०४–प्राणात्मक-वर्णतत्त्व "
९०५–प्राणतत्त्व की स्वरूप-परिभाषा २३५
९०६–विशुद्धसत्तात्मक- प्राणात्मक वर्णतत्त्व का बुद्धिगम्यत्व "
९०७–ज्ञानशक्ति-प्रधान-ब्राह्मणवर्ण २३६
९०८–क्रियाशक्ति-प्रधान-क्षत्रियवर्ण "
९०९–अर्थशक्ति-प्रधान-वैश्यवर्ण "
९१०–ब्राह्मणवर्णात्मक-सामवेद "
९११–क्षत्रियवर्णात्मक-यजुर्वेद "
९१२–वैश्यवर्णात्मक-ऋग्वेद "
९१३–वर्णत्रयी से अनुगता-वेदत्रयी "
९१४–वर्णवेदप्रतिपादक-श्रुतिवचन "
९१५–पृथिवी-अग्निः अर्थः-उक्थम्-विट्, और ऋग्वेदः "
९१६–अन्तरिक्षम्-वायुः -क्रिया-ब्रह्म - क्षत्रम्, और यजुर्वेदः "
९१७–द्यौः-इन्द्रः-ज्ञानम्-पृष्ठम्-ब्रह्म, और सामवेदः "

इति–वैज्ञानिकवेदनिरुक्तौ
(७)–वर्णवेदनिरुक्तिः–प्रकीर्ण–भावापन्ना
१८

—*—

वेद के तात्त्विक- स्वरूप की रूपरेखा से अनुप्राणिता
वैज्ञानिक-निरुक्तिश्च
अत्र– उपरता

—*—

❀—उपनिद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत-प्रथमखण्ड का विराम

१—क्या उपनिषत् वेद है ?, प्रश्न का संस्मरण १३६

२—मन्त्रब्राह्मणात्मक वेदशास्त्र की प्रामाणिकता का संस्मरण ,,

३-आज के भावुकतापूर्ण-निरर्थक-ऊहापोह ,,

४—वैज्ञानिक-वेदस्वरूप का समन्वय, और तन्माध्यम से सम्पूर्ण-भ्रान्तियों का निराकरण ,,

५—प्राजापत्यवेद का स्वरूप-संस्मरण ,,

६—'अनन्ता वै वेदाः' का माङ्गलिक-संस्मरण ,,

७—उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत द्वितीय-तृतीय-खण्डों से अनुप्राणित विषयों का संस्मरण ,,

८—खण्डत्रयानुगत-उपनिषद्भूमिकानिबन्ध-से अनुगत किञ्चिदिव आवेदन २४०

९—भूमिकानुगता-मङ्गलकामना ,,

इति-उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत-
प्रथमखण्डस्य-स्मारकविषयसूची
उपरता

—*—

श्रीः

इति–उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिकानुगत–प्रथमखण्डस्य

प्रधानविषयसूची

तथा

स्मारकविषयसूची

उपरता

श्रीः

प्रारम्भिक-निवेदन (प्रथमखण्डानुबन्धी)

॥ ॐतत् सद् ब्रह्मणे नमः ॥

उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका

१—नि[1] षु सीद गणपते ! गणेषु त्वामाहुर्विप्रतमं कवीनाम् ।
न ऋते त्वत् क्रियते किञ्चनारे महामर्कं मघवञ्चित्रमर्च ॥

२—एक[2] एवाग्निर्बहुधा समिद्धएकः सूर्य्यो विश्वमनुप्रभूतः ।
एकैवोषाः सर्वमिदं विभाति "एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्" ॥

१—हेगणपते ! आप गणों में (मरुद्गणों में एवं स्तोतृगणों में) विराजिए । क्यों कि (विद्वान् लोग) आप ही को कवियों के मध्य में श्रेष्ठ मेधावी समझते हैं। अपिच आपके बिना दूर का अथवा समपि का कोई भी कार्य नहीं किया जासकता । (इसलिए सभी कार्यो के आरम्भ में आपका प्रथम स्मरण नितान्त अपेक्षित है)। हे महनीय गणपते ! त्रिवृत् (६), पञ्चदश (१५), सप्तदश (१७), एकविंश (२१), त्रिणव २७ , त्रयस्त्रिंश (३३) आदि विविध स्तोमों से युक्त महामहिमशाली, अतएव विद्वानों की दृष्टि में आदरणीय जो यह हमारा स्तोम (कार्यराशि) है, उसे आप निर्विघ्न पूर्ण करने का अनुग्रह करें ।

"ऋक् सं० १०।११२।६"

२—एक ही अग्नितत्व (गायत्री-त्रिष्टुप् जगती आदि छन्दों के भेद से) गार्हपत्य, आहवनीय दक्षिणाग्नि, आवसथ्याग्नि, सभ्याग्नि, धिष्ण्याग्नि, आहुताग्नि, प्रहुताग्नि, आमादग्नि, क्रव्यादाग्नि, कव्यवाडग्नि, वैश्वानरअग्नि, सान्तपनाग्नि, वेदाग्नि, संवत्सराग्नि आदि अनेक रूपों से यत्र तत्र प्रज्वलित हो रहा है। एक ही सूर्य्य विश्वोपलाक्षित चराचरजगत् में विभूति एवं योग सम्बन्ध से प्रविष्ट होकर उन सब स्थावर जंगम पदार्थों का आत्मा बनता हुआ नानाभावों में परिणत हो रहा है। ३० योजन पर्यन्त अपनी व्याप्ति रखने वाली, सूर्य से ३० योजन पश्चिम की ओर अपनी स्थिति रखने वाली उषाकाल की अधिष्ठात्री उषादेवी उदयबिन्दु के भेद से नानारूप धारण कर सर्वत्र प्रकाशित हो रही है। नानाभेदभिन्न उक्त सारा प्रपञ्च एक ही ब्रह्म का वैभव है। एक ही ब्रह्मतत्व उपाधि भेद से अनेक रूप धारण कर विभूति सम्बन्ध से सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। "ऋक् सं० ६।४।२६ "।

३—वाचं देवा उपजीवन्ति विश्वे वाचं गन्धर्वाः पशवो मनुष्याः ।
वाचीमा विश्वा भुवनान्यर्पिता सा नो हवं जुषतामिन्द्रपत्नी ॥
४—वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माताऽमृतस्य नाभिः ।
सा नो जुषाणोपयज्ञमागादवन्ती देवी सुहवा मेऽस्तु ॥
५—यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्व यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

३—*वसु-रुद्र-आदित्य भेदाभिन्न ३३ आग्नेय देवता, सम्पूर्ण सौम्यदेवता, कर्म्मदेवता, आत्मदेवता, अभिमानीदेवता, पुरुषविध नित्य अष्टविध चेतन चान्द्र देवता, पुरुषविध चेतन अनित्य प्राणी देवता आदि सभी देवता एकमात्र वाक्तत्व को आधार बनाकर ही जीवित हैं। २७ गन्धर्व, सब प्रकार के पशु, मनुष्य आदि सब प्रजाएं वाक् को प्रतिष्ठा बना कर ही स्वरूप से प्रतिष्ठित हैं। भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यं यह सातों भुवन वाक्धरातल में ही समर्पित हैं। (इस प्रकार जो वाक्तत्व चराचर में व्याप्त हो रहा है) इन्द्रपत्नी नाम से प्रसिद्ध वह वाग्देवी (हमारे इस शब्दराशिरूप वाङ्मय यज्ञ में इसे सफल बनाने के लिए) हमारी पुकार सुनें। "तै० ब्रा० २।८।८।५।"।

४—"अक्षरामिति (अ-क्ष-रम्-इति) त्र्यक्षरं, वागित्येकमक्षरम्" "एकाक्षरा वै वाक्" (ताण्ड्यब्रा० ४।४।१।) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वाक्रूप एकाक्षर ब्रह्म, किंवा अक्षरस्वरूप वाग्ब्रह्म ही (विश्व में) सब से पहिले प्रकट हुआ है। अतएव यह वाग्देवी ऋततत्व की 'प्रथमजा' कहलाती है। यह वाक् (अनन्त) वेदों की माता है, अमृत की नाभि है। ऐसी यह वाग्देवी प्रसन्न होती हुई हमारे इस वाग्यज्ञ में पधारे। अपिच हमारी रक्षा करने वाली यह वाग्देवी (हमारे इस वाग्यज्ञ को निर्विघ्न पूर्ण करने लिए हमारी प्रार्थना सुनें। "तै० ब्रा० २।८।८"।

५—जो औपनिषद पुरुष (सृष्टिनिर्म्माण के लिए) प्रतिष्ठालक्षण चतुर्मुख ब्रह्मा को सर्वप्रथम उत्पन्न करता है, जो वेदान्त पुरुष उस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिसाधनरूप) वेदों को अर्पित करता है, प्रज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध सर्वेन्द्रियलक्षण मन, एवं विज्ञानात्मा नाम से प्रसिद्ध बुद्धि के प्रकाश स्वरूप उसी (चिद्घन ब्रह्म) देव की शरण में मैं मुमुक्षु जारहा हूं। "श्वेता० उ० ६।१८"।

---

*देवताओं के स्वरूप के सम्बन्ध में विद्वत्समाज में आज अनेक प्रकार की भ्रांतिएं फैलीं हुई हैं। इस के निराकरण के लिए शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य (१ वर्ष) के १०-११-१२ अंक देखने चाहिएं।

६—ओष्ठापिधाना नकुली दन्तैः परिवृता पविः ।
सर्वस्यै वाच ईशाना चारुमामिह वादयेत् ॥



ध्यात्मजगत् के अन्तस्तल पर पहुंचे हुए विचारकक्षा के परपारगामी महामहिमशाली उन महामहर्षियों के अनन्तकाल के तपोयोग से प्रादुर्भूत औपनिषद ज्ञान के सम्बन्ध में बहिरङ्गभाव से सम्बन्ध रखने वाली समालोचना का, दूसरे शब्दों में बहिरंग परीक्षा का समावेश करना अनुचित नहीं तो उचित भी नहीं कहा जासकता। साथ ही में गभीरतम रहस्यार्थों का प्रतिपादन करनें वाले **छन्दोभाषामय** (वेदभाषामय) **उपनिषद्ग्रन्थों** का **नागरी** जैसी लौकिक भाषा में प्रतिपादन करना, इस व्यावहारिकी भाषा द्वारा अनेक तात्पर्यार्थों को अपने उदर में रखने वाले छन्दोभाषा के शब्दों के भावों को प्रकट करनें का साहस करना भूपृष्ठ पर बैठे हुए सूर्य्य का स्पर्श करना है। इस लौकिकी भाषा द्वारा वेद के गभीरतम तत्वों को यथावत् प्रकट कर देना नितान्त असम्भव है। लौकिकी भाषा की कौन कहै, हमारा तो यह भी विश्वास है कि **भारती** नाम से प्रसिद्ध **ब्राह्मी**–(संस्कृत)–भाषा के द्वारा भी वेदों के रहस्य को यथावत् प्रकट नहीं किया जासकता। जिस अर्थ के लिए वैदिक ऋषियों के अन्तःकरण में जो शब्द प्रकट हुआ है, उस शब्द की समता करने वाला, उसी अर्थ को यथावत् रूप से व्यक्त करने वाला शब्द दूसरी भाषाओं की कौन कहै, वैदिकभाषा के अतिसन्निकट संस्कृत साहित्य में भी उपलब्ध नहीं हो सकता। **उक्थ–बृहती–धामच्छद्–श्यैत–नौधस–जर्फरी–तुर्फरी–रथन्तर–बृहत्–रैवत–शक्वर–वषट्कार–परिप्लव–पृष्ठ–अभिप्लव–स्तोम–अहर्गण–मनोता-वैश्वरूप्य-निविद्-कुम्ब्या–गाथा–अर्क–अशिति–ऊर्क्–स्वरसाम–स्कम्भ–मन्थी–शुक्र–उपांशु-अन्तर्याम-बहिर्याम-अप्तोर्याम–अभिगर–प्रतिगर–काणुका–इरा–आभूति-आभीक-आप्त्या-अयुत-आद्रदानु–असित** आदि सहस्रों शब्द वैदिक साहित्य में ऐसे प्रयुक्त हैं, जिन का अर्थ अन्यभाषा के शब्दों द्वारा कदापि गतार्थ नहीं हो सकता। जिस अर्थ के लिए ऋषि के द्वारा जो शब्द प्रयुक्त हुआ है, वह अर्थ उसी शब्द से प्रकट हो सकता है। पर्य्याय शब्दों द्वारा

उस अर्थ की सङ्गति लगा लेना एक प्रकार से असम्भव ही है। इसलिए वेदार्थ जिज्ञासुओं से आरम्भ में ही हम यह निवेदन कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि यदि वे वेद का वास्तविक रहस्य जानना चाहते हैं तो उन्हें अनन्यभाव से **मूलग्रन्थों** की ही शरण में जाना चाहिए। तभी उन की जिज्ञासा सर्वात्मना शान्त हो सकती है।

सर्वज्ञाननिधिस्वरूप जिस वेदराशि को सर्वप्रथम संसार के सामने रखने का गौरव एकमात्र इस देश के महर्षियों को मिला था, करालकाल की कुटिल भ्रूभङ्गी से आज वही ऋषिसन्तान **अनार्षप्रणाली** का अनुगमन करती हुई अपनी उस अमूल्य सम्पत्ति से सर्वथा वञ्चित हो गई है, यह जानकर किस आर्य-हृदय में अन्तर्वेदना का उदय न होगा। **"वेदशास्त्र ही इतर सब शास्त्रों का मूल आधार है"** इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में **आर्यावर्त्त** का कोई भी विद्वान् किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं उठा सकता। सभी विद्वान् एकस्वर से वेदमहत्ता स्वीकार करते हैं। यह सबकुछ होने पर भी आज भारतवर्ष में वैदिक अध्ययनाध्यापन के सम्बन्ध में विद्वानों की ओर से जैसी उदासीनता प्रकट की जारही है, निःसन्देह यह हमारे पतन का मूल कारण है।

"वेदोऽखिलो धर्म्ममूलम्"[१]—"वेदाद्धर्म्मो हि निर्बभौ"[२]—"वेद एव द्विजातीनां निःश्रेयकरः परः"[३]—"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।[४] स जीवन्नेव शूद्रत्वमा-

१—ऋक्, यजुः, साम, अथर्व लक्षण मन्त्रात्मकवेद, एवं विधि, आरण्यक, उपनिषल्लक्षण ब्राह्मणात्मक-वेद ही अखिल वेद है। मन्त्रब्राह्मणात्मक यह सम्पूर्ण वेदशास्त्र ही धर्म्म में मूल है। अर्थात् मन्वादि धर्म्मशास्त्रों की प्रामाणिकता वेदशास्त्र पर ही निर्भर है। "मनुः २।६।"

२—श्रुति वेदशास्त्र है, स्मृति धर्म्मशास्त्र है। इन्हीं दोनों से धर्म्मव्यवस्था हुई है। "मनु२।१०"

३—"द्विजाति के लिए वेदशास्त्र ही निःश्रेयसभावप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। "मनुः........"।

४—"जो द्विजाति वेद न पढ़ कर (केवल) अन्य शास्त्रों में (हीं) परिश्रम करता है, वह अपने इस जन्म में ही अपने वंशसहित शूद्रकोटि में प्रविष्ट होजाता है। "मनुः २।१६८"।

शु गच्छति सान्वयः"–"[५] चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात्-प्रसिद्ध्यति"—"[६] ब्रह्मविद्यया ह वै सर्वं भविष्यन्तो मन्यन्ते मनुष्याः" "[७] धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" इत्यादि श्रौत-स्मार्तवचन सर्वात्मना एकमात्र वेद का ही स्तुतिगान कर रहे हैं, वेद को ही **अभ्युदय** एवं **निःश्रेयस** प्राप्ति का अन्यतम कारण बतला रहे हैं। आर्यमहर्षियों का यह स्पष्ट एवं निःसदिग्ध आदेश है कि यदि द्विजातिवर्ग वेद के वास्तविक रहस्य को जान लेता है तो इस लोक एवं परलोक दोनों में उस का पूर्ण स्वातन्त्र्य होजाता है। **वैदिकविज्ञान** के परिज्ञान से, एवं उसके प्रयोग (Practice) से वह कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुं समर्थ बन जाता है। **प्रकृतिदेवी** किसी नियत नियम विशेष के आधार पर ही विश्वरचना करने में समर्थ होती है। **सूर्य्य-चन्द्रमा-पृथिवी-नक्षत्र-ग्रह-उपग्रह-ऋषि-पितर असुर-गन्धर्व-देवता-मनुष्य-पशु-कृमि-कीट-पक्षि-ओषधि-वनस्पति-धातु--उपधातु–रस-उपरस-विष-उपविष-पर्वत-नद-नदी-समुद्र** आदि की समष्टिरूप विश्व किसी निश्चित नियम के आधार पर सम्पन्न हुआ है, विश्वरचना का कोई नियत क्रम है। सारी रचना किसी नियत **शिल्प** (कारीगरी) को लिए हुए हुई है। विश्व एवं विश्वान्तर्गत सारा प्रजावर्ग नियतभावस्वरूप इस **नियतिब्रह्म** की चर्य्या (आचरण-शासन) से नित्य आक्रान्त है। दूसरे शब्दों में यह **नियतिचर** ब्रह्म ही सब का अधिष्ठाता बन रहा है।

५—" ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-सच्छूद्र भेदभिन्न चारों वर्ण, पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ रूप-तीनों लोक, ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-संन्यास लक्षण चारों आश्रम, एवं जो कुछ भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान इन तीनों कालों में समाया हुआ है, वह सबकुछ वेद से ही प्रवृत्त हुआ है। " " मनुः १२।९७ "।

६—"(वेदविद्यात्मिका) ब्रह्मविद्या से मनुष्य सबकुछ होना संभव समझते हैं। अर्थात् वेदविद्या के आधार पर मनुष्य प्रकृतिवत् सबकुछ करने में समर्थ है।" " शतब्रा० १४।४।२।२०। "।

७—" धर्म की (मौलिक) जिज्ञासा रखने वालों के लिए वेद ही सर्वश्रेष्ठ आधारभूमि है। अर्थात् धर्मशास्त्र में जिन कर्त्तव्य कर्म्मों का आदेश हुआ है, उन सब का यदि मौलिकरहस्य (Attempts thory) जानना है तो वेद की ही शरण में जाना चाहिए। वेद ही ' ऐसा क्यों करें? " यह जिज्ञासा शान्त करेगा '। " मनुः २।१३ "।

यही नियतिचर ब्रह्म श्रौत-(ब्राह्मण-उपनिषदादि)-ग्रन्थों में "अन्तर्यामी" नाम से व्यवहृत हुआ है। यही अन्तर्यामी शास्ता नियतिचर ब्रह्म पाश्चात्यभाषा में नेचर (Nature) नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। प्रकृति-अव्यक्त-अक्षर-नियतिचर-शास्ता-नेचर कुछ भी कहिए, एक ही बात है। विश्वाधिष्ठाता, विश्वसृष्टिप्रवर्त्तक, सुसूक्ष्म, ज्ञानमूर्त्ति यह नियतिचर ब्रह्म ही मौलिक वेदतत्व है, जैसा कि आगे के प्रकरणों से स्पष्ट हो जायगा। यह सर्वज्ञ वेदतत्व चिरकाल के तपोयोग से *अतीतानागतज्ञ, ÷विदितवेदितव्य, Aअधिगतयाथातथ्य महर्षियों के पवित्र अन्तःकरण में भगवान् स्वयम्भू प्रजापति की प्रेरणा से स्वतएव आविर्भूत हुआ है, एवं युगधर्मानुसार यह विलुप्त वेदतत्व समय समय पर उन्हीं सात्विक अन्तःकरणों में प्रकट होता रहता है। इसी आधार पर आप्त पुरुष कहते हैं—

B युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा॥

मन्त्रब्राह्मणात्मक उसी नित्य अपौरुषेय वेदराशि को लोककल्याण के लिए उन आप्त महर्षियों नें हमारे समक्ष उपस्थित किया, एवं हमें आदेश दिया कि यदि तुम अपना ऐहलौकिक एवं पारलौकिक कल्याण चाहते हो, यदि सम्पूर्ण विश्व पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहते हो, यदि विश्व के मानव समाज को सभ्यता का पाठ पढ़ानें का अधिकार प्राप्त करना चाहते हो तो इस वेदराशि को अपना जीवनव्रत बनाओ। वेदार्थतत्ववेत्ता राजर्षि मनु ने स्थान स्थान पर इस वेदस्वाध्याय के ही महत्व का प्रतिप्रादन किया है। बिना वेद के वे द्विजाति का जन्म ही निरर्थक समझते हैं। मनु के कथनानुसार वेदवित् द्विजाति साक्षात् ब्रह्म की प्रतिमा है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है—

* अतीत एवं भविष्य की स्थिति का अपनी दिव्यदृष्टि से पूर्ण ज्ञान रखने वाले।

÷ विश्व में जो कुछ जानने की वस्तु है, उसे जानने वाला ही "विदितवेदितव्य" कहलाता है।

A वस्तुतत्व के यथार्थस्वरूप पर पहुंचने वाले।

B युग युग के अन्त में विलुप्तप्राय इतिहास युक्त वेदों को महर्षिगण ने स्वयम्भू प्रजापति की अनुज्ञा (प्रेरणा) से तपोयोग पूर्वक (तपश्चर्या के बल से) पुनः प्राप्त किया।

१-वेदमेवाभ्यसेन्नित्यं यथाकालमतन्द्रितः ।

तं ह्यस्याहुः परं धर्म्ममुपधर्म्मोऽन्य उच्यते ॥ (मनुः ४।१४७) ।

२-तपो विशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधिचोदितैः ।

वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ॥ (मनुः २।१६५) ।

३-वेदमेव सदाभ्यस्येत्तपस्तप्स्यन् द्विजोत्तमः ।

वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥ (मनुः २।१६६) ।

४-आ हैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः ।

यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम् ॥ (मनुः २।१६७) ।

१-ब्राह्मण को चाहिए कि वह नियत समय पर आलस्य रहित होकर वेद का ही अनन्यभाव से अध्ययन करै । क्योंकि वेदस्वाध्याय को ही ऋषियों ने ब्राह्मण का सर्वोत्कृष्ट धर्म्म (कर्तव्य) माना है, एवं अन्य कर्त्तव्यों को गौण कहा है ।

२-यम-नियमादि तपोरूप नियमों के अनुगमन के साथ, श्रुत्युक्त महानाम्नी आदि व्रतों के अनुपालन पूर्वक द्विजाति को सरहस्य मन्त्रब्राह्मणात्मक समग्र वेद जानना चाहिए ।

३-उस ब्राह्मणश्रेष्ठ को, जो कि तपश्चर्या करने की इच्छा रखता है, (अनन्यभाव से) सदा वेद का ही अभ्यास करना चाहिए । कारण वेदाभ्यास (वेदस्वाध्याय) ही ब्राह्मण का सर्वोत्कृष्ट तप माना गया है । अर्थात् वेदाध्ययन ही ब्राह्मण की उत्कृष्टतम तपश्चर्या है ।

४-वह ब्राह्मण अपने सर्वाङ्गशरीर से महा उग्र तप ही कर रहा है, जो कि पुष्पमाला धारण किए हुए भी प्रतिदिन स्वशक्ति के अनुसार वेद का अध्ययन करता है । यहां 'स्रग्वी' का यही तात्पर्य्य है कि आश्रम व्यवस्था के अनुसार ब्रह्मचर्य्याश्रम स्वाध्यायकाल माना गया है । इस आश्रम में ब्रह्मचारी को विशेष नियमों में चलना पड़ता है । उन्हीं नियमों में पुष्पमाला धारण करने का भी निषेध है । यह सब साधन गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखते है । मनु कहते हैं कि यदि आश्रमयुक्त नियमों का पालन किन्हीं विशेष पारिस्थितियों के कारण न होसके तब भी कोई हानि नहीं है । परन्तु वेदस्वाध्याय किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ना चाहिए ।

५—यथा काष्ठमयो हस्ती यथा चर्म्ममयो मृगः ।
यश्च विप्रोऽनधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ मनुः २।१५७) ।

६—यथोक्तान्यपि कर्म्माणि परिहाय द्विजोत्तमः ।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान् ॥ (मनुः १२।९२) ।

७—बिभर्त्ति सर्वभूतानि वेदशास्त्रं सनातनम् ।
तस्मादेतत् परं मन्ये यज्जन्तोरस्य साधनम् ॥ (मनुः १२।९९) ।

८—सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्त्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ (मनुः १२।१००) ।

९—यथा जातबलो वह्निर्दहत्यार्द्रानपि द्रुमान् ।
तथा दहति वेदज्ञः कर्म्मजं दोषमात्मनः ॥ (मनुः १२।१०१) ।

५—जिस प्रकार लकड़ी का हाथी, एवं चमड़े का कल्पित मृग केवल नाममात्र के हाथी-मृग हैं, एवमेव जो ब्राह्मण वेदज्ञान से शून्य है वह भी उस नाम कोटि में ही प्रविष्ट है । अर्थात् जो मूल्य, जो महत्व लकड़ी-चर्म्म के हाथी मृग का है, वही महत्व स्वाध्यायशून्य ब्राह्मण का है ।

६—(यदि किन्हीं विशेष परिस्थितियों के कारण ब्राह्मण शास्त्रसिद्ध अग्निहोत्रादि आवश्यक कर्म्मों को न करसके तो आपद्धर्म्ममर्यादा के अनुसार) यथोक्त शास्त्रीय कर्म्मों को छोड़ता हुआ भी ब्राह्मण आत्मचिन्तन, इन्द्रियसंयम, एवं वेदाभ्यास में सदा सतर्क रहे । अर्थात् और सब कर्म्मों के न बनने पर भी आत्मानित्यत्व-भावना, सदाचार, एवं वेदाध्ययन इन तीन कर्म्मों को तो किसी भी अवस्था में नहीं छोड़ना चाहिए ।

७—(वेदशास्त्र में प्रतिपादित) सर्वथा नित्य वेद ने ही इस भौतिक जगत् को धारण कर रक्खा है । इसी लिए वेदवित् विद्वान् वैदिक कर्म्माधिकारी इस द्विजाति के सम्बन्ध में वेदशास्त्र को ही सर्वोच्च पुरुषार्थ-साधन समझते हैं ।

८—सेना, राज्य, दण्डविधान, सब लोकों पर शासन इत्यादि सब कर्म्म यथावत् रूप से एक वेदज्ञ विद्वान् ही कर सकता है ।

९—जिस प्रकार बड़े वेग से प्रज्वालित बलवान् अग्नि गीले वृक्षों को भी जला डालता है, एवमेव एक वेदज्ञ ब्राह्मण अपने आत्मा के कर्म्मदोषों को वेदरूप ज्ञानाग्नि से जला डालता है ।

न केवल भारतवासी ही, अपितु समस्त विश्व का मानवसमाज यदि किसी भी प्रकार का ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसे भारतवर्ष में उत्पन्न वेदराशि के अधिष्ठाता अग्रजन्मा (ब्राह्मण) का ही शिष्यत्व स्वीकार करना चाहिए। वह सब को सभ्यता, ज्ञान, विज्ञान, शिल्प आदि का पाठ पढ़ाएगा। सुनिए! कान खोलकर सुनिए!! साथ ही में अपनी वर्त्तमान दशापर दो आंसू बहाइए!!! भगवान् मनु क्या कहते हैं—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनुः २।२०।)

"भारतवर्ष में उत्पन्न होने वाले ब्राह्मण से पृथिवी में रहने वाले सम्पूर्ण मनुष्य अपने अपने कर्त्तव्य कर्म्म की, एवं चरित्र की शिक्षा प्राप्त करें" क्या आर्य-साहित्य को छोड़कर ऐसी उदात्तभावना आपको अन्य साहित्य में मिल सकती है? सर्वथा असम्भव!

हा हतभाग्य भारत!

आज तेरा वह गौरव कहां चला गया? वेद जैसी अप्रतिम ज्ञानराशि का अधिष्ठाता बनता हुआ भी तू आज अपने उस उच्चासन से कैसे गिर गया? परलोक के महाबन्धन को तोड़ने वाला तू आज इस भूप्रदेश में भी अपने आप को सुरक्षित न रख सका! आज तू **असभ्य है! जंगली है! विज्ञानशून्य है! परमुखापेक्षी है! दासानुदास है! "मा च याचिष्म कञ्चन"** कहां गया तेरा यह आदर्श! भूल गया अपने वास्तविक स्वरूप को? खो बैठा अपनी सारी प्रभुता?
उत्तिष्ठत! जाग्रत!! प्राप्य वरान्निबोधत!!!

आप प्रश्न करेंगे-धर्म्मप्राण भारतवर्ष की उक्त दशा क्यों हुई? शास्त्रकारों ने धर्म्म का—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः" (जिसके अनुष्ठान से, आचरण से, व्यवहार

से ऐहलौकिक सुखरूप अभ्युदय, एवं पारलौकिक सुखरूप निःश्रेयसभाव की प्राप्ति होती है, वही धर्म्म है) यह लक्षण किया है । इधर भारतवर्ष के सनातनधर्मी जगत् का यह विश्वास है कि हम धर्म्माचरण में सर्वाग्रणी हैं । परन्तु आश्चर्य है, प्रकृति के कोप में भी यही महानुभाव सर्वाग्रणी हैं । आज भारतवर्ष में धर्म्मप्रचार के लिए अनेक साधन प्रस्तुत हैं । सैंकड़ों-हजारों मन्दिर, शतशः **धर्म्माचार्य**, शतशः उपदेशक - महोपदेशक - महामहोपदेशक, तीर्थ, व्रत, दान, आदि सभी तो धर्म्म के साधन प्रस्तुत हैं । हरिकथा भी होती है, पुराण भी बांचे जाते हैं, श्रद्धालु जनता हजारों की संख्या में उपस्थित भी होती है । दानवीरों की ओर से प्रतिदिन ब्राह्मणों को **भोजन** भी कराया जाता है । षट्तीर्थ-षट्शास्त्री-पुराणरत्न-आदि असंख्य उपाधिधारी भी विद्यमान हैं । भारतवसुन्धरा के वक्षस्थल को कम्पित करने वाली बड़ी बड़ी **संस्कृतपाठशालाएं**, एवं उनमें महामहाधुरीण पुरुषपुङ्गव **अध्यापक** महोदय भी सुशोभित हैं । इस प्रकार धर्म्मरक्षा के लिए जो कुछ होना चाहिए, वह सब आवश्यकता से अधिक तो विद्यमान है । फिर क्यों दिन दिन जनता की धर्म्म, देव, द्विज, गुरू, शास्त्र आदि पर से श्रद्धा उठती जा रही है ? क्या आप **इस प्रश्न का** उत्तर चाहते हैं ? अच्छा तो सुनिए !

विगत शताब्दियों के वाङ्मय इतिहास पर एवं साहित्यसृष्टि पर दृष्टि डालिए । समाधान हो जायगा । **महाभारतकाल जहां वैदिक-साहित्य की चरम उन्नति का द्योतक था, वहां वही समय इस साहित्य की अवनति का भी उपक्रम बना** । महाभारत के बाद वैदिक साहित्य क्रमशः अवनत ही होता जा रहा है, यह निःसंदिग्ध विषय है । **व्याकरण-न्याय-ज्यौतिष-साहित्य** आदि इतर विषयों का विद्वानों की ओर से जितना मन्थन हुआ है, उन्हीं विद्वानों की ओर से यदि वैदिकसाहित्य के लिए शतांश भी उद्योग हुआ होता तो आज इस साहित्य की यह दुर्दशा न होती । **भवभूति, कालिदास, दण्डी, क्षेमेन्द्र, बाण, माघ** आदि प्रतिभाशाली विद्वानों की प्रतिभा का उपयोग हुआ है, राजाओं के इतिहास की पुनरुक्ति में । यदि यही विद्वान् वैदिकसाहित्य की ओर दृष्टिपात करते तो भारतवर्ष को यह दुर्दिन न

देखने पड़ते । इस महाभीषण युग में एक दो महापुरुष ऐसे अवश्य हुए हैं, जिन्होंने वैदिक-साहित्य के उद्धार का प्रयत्न किया है। यदि सर्वश्री **सायणाचार्य**, एवं सर्वश्री **महीधर** न होते तो हमारे लिए वेदशास्त्र एक "**हौआ**"मात्र रह जाता। परन्तु जिस युग में उक्त वेदव्याख्याताओं नें वेद पर भाष्य लिखे थे, वह युग कर्म्मकाण्ड प्रधान युग था। शब्दशास्त्र पर पूर्ण निष्ठा थी। साथ ही में वेद के रहस्यार्थों को प्रकट करने वाले, वैज्ञानिकतत्वों का विश्लेषण करने वाले **गाथा-निदान-रहस्य**-आठ प्रकार के **निरुक्त** आदि ग्रन्थ विद्यमान थे। फलतः **सायण महीधरने** उस कर्म्मयुग में वेदों की कर्म्मपरक व्याख्या करना ही उचित समझा। इन भाष्यकारों का विशेष लक्ष्य कर्म्मकाण्ड की सङ्गति लगाने पर ही रहा। आगे जाकर साहित्य के अन्यतम शत्रु नरराक्षसों की भीषण लीलाने इन्हीं ग्रन्थ-पत्रों से महिनों हम्मामों को गरम रक्खा। परिणाम जो कुछ हुआ देश के सामने है। उपलब्ध वेदभाष्य कर्म्मकाण्ड प्रधान हैं, रहस्य ग्रन्थ सर्वथा विलुप्त हैं। अतएव उन गुहानिहित वैदिक तत्वों को समझने, एवं समझाने में आज बड़ी कठिनता उपस्थित हो रही है।

वर्त्तमान शताब्दी की तो कुछ बात ही न पूछिए। सर्वज्ञाननिधि वेद का अध्ययनाध्यापन आज एकान्ततः अवरुद्ध है। यह सभी विद्वान् जानते हैं कि **शिक्षा, कल्प, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष** यह ६ ओं शास्त्र **अङ्ग**मात्र हैं। वेदार्थ समझने की योग्यता प्राप्त करने के लिए ही उक्त अङ्गों का अध्ययन आवश्यक माना गया है। उधर आश्रम-व्यवस्था के अनुसार २५ वर्ष की आयु में साङ्ग वेद का अध्ययन कर ब्रह्मचारी को गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा है। हम देश के विद्वानों से प्रश्न करते हैं कि जैसी शिक्षाप्रणाली आज वर्तमान है, उसके अनुसार क्या कोई व्यक्ति २५ वर्ष की समाप्ति तक साङ्गोपाङ्ग सरहस्य वेद का अध्ययन समाप्त कर सकता है? हम तो देखते हैं कि व्याकरणादि एक एक अङ्ग के अध्ययन में ही आज विद्वान् अपना सारा जीवन समाप्त कर देते हैं। शेष अङ्ग, एवं अङ्गी वेदशास्त्र के अध्ययन का तो अवसर ही नहीं आता। उक्त ६ओं अङ्गों में से **शिक्षा-कल्प-छन्द-निरुक्त-ज्यौतिष** (वेदाङ्गज्यौतिष) इन पांच अङ्गों का अध्ययन तो आज सर्वथा

विलुप्तप्राय है। केवल व्याकरण का अध्ययनाध्यापन प्रचलित है। इस शास्त्र के सम्बन्ध में भी जैसा मार्मिक बोध होना चाहिए, उसका अभाव ही है। विवार-श्वास-घोष-अघोष-अल्पप्राण-महाप्राण-सम्प्रसारण-विवृत-संवृत-उदात्त-अनुदात्त-स्वरित यह सब पदार्थतत्व विज्ञान से सम्बन्ध रखते हैं। क्या कोई वैय्याकरणधुरीण इन पदार्थों का रहस्यार्थ बतला-सकता है? व्याकरण के अतिरिक्त साहित्य, न्याय, सांख्य, वेदान्तादि दर्शनों का अवसर आता है। इनमें भी विशेषतः साहित्य, न्याय, वेदान्त इन तीन ही शास्त्रों की प्रायः थोड़ी-बहुत चर्चा सुनी जाती है। यह सब शास्त्र सामन्तगण हैं, वेदशास्त्र सम्राट् है। परन्तु आज हो क्या रहा है। भारतवर्ष के बड़े बड़े कालेजों में जाइए। अटक से कटक तक, कन्या से कुमारी तक पर्य्यटन कर आइए। अपने पाण्डित्य के गर्व से भूमण्डल को कम्पित करने वाले षट्शास्त्रियों, वेदान्तनिधियों, महामहोपाध्यायों, तर्कवागीशों, न्यायरत्नों का अन्वेषण कीजिए। आपको सर्वत्र सामन्तगणों की ही प्रधानता मिलेगी। सभी प्रमुख स्थान वैय्याकरणधुरीणों से, साहित्याचार्यों से, वेदान्तनिधियों से आक्रान्त मिलेंगे। सौभाग्य से यदि कहीं वेद की चर्चा मिलेगी भी तो पारायणरूप में। मन्त्र कण्ठ किए जायंगे, पद-घन-जटा-स्वर सन्निवेशपूर्वक वेदविज्ञान का श्राद्धकर्म्म पूर्णरूप से संपन्न मिलेगा। बिना अर्थ के केवल पारायण में ही वेदज्ञान की इतिश्री मान लेना किस शास्त्र का सिद्धान्त है? जो व्यक्ति वेद का अर्थ न जानकर केवल कुछ मन्त्र कण्ठ कर लेने से अपने आप को वेदज्ञ मानने का मिथ्या दम्भ करता है, उस के लिए स्वयं वेद ही क्या कहता है, सुनिए!

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा॥

"जिस प्रकार एक गधा अपनी पीठ पर रक्खे हुए चन्दनकाष्ठ के भारमात्र का अनुभव करता है, उसे चन्दनगन्ध का विवेक नहीं है, एवमेव वह व्यक्ति एक बोझा ढोहने वाला लट्ठ है, जो कि वेद पढ़कर उस का अर्थ नहीं जानता। ठीक इस के विपरीत जो व्यक्ति अर्थ जानता है, वह सम्पूर्ण सम्पत्तियों का भोग करता है, एवं

इस शरीर को छोड़ने के पश्चात् अर्थज्ञान से अपने सब कर्म्मदोषों का विधूनन करता हुआ नाकस्वर्ग का अधिकारी बनता है"।

वेद सम्राट् का यह तिरस्कार! यह अपमान!! ऐसी उपेक्षा!!! असह्य है। आज हम प्रायश्चित्त के भागी हैं। इसी पाप से आज हमारी यह हीनदशा होरही है। पाश्चात्य-शिक्षा-दीक्षित नवयुवक, एवं शिक्षक आज भारतीय विद्वानों से धर्म्म की उपपत्ति पूंछते हैं। श्राद्ध क्यों किया जाता है? ब्राह्मण को भोजन करा देने से परलोक गत आत्मा कैसे तृप्त हो जाता है? यज्ञोपवीत धारण करने से क्या लाभ है? कान पर जनेऊ क्यों चढ़ाई जाती है? शिखाभार का क्या प्रयोजन है? भोजन के आद्यन्त में आचमन क्यों किया जाता है? अचेतन पाषाण प्रतिमाओं के अर्चन से ईश्वरप्राप्ति कैसे हो जाती है? रजोदर्शन से पूर्व ही कन्या के विवाह को क्यों महत्त्व दिया जाता है? अन्त्यजस्पर्श में क्या हानि है? षोडश स्मार्त्त, एवं ३२ श्रौत संस्कारों का क्या महत्व है? व्यापक ईश्वर परिच्छिन्न शरीर से कैसे अवतार धारण कर लेता है? ऐसे ऐसे असंख्य प्रश्न आज विद्वत् समाज के सामने उपस्थित हैं। परन्तु उन विद्वानों की ओर से उक्त प्रश्नों का कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल रहा है। परिणाम इसका यह हो रहा है कि पश्चिम के भौतिकविज्ञान से चमत्कृत भारतीय शिक्षितवर्ग अपने सिद्धान्तों का कोई मौलिक उत्तर न प्राप्त करने से इस के प्रति क्रमशः अश्रद्धालु बनता जा रहा है। उक्त सभी प्रश्नों के मौलिक वैज्ञानिक युक्तियुक्त समाधान हैं, और अवश्य हैं। परन्तु वेद में, जैसा कि "धर्म्म जिज्ञासमानां प्रमाणं परमं श्रुतिः" से पूर्व में निवेदन किया जा चुका है।

पूर्व कथनानुसार धर्म्मनिर्णय के सम्बन्ध में आज स्मृतिशास्त्र रूप धर्म्मशास्त्र को ही प्रधान माना जारहा है। अथवा दूसरे शब्दों में यों कहिए कि धर्म्मव्यवस्था के सम्बन्ध में भारतीय विद्वानों का ज्ञान प्रायः स्मार्त्तग्रन्थों तक ही सीमित है। इधर स्मृतिशास्त्र केवल श्रुतिसिद्ध आदेशों का विधानमात्र करता है। इन आदेशों की उपपत्ति बतलाना स्मार्त्तग्रन्थों की मर्यादा से बाहर की बात है। उस का एकमात्र कर्त्तव्य धर्म्म की इतिकर्त्तव्यता बतलाना है। यदि इससे

कोई **"अमुक कर्म्म का क्या रहस्य है ?" "अमुक कर्म ऐसे ही क्यों करना चाहिए ?"** इत्यादि तर्कमूलक प्रश्न करता है तो वह इस हेतुवादी को नास्तिक बतला कर उस का तिरस्कार कर देता है, जैसा कि भगवान् मनु कहते हैं—

योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद्द्विजः ।
स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिन्दकः ॥ (मनुः २।११) ।

धर्म्म जिज्ञासा रखने वाले व्यक्तियों को भारतीय विद्वानों की ओर से उक्त उत्तर ही प्राप्त होता है । वैदिक विज्ञानशून्य इन पण्डितम्मन्यों के पास उक्त प्रश्नों का कोई समाधान नहीं । यदि बहुत ही अनुग्रह हुआ तो—**"अंग्रेजी पढ़कर तुम नास्तिक होगए । राम राम अब तो घोर कलियुग आगया । शास्त्र पर से विश्वास उठ गया"** यह सदुत्तर देने का अनुग्रह करते हैं । हम शास्त्रनिष्ठा का विरोध नहीं करते । साथ ही में यह भी सिद्ध विषय है कि सामान्य जनता वैदिकविज्ञान की अधिकारिणी नहीं बन सकती । उस का कल्याण शब्दशास्त्र पर अनन्यभाव से श्रद्धा-विश्वास करने से ही है । परन्तु जिन्होंने शिक्षा प्राप्त की है, जो भौतिक विज्ञान का अध्ययन कर चुके हैं, जिन की बुद्धि किसी भी साधन से विकसित हो चुकी है, उन के सन्तोष के लिए केवल शब्दप्रमाण पर्याप्त नहीं हो सकता । उन्हें तर्क-युक्ति-विज्ञान का आश्रय लेकर ही समझाना पड़ेगा । तभी उन की धर्म्मविरोधिनी भावनाओं में परिवर्त्तन हो सकेगा । इस शिक्षित समाज की उपेक्षा करने से ही कभी विच्छिन्न न होने वाली धर्म्मधारा आज मन्द होती जा रही है । "धर्म्मपदार्थ" आज इन शिक्षितों को केवल गन्धर्व नगर प्रतीत हो रहा है । फलतः उन्हीं शिक्षितों के द्वारा आए दिन धर्म्मविरोधी नए नए बिल व्यवस्थापिकासभा (Legislative Council) में उपस्थित किए जा रहे हैं । विद्वत्समाज सुप्त है, धर्म्मसमाज क्षुब्ध है । आज उसे कोई आश्वासन देने वाला नहीं है । उधर राजनैतिकदल स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए उन्मत्त है । उस की दृष्टि में स्वन्त्रता प्राप्ति में यदि कोई महाप्रतिबन्धक है तो **"शास्त्र"—ऋषियों के लोककल्याणकारी आदेश ।** इसी कुत्सितभावना से

भावितान्तःकरण नेताओं की ओर से नाममात्र के नैतिक प्रसार के साथ साथ ही शास्त्रीय-मर्य्यादाओं के विनाश का भी पुनीत कार्य किया जा रहा है। उन का कहना है कि—

"परतन्त्र राष्ट्र का कोई धर्म्म नहीं। जिस विषम समय में, गुलामी के जमाने में राष्ट्र के असंख्य प्राणी अन्न वस्त्र के लिए त्राहि त्राहि कर रहे हों, उस विपत्ति के युग में शास्त्र का डिन्डिमघोष कोई महत्व नहीं रखता। आज हमारे सामने सबसे अत्यावश्यक प्रश्न रोटी कपड़े का है। जब तक आर्थिक चिन्ता दूर नहीं होजाती, रोटी कपड़े का प्रश्न हल नहीं हो जाता, राष्ट्र स्वतन्त्र नहीं होजाता, तब तक शास्त्र, धर्म्म आदि की चर्चा को कोई स्थान नहीं दिया जा सकता। अपिच ब्राह्मणों की स्वार्थ लीला को चरितार्थ करने वाले जिस शास्त्र ने राष्ट्र को परतन्त्र किया, जो धर्म्ममार्ग केवल स्वार्थियों की दम्भलीला है, ऐसे शास्त्र को तो किसी भी युग में किसी भी प्रकार का महत्व नहीं दिया जा सकता। आज युग धर्म्म बदल गया है। अतः उस पूर्वयुग की परिस्थिति के अनुकूल बने हुए उन शास्त्रों को आज के इस विकास युग में मानना सर्वथा व्यर्थ है"।

संस्कृतिमूलक भारतीय शास्त्र के सम्बन्ध में उक्त विचार प्रकट करने वाले उन राज-नितिवीथीपथिकों, एवं वर्त्तमान युग के शिक्षित एवं शिक्षकों से हम यह सविनय निवेदन कर देना चाहते हैं कि विद्वत् समाज की उपेक्षा, अहम्मन्यता, व्यर्थ के आडम्बर से ही धर्म्म, एवं तत्प्रतिपादक शास्त्र के सम्बन्ध के आपके इस सम्बन्ध में उक्त विचार हो गए हैं। आप चाहते हैं समाधान, सफल एवं सुफल कारण, उस का है वर्त्तमान युग में अभाव। यहीं पर सीमा समाप्त हो जाती, तब भी कोई बात न थी। परन्तु यह पण्डित नामधारी सज्जन तो धर्म्म की ओट में सर्वथा शास्त्र विरुद्ध बहुभोज (नुकता), वृद्धविवाह, कन्याविक्रय, धर्म के नाते भोली जनता की वञ्चना आदि रूढिवादों के प्रचार से समाज एवं राष्ट्रोन्नति के भी अन्यतम शत्रु बन रहे हैं। सत्कार्य्यों का विरोध करना, दूसरे के गुणों की उपेक्षा कर उसके प्रकृतिसिद्ध मानव जन्म सुलभ दोषों का ही अन्वेषण करते रहना, अपने अन्धभक्तों को धर्म की

दुहाई देकर उन से अनुचित लाभ उठाना ही इन पुरुषार्थियों का परम पुरुषार्थ है। इन्हीं सब कारणों से यदि आप धर्म को अपने मार्ग में कण्टक समझने लगें तो कोई आश्चर्य नहीं है। परन्तु सोचिए, बुद्धिपूर्वक विचार कीजिए! यदि कोई अल्पज्ञ अपने दोष से किसी अमूल्यतत्व का स्वरूप ओर का ओर ही बना देता है तो क्या एक बुद्धिमान् का यह कर्त्तव्य नहीं हो जाता कि वह उस अमूल्यतत्व का परित्याग न कर सर्वात्मना उस की रक्षा के लिए कटिबद्ध होजाय? जिस वेदराशि के लिए **पश्चिमी विद्वान्** अहोरात्र अकथ परिश्रम कर रहे हैं, अपने स्वार्थ के अतिरिक्त जो पाश्चात्य जगत् एक कपर्दिका व्यय करने में भी महापातक समझता है, वह जहां आए दिन वैदिक साहित्य के उद्धार के लिए विपुल धनराशि व्यय कर रहा है। जिस संस्कृतवाणी का उस की जन्मभूमि में उसी के सुपूतों द्वारा **"मृतभाषा"** (Dead language) कह कर सत्कार किया जाता है, वही मृतभाषा जब कि आज परराष्ट्रों में (जर्म्मन आदि में) नियतभाषा (Compulsory language) बनने का गौरव प्राप्त कर रही है, वहां इस साहित्य के प्रति हमारे उक्त उद्गार कहां तक ठीक हैं, यह आप स्वयं निर्णय करें। यदि स्थिरबुद्धि से विचार करेंगे तो उक्त परिस्थितियों से आप को यह मान लेने में कोई भी आपत्ति न होगी कि **वेद अवश्य** ही किसी अपूर्व ज्ञानराशि का महाकोश है। आपकी नवीन दृष्टि में धर्म नाश का कारण है, ठीक इसके विपरीत आर्यऋषियों का धर्म्म के सम्बन्ध में—**"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः"** यह घन्टाघोष है। आइए! देखें हमारा इतिहास इस सम्बन्ध में अपने क्या विचार प्रकट करता है।

यह निर्विवाद विषय है कि भारतवर्ष सदा से ही **राजनीति** के साथ साथ **धर्मनीति** को भी प्रधान मानता आरहा है। यहीं नहीं अपि तु जब जब राजनीति एवं धर्म्मनीति में संघर्ष उपस्थित हुआ है, तब तब ही राजनीति की उपेक्षा की गई है, एवं धर्म्मनीति का पालन किया गया है। धर्म्मनीति को सफल बनाने में दुर्भाग्य से यदि तत्कालीन मानव समाज किन्हीं विशेष परिस्थितियों से असमर्थ हो जाता है तो ऐसे अवसर पर धर्म्मरक्षा के लिए धर्म्ममूर्त्ति स्वयं **ईश्वर** को अंशरूप से नरदेह में अवतार धारण करना पड़ता है। निम्न लिखित **गीता** सिद्धान्त की कौन भारतीय उपेक्षा कर सकता है?

÷यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्म्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥१॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ॥

धर्म्मसंस्थापनार्थाय संम्भवामि युगे युगे ॥२॥ (गी० ४।७-८) ।

सृष्टि से आरम्भ कर आज तक के **मधु-कैटभ, महिषासुर, रक्तबीज, शुम्भ-निशुम्भ, वृत्रासुर, नमुचि, बलासुर, तारकासुर, विद्युन्माली, अम्बुजाक्ष, शालकटंकट, वराहासुर, भस्मासुर, राक्षसेश्वर रावण, राजा वेन, कंस, शिशुपाल** आदि के शासनकाल इस सम्बन्ध में ज्वलन्त उदाहरण हैं । मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् **राम** ने शक्तिरूपिणी गर्भिणी जगन्माता **सीता** का परित्याग क्यों किया ? धर्म्मनीति की रक्षा के लिए । सत्यवादी **हरिश्चन्द्र** ने अपने विशाल साम्राज्य का परित्याग किया, अकथनीय कष्ट सहे । धर्म्ममूर्त्ति महाराज **शिवि** ने अपने शरीर का मांस व्याध के अर्पण कर दिया । धर्म्मराज **युधिष्ठिर** ने चौदह वर्ष तक बनवास के कष्ट सहे । प्रातःस्मरणीय महादानी **कर्ण** ने इन्द्र के मांगने पर अपने शरीर का चर्म्मरूप कवच भी उखाड़ फैंकने में कष्ट का अनुभव न किया । यावदार्यकुलकमलदिवाकर, हिन्दूधर्म्मरक्षक, **"हिन्दुआँसूर्य्य"** प्रातःस्मरणीय महाराणा **प्रताप** दाने दाने के मोहताज बने रहने पर भी सुख मानते रहे । आर्यसंस्कृति की प्रतिमूर्त्तिएं, आर्यजाति को सर्वोच्च आसन दिलाने वाली उन आर्यललनाओं का एकमात्र धर्म्म-रक्षा के लिए हंसते हंसते **जौहरव्रत** (चिता में जीवित जलजाना) पालन करना आज भी उन के चरणों में हमारे मस्तक को श्रद्धा से अवनत किए हुए है । इसी प्रकार छत्रपति **शिवाजी**, वीर **छत्रसाल**, सरदार **चूंडावत**, राठौर वीर **दुर्गादास**, **गुरु गोविन्दसिंह**, जीवित ही दीवारों में चुने जाते समय भी मन्दहास करने

÷इस विषय का विशद विवेचन **गीताविज्ञान**भाष्यान्तर्गत **राजर्षिविद्या** की " **बुद्धियोगलक्षण-सनातनोपनिषत्** " नाम की पांचवीं **उपनिषत्** के "**श्रीकृष्ण का आधिकारिक जीवत्व लक्षण ईश्वरत्व**" नाम के तृतीय उपदेश में देखना चाहिए ।

वाले वे दोनों वीर बालक आदि महानात्माओं ने ऐहलौकिक सब सुखों की उपेक्षा कर धर्म्म-रक्षा में ही अपने जीवन का उत्सर्ग किया था, इस सत्य परिस्थिति का कौन ऐतिहासिक विरोध कर सकता है। यह सब क्या था ? राजनीति एवं धर्म्मनीति के संघर्ष में राजनीति का सर्वात्मना पराजय, एवं धर्म्मनीति का पूर्ण विजय।

बात वास्तव में यथार्थ है। आचार-व्यवहार-संस्कृति आदि ही धर्म्म का धर्म्मत्व है, यही राष्ट्र की मौलिक सम्पत्ति है। जिस राष्ट्र का नाश करना हो, उस की सभ्यता, संस्कृति आदि को कुचल डालिए, सब कुछ बिना प्रयास हो जायगा। अब तक हमारे ऊपर जो आक्रमण हुए थे, उन का सीधा संस्कृति से सम्बन्ध न था। परन्तु वर्त्तमान युग में हमने अपनी संस्कृति पर आक्रमण किया है। मानवता, सभ्यता, संस्कृति आदि के स्वरूपनिर्माण करने वाले शिक्षायन्त्र का स्वरूप विकृत कर लिया है। राष्ट्र के मूलप्राण वैदिकसाहित्य को एकान्ततः विस्मृत कर दिया है। परिणाम जो कुछ हुआ, एवं हो रहा है, वह हमारे सामने है। इसलिए हम उन देश-प्रेमियों को सावधान कर देना अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं कि आप का साहित्य-शून्य यह आन्दोलन तब तक सर्वथा व्यर्थ ही रहैगा, जब तक कि आप राष्ट्र की इस मौलिक विभूति की रक्षा का पूर्ण उपाय न कर लेंगे। जिन राष्ट्रों को आप समुन्नत समझ रहे हैं, उन की साहित्य प्रगति देखिए, समाधान हो जायगा। "एक परतन्त्र घोड़े का गधा बन कर स्वतन्त्र हो जाने की अपेक्षा हम उस का परतन्त्र रहना कहीं अधिक अच्छा समझते हैं"। अपनी सभ्यता, धर्म, संस्कृति खोकर यदि हम को स्वतन्त्रता मिले तो इस की अपेक्षा हम परतन्त्र ही अच्छे हैं। हम हम रहैं, फिर स्वतन्त्र बनें, यही हमारी उत्कट अभिलाषा है, एवं इस अभिलाषा को सर्वात्मना पूर्ण करने वाला यही हमारा **वैदिक साहित्य** है। योग्य, बलवान्, शिक्षित, पूर्णसंघटित राष्ट्र के लिए सर्वत्र स्वतन्त्रता है। हमें योग्य बनना चाहिए। हमारी शिराओं में अपने पूर्वजों का वही ऊर्क्रस पुनः प्रवाहित हो, इस के लिए हमें अपने पूर्वसाहित्य की

उपासना करनी चाहिए। हम उन देशप्रेमियों से क्या यह नहीं कह सकते कि अभी आप का देश धर्म्म, सभ्यता, सङ्गठन आदि समुन्नतिमूलक सभी साधनों से वञ्चितप्राय है। आज भारतवर्ष का प्रत्येक गृह कलहभूमि बन रहा है। ईर्ष्या, द्वेष, छल, कपट, दम्भ, मात्सर्य, स्वार्थपरायणता, स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार, निर्बलों का दलन, ज़मीदारों का एकच्छत्र शासन, कृषकवर्ग का विनाश, धर्म का तिरस्कार क्या यह बातें उन्नति प्राप्ति के उपाय हैं? सोचिए! और खूब सोचिए!! सोच समझ कर किसी निर्णय पर पहुंचिए!!! व्यक्ति समाज एवं राष्ट्र का इसी में कल्याण है। आपके विचार से शास्त्र हमारे पतन के कारण है, इतिहास कहता है शास्त्र मर्यादा की अवहेलना ही हमारी अवनति का मुख्य हेतु है। किसे प्रामाणिक कहें, समाधान कीजिए। कितने हीं महानुभावों के विचार से दैनिक जीवन में इस वैदिक साहित्य का उपयोग नहीं हैं। बुद्धि के अन्यमत शत्रु इन पुरुष पुङ्गवों से हम यही कहने की धृष्टता करेंगे कि अभी आपने **जीवन-मृत्यु**-का रहस्य ही नहीं समझा है। आप जीवन की कहते हैं, हमारे विचार से हमारे प्रत्येक कर्म का स्वरूप जिस विधि से इस साहित्य में निरूपित हुआ है, उस की तुलना में अन्य कोई साहित्य क्षणमात्र भी नहीं ठहर सकता। अस्तु इस साहित्य का उपयोग है, अथवा नहीं? इस प्रश्न का समाधान स्वयं यह साहित्य ही करेगा। अन्यथा—"**मुखमस्तीति वक्तव्य दशहस्ता हरीतकी**" यह न्याय तो सर्वत्र निःशुल्क उपलब्ध होता ही है।

जैसा कि आरम्भ में निवेदन किया जा चुका है, वेदतत्व, किंवा वैदिक साहित्य आज हमारे लिए एक असमावेया पहेली बन गई है। अपने आपको शास्त्रों के मर्म्मज्ञ समझने वाले बड़े बड़े विद्वान् भी आज दिन वेदों के अर्थ करने में कुण्ठित देखे जाते हैं। इन्हीं सारी विषम समस्याओं को देख कर यथार्थ में अनुचित समझते हुए भी समयगति के अनुरोध से उचित मानते हुए हमने भाषा द्वारा वैदिकतत्वों को जनता के सामने रखने का प्रयास किया है। केवल संस्कृतज्ञ विद्वानों की वैदिक साहित्य की ओर विशेष रुचि नहीं देखी जाती। एवं

जो महानुभाव पाश्चात्य शिक्षा दीक्षा से अलङ्कृत हैं, वे प्रायः अनार्ष पश्चिमी विचारों के उच्छिष्ट भोगी देखे जाते हैं । ऐसी दशा में इतर साधारण कोटि के मनुष्यों का तो कहना ही क्या है । आधुनिक विचार वाल सभ्य महानुभावों का धीरे धीरे यह निश्चय होता जारहा है कि भारतवर्ष आज की उन्नति के सामने सदा ही नत मस्तक रहा है । विज्ञान-शिल्प-सभ्यता-संस्कृति-आदर्श आदि भावों का इसी युग में विकास हुआ है, एवं इस का एकमात्र श्रेय पश्चिमी विद्वानों को ही है । हम भी इन विचारों से आंशिक रूप से सहमत हैं । वास्तव में पश्चिमी जगत् ने अपनी कर्मप्रवणता, अध्यवसाय, दक्षता, समय का सदुपयोग आदि समुन्नतिमूलक सिद्धान्तों को अपनाते हुए इस क्षेत्र में आशातीत उन्नति प्राप्त करली है । इस सम्बन्ध में भी हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि केवल भौतिक विज्ञान को ही उन्नति का परम साधन मानने वाले पश्चिमी राष्ट्र क्षणिक अभ्युदय के मोह में पड़ कर उस शाश्वत शान्तानन्द से वञ्चित रहते हुए किसी दिन विनाश के गर्त्त में गिरेंगे । क्योंकि बिना आत्मज्ञान के केवल विज्ञान वास्तविक समुन्नति का कारण नहीं बन सकता । फिरभी वे जाग्रत हैं, हम सुप्त हैं, यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं करनी चाहिए । उन सभ्यराष्ट्रों की हम नकल करते हैं, परन्तु गुणों की नहीं, व्यसनों की । यही तो हमारे सर्वनाश का मूल कारण है । आज उदासीनता, आलस्य, दीनता, परावलम्ब आदि सद्गुणों को अपनाते हुए हम वर्त्तमान युग में उन से सभी बातों में पिछड़ गए हैं । यह सब कुछ समझते हुए भी, मानते हुए भी हम यह कदापि स्वीकार करने के लिए तय्यार नहीं हो सकते कि उन्नति का सेहरा एकमात्र पाश्चात्यों के मस्तक की ही शोभा बढ़ा रहा है । विज्ञान-साहित्य-राजनीति-कला आदि सभी विषयों में महर्षियों ने विदितवेदितव्य की उपाधि प्राप्त की थी, यह मानलेने में कुछ भी आपत्ति नहीं है ।

हमारे देश की मनोवृत्ति का जब हम अध्ययन करते हैं तो आत्मा कम्पित हो-जाता है । सम्पूर्ण विश्व को कृतज्ञता का पाठ पढ़ाने वाले इस देश ने कब से कृतघ्नता को अपनाया, यह जानना कठिन है । आज इसी देश में ऐसी ऐसी विभूतिएँ विद्यमान हैं, जिन

का समकक्ष सम्भवतः अन्य देशों में न हो तो कोई आश्चर्य नहीं। परन्तु इस कृतघ्न देश की कृतघ्नता ने उन विभूतियों के लाभ से हमें वञ्चित कर रक्खा है। हमारी अविद्या की सीमा यहीं समाप्त नहीं होजाती। यदि कोई पश्चिमी विद्वान् भारतीय विद्वान् के प्रति, अथवा साहित्यांश के प्रति अपनी सम्मति प्रकट करना है, तब हमारी आंखें खुलती हैं। अमुक विषय उपादेय है, अथवा अनुपादेय ? पश्चिमी विद्वानों की सम्मति मांगिए, तभी सफलता मिलेगी। कैसी अविद्या ! कितनी विडम्बना ! एक बार स्व० जे० एम० सेन गुप्ता ने गान्धी-जयन्ती के अवसर पर भारतीयों की उक्त मनोवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा था कि—"**जखून एई पश्चिमेरा आमादेर चोखे आंगुल दिए देखे दाय, तखून आमरा बुझि एई बड़ो लोक**"। अर्थात् हमारे नेता कितने ही बड़े विद्वान्, अथवा महात्मा क्यों न हों, जब तक ये पश्चिमी लोग हमारी आंखों में अंगुली दे देकर हमें यह न बता दें, तब तक (उनका महत्व) हमारी समझ में नहीं आता। यद्यपि हमारी दृष्टि में भारतीय-साहित्य के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों की सम्मति का कोई महत्व नहीं है। तथापि लोकरुचि को सम्मुख रखते हुए हम यह आवश्यक समझते हैं कि पश्चिमी विद्वानों को ही **सर्वेसर्वा** मानने वाले उन भ्रान्त भारतीय पथिकों के भ्रम निवारणार्थ उन्हींके आराध्य विद्वानों की कुछ एक सम्मतिएं इस सम्बन्ध में उद्धृत कीं जांय।

भारतीय साहित्य के अनन्यभक्त स्वनामधन्य माननीय मि० **क्रोझर** (Mr. Crozor), दार्शनिकतत्ववेत्ता सर्वश्री मि० **शॉपनहार** (Mr Shapanhar), इतिहास लेखक **कर्नल टाड** साहब (Col. Todd), डाक्कर **साइल्स** (Dr. Syles), मि० **गौस** (Mr Gose), मि० **थार्नटन** (Mr. Thornton), अध्यात्मशास्त्रवेत्ता अमेरिकन विद्वान् **एमर्सन** (Emerson) सुप्रसिद्ध विकासवादी माननीय **हक्सले** (Huxlay), माननीय जर्म्मन विद्वान् मि० **शेगल** (Mr. Shaigal), डा० **एलगझेन्डर** (Dr Alexander), **सर विलियमजोन्स** (Sir-William-Jones), मि० **बाल** (Mr. Ball), **रास्को** (Mr. Rasko), प्रसिद्ध विद्वान् **सुकरात** (Socrates), सुप्रसिद्ध **रिपब्लिक** (Republic) ग्रन्थनिर्माता दार्शनिक विद्वान्

प्लेटो (Plato), पाइथागोरस (P·thagoras), प्रो० विल्सन (Prof. Wilson), डा० सील (Dr Seal), भट्टोपाद्ध मेक्समूलर (Maxmuler), एरिस्टाटल (Aris-tote), मि० झिनो (Mr. Jhino), सर्वश्री सिसरो (Cicero), मि० पिकाक (Mr. Peacock), सर डब्ल्यूजोन्स (Sir. W Jonos), डा० वेलेन्टिन (Dr. Walantin), प्रो० बॉप (Bopp), मिस कार्पेन्टर (Miss. Carpenter), मि० ग्रिफिथ (Mr Griflith), डा० एनेथिल (Dr Anapil), प्रो० वेलेस (Pro. Walace), आदि कितने ही पाश्चात्य विद्वानों ने भारतवर्ष को सभी विद्याओं में अपना परम गुरू माना है। उन महापुरुषों को यह स्वीकार करने में जरा भी आपत्ति नहीं है कि "पश्चिमी देशों में आज जो कुछ विद्या का विकास देखा जाता है, वह एकमात्र भारतवर्ष की असीम उदारता का ही फल है। भारतीय साहित्य का आंशिकरूप से मन्थन करने वाले उन सत्यनिष्ठ पुरुषपुङ्गवों ने इस देश के प्रति, एवं यहां के ऋषियों के प्रति जो स्पष्ट एवं सत्य उद्गार प्रकट किए हैं, पथभ्रष्ट भारतीयों के लिए वे सन्मार्ग प्रदर्शक आलोक हैं। सभी विद्वानों के उद्धरण प्रकृत में उद्धृत नहीं किए जा सकते, उदाहरण के लिए कुछ एक निदर्शन ही उपस्थित कर देना पर्य्याप्त होगा।

१—सुप्रसिद्ध फ्रेञ्च पण्डित लुई जेकोलिअट (Louis Jacolliot) अपने बाइबिल इन इण्डिया (Bible in India) नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—"Soil of ancient India, cradle of humanity, hail! hail! Venerable and efficient Nurse! Whom centuries of brutal invasions have not yet buried under the dust of oblivion. Hail, father land of faith, of love, of poetry and of science! May we hail a revival of thy past in our western future"

१—अर्थात्—"हे प्राचीन भारत भूमि! हे मनुष्यजाति की आद्यजननि! तेरा जय जयकार हो। पूजनीया एवं समर्थ धात्रि! क्रूर परचक्रों की शताब्दियां भी तुझे आज तक विस्मृति की धूल में न दबा सकीं। माता तेरी जय हो! हे धर्म्म की, प्रेम की, कविता की, एवं विज्ञान की जन्मभूमि! हम तुझे प्रणाम करते हैं, और चाहते हैं कि तेरे भूतकाल का पुनरावर्त्तन हमारे पश्चिम के भविष्यकाल में हो"।

२—एक दूसरा फ्रेञ्च विद्वान पं० क्रोभर (Crozor) लिखता है— "If there is a country on earth, which can justly claim the honour of having been the cradle of the human race or at least the scene of primitive civilization the successive developments of which is the second life of man that country assuredly is India."

३—पृथ्वी भर की प्राचीन सभ्यता, साहित्य एवं धर्म्म की छान बीन करने के पश्चात्—**काउन्ट जॉन स्टजना** (Count John's Ton) अपने दी **ओरीजिन आफ हिन्दू इज्म** (The Origin of Hinduism) ग्रन्थ में लिखते हैं—" What has been briefly stated here may be sufficient to show that no nation on earth can vie with the Hindus in respect to the antiquity of their religion and the antiquity of their civilization."

४—सुप्रसिद्ध तत्वज्ञ **विक्टर कजिन** (Victor Cousin) अपनी **हिस्ट्री आफ माडर्न फिलॉसफी** (History of Modern Philosophy) में लिखते हैं—" When

---

२—अर्थात्—"यदि पृथिवी पर ऐसा कोई देश है, जो कि न्यायपूर्वक सत्व का गौरव रखता हो तो वह मानवजाति का आद्य स्थान था। अथवा कम से कम उस प्राथमिक सुधार का आद्यस्थान था, जिस सुधार की क्रमशः उन्नति होना ही मानवजाति का परिवर्त्तन है तो वह देश निःसन्देह भारतवर्ष ही है"।

३—अर्थात्—"यहां जो कुछ संक्षेप से कहा गया, वह यह सिद्ध करने के लिए पर्य्याप्त है कि पृथिवी पर प्रतिष्ठित कोई भी राष्ट्र हिन्दुओं के धर्म्म की प्राचीनता, एवं उन की सभ्यता की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रतिस्पर्द्धा (बराबरी) नहीं कर सकता"।

४—अर्थात्—"जब हम भारतवर्ष के काव्य एवं वेदान्त-ग्रन्थों का अवधानपूर्वक अध्ययन करते हैं तो हमें उक्त ग्रन्थों में इतने और ऐसे गम्भीर सत्य प्राप्त होते हैं कि (इनके सामने) पाश्चात्य प्रतिभाशक्ति की "**मसजिद तक की दौड़**" हमें अतितुच्छ प्रतीत होती है, एवं हमें पूर्व (भारत) के सामने घुटनों के बल झुकना पड़ता है, साथ ही में मनुष्यजाति के इस आद्यस्थान में उच्चातिउच्च तत्वज्ञान की जननी भूमि का परिचय मिलता है"।

we read with attention the political and philoso,hical monuments .... of India we discover there so many truths, and truths so profound, and which make such a contrast with the meanness of the results at which the European genius has sometimes stopped, that we are constrained to bend the knee before that of the East and to see in this cradle of human race the native land of the highest philosophy."

५— कर्नल टाड साहब (Col. Todd) अपने राजस्थान (Rajasthan) में लिखते हैं—"Where can we look for sages like those whose systems of philosophy were the prototypes of those of Greece to whose works Plato, Thales and Phythagoras were disciples? Where shall we find astronomers whose knowledge of the planetary system yet excites wonder in Europe, as well as the architects and sculptors whose works claim our admiration and the musicians who could make the mind oscillate from joy to sorrow, from tears to smiles

६—भारतवर्ष के इतिहास की खोज करने वाले एक फ्रेञ्च इतिहासज्ञ का मत है कि—"India is the world's cradle; thence it is, that the common mother

---

५—अर्थात्—"हम उन ऋषियों को अन्यत्र कहां पा सकते हैं, जिनके कि दर्शनशास्त्र ग्रीस के आदर्श थे। जिनके ग्रन्थों के प्लेटो, थेलस और पायथागोरस शिष्य थे। हम उन ज्यौतिषियों को कहां पासकते हैं, जिन का ग्रहमण्डलसम्बन्धी ज्ञान आज भी योरोप में आश्चर्य उत्पन्न कर रहा है। हम उन कारीगरों एवं मूर्त्तिकारों को कहां पासकते हैं, जिनके कार्य हमारी प्रशंसा के पात्र हैं। हम उन गायकों को कहां देख सकते हैं, जो मन को आनन्द से दुःख में दौड़ा सकते हैं, एवं आंसुओं को मुस्कराहट में बदल सकते हैं।"

६—अर्थात्—"भारतवर्ष जगत् की उत्पत्ति का आदिस्थान है। इस सर्वसाधारण की मातृभूमि ने यहीं से पश्चिम की अन्तिम सीमा तक अपनी सन्तान को भेजा है, एवं "अपना उत्पत्ति स्थान भारतवर्ष ही है" ऐसा कभी न मुर्झाने वाला प्रमाण देते हुए उसने अपनी भाषा, कायद, नीतितत्व, साहित्य, एवं धर्म्म का हमें हकदार बनाया है"।

in sending forth her children even to the utmost West, has in unfading testimony of our origin bequeathed us the legacy of her language, her laws, her moral, her literature and her religion."

७—यही फ्रैश्च विद्वान् आगे जाकर फिर कहता है—"Can there be any absurdity in the suggestion that India of six thousand years ago 'brilliant' civilized, ever flowing with population, impressed upon Egypt, Persia, Judia, Greece and Rome, a stamp as ineffaceable impression as profound, as those last have impressed upon us?"

८—औपनिषद तत्वज्ञान के सम्बन्ध में अपने पक्षपात रहित सत्यविचार प्रकट करते हुए पण्डित पालड्यूसन (Polldusion) कहते हैं—"Philosophy of Gita begins where the English Philosophy ends."

९—सुप्रसिद्ध जर्म्मन विद्वान् शॉपनहार (Shopanhar) अपनी वल्ट आल्स-विली वर्स्टीलन् (Welt Als Wille Vorstellung) नामक जर्म्मन् ग्रन्थ की प्रस्तावना में लिखते हैं—"In the whole world there is no study, do beneficial and so elevating as that of the Upnishadas. It has been the solace of my life, it will be the solase of my death."

७—अर्थात्—"तेजस्वी (Brilliant), सुसभ्य एवं जनसमूह परिप्लुत (आज से) ६ हजार वर्ष पूर्व के भारतवर्ष ने मिश्र, ईरान, जूडिया, ग्रीस, एवं रोम देशों पर अपना उतना ही गहरा एवं अमिट प्रभाव जमाया था, जितना कि इन देशों ने हम पर जमाया था, क्या यह कहने में कोई बेहूदगी होगी ? (नहीं)"।

८—अर्थात्—'जहां अंग्रेजी तत्वज्ञान का अन्त होता है, वहां गीता के तत्वज्ञान का आरम्भ होता है"।

९—अर्थात्—"सम्पूर्ण विश्व में उपनिषदों के समान और कोई अध्ययन लाभप्रद एवं उन्नतिप्रद नहीं है। वह (उपनिषदों का अध्ययन) मेरे जीवन की शान्ति रही है, एवं आगे भी मेरे जीवन की शान्ति रहेगी"।

१०—काउन्ट जॉन स्टर्जना (Count John Stiernas) कहते हैं—" But if it be true that the Hindus more than 3000 years before Christ, according to Baill's calculation, had attained so high a degree of astronomical and geometrical learning how many centuries earlier must be the commencement of their culture have been, since the human mind advances only step by step in the path of science."

११—एक अङ्गरेज इतिहासवेत्ता का मत है कि—"Hindu civilization is the earliest civilization in the world."

१२—सुप्रसिद्ध अमेरिकन अध्यात्मशास्त्रवेत्ता इमर्सन (Emerson) ने भारत के तत्वज्ञान के प्रकाश को पश्चिमी देशों में फैलने की उत्कट आकाङ्क्षा प्रकट करते हुए कहा है—"I look for the hour when that supreme beauty which ravished the souls of those Eastern men and through their lips spoke oracles to all times, shall speak in the West also."

१०—अर्थात्—"यदि यह बात सच है कि हिन्दुओं ने बेली (Baille) की गणनानुसार ईसा (Chsist) के ३००० (तीन हजार) वर्ष पहिले ज्यौतिष और भूमिति के ज्ञान में इतने ऊंचे दर्जे की पारदर्शिता प्राप्त कर ली थी तो उन की सस्कृति का आरम्भ इस के (ईसा के) कितनी शताब्दियों पहिले होना चाहिए—(यह बात यह सिद्ध करने के लिए प्रर्याप्त है कि भारतवर्ष का साहित्यज्ञान ईसा से हजारों वर्ष पूर्व ही उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर पहुंच चुका था) क्योंकि मानवीय मन विज्ञान के पथ पर धीरे धीरे ही आगे बढ़ता है"।

११—अर्थात्—"हिन्दू सभ्यता संसार में पहिली सभ्यता है"।

१२—अर्थात्—"मैं उस घड़ी की प्रतीक्षा कर रहा हूं, जब कि परमात्मज्योति पश्चिम में भी चमकेगी, जो कि पूर्व के लोगों के आत्माओं को (सदा) परमात्मा में निमग्न रखती है, और (जिस आत्मज्योति के प्रभाव से) हर घड़ी उनके होठ देववाणी (संस्कृत-भाषा) बोलते रहते हैं"।

१३—डॉक्टर एलेगभ्झेंडर (Alexander) भारतीय तत्वज्ञान की व्यापकता एवं विशालता का उल्लेख करते हुए कहते हैं—" Hindu Philosophy was so comprehensive that counterparts of all systems of philosophy were to be found in it. "

१४—जान स्टर्जन (John Stjerna) अपनी विज्डम आफ दी एन्शेन्ट इन्डिया (Wisdom of the Ancient India) में लिखते हैं—" Remarkable is the precision with which the immortality of the soul and its existence when separate from the body, is expressed in the sacred writings of the Hindus, and not merely as philosophical proposition but as a doctrine of religion. In this respect the Hindus were far in advance of the philosophers of Greece and Rome who considered the immortality of the soul as problematical. "

१५—यशोमूर्त्ति जर्म्मन पं० शेगेल (Shaigal) कहते हैं—" Even the loftiest philosophy of the Europeans, their idealism, appears in comparison with the abundant light and vigour of oriental idealism like a

---

१३—अर्थात्—"भारतीय तत्वज्ञान (हिन्दूतत्वज्ञान) इतना विशाल है कि सब प्रकार के युरोपियन तत्वज्ञान के प्रतिरूप इस में मिलते हैं" ।

१४—अर्थात्—"हिन्दुओं के पवित्र ग्रन्थों में आत्मा का अमरत्व, एवं शरीर से पृथक् होने पर उस का (नित्य) अस्तित्व विशुद्धता से केवल तत्वज्ञान (Philosophy) की रीति से ही नहीं समझाया गया है, अपितु धार्मिकतत्वों से भी समझाया गया है-(धर्म्माचरण द्वारा उसे व्यावहारिक रूप भी दिया गया है) । इस बात में हिन्दूलोग ग्रीस एवं रोम देशों के तत्वज्ञानियों से बहुत बढ़े चढ़े थे, जो कि आत्मा के अमरत्व को अनिश्चित मानते थे" ।

१५—अर्थात्—"युरोपियनों का सर्वोच्च तत्वज्ञान, उन का भावप्राधान्यवाद पूर्वीय देशों के विद्वानों के भावप्राधान्यवाद (Idealism) के प्रखर प्रकाश एवं शक्ति के सामने उसी प्रकार तुच्छ है, जैसे दोपहर के सूर्य के स्वर्गीय प्रकाश के साम ने आग की जरा सी, और कमजोर चिनगारी" ।

feeble prometheən speck in the full flood of the heavenly glory of the noonday sun-faltering and feeble and ever ready to be extinguished."

१६—प्रोफेसर बेबर साहब (Bewar) ने अपनी हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर (History of Sanskrit Literature) में हिन्दूतत्व ज्ञान की, उस की विशाल गहनता की, उस की सर्वोच्चता की बड़ी प्रशंसा की है। आप हिन्दूतत्वज्ञान के सम्बन्ध में लिखते हैं—"It is in this field and that of Grammar that the Indian mind attained tne highest pitch of its marvellous featality."

१७—श्रीमती एनी बेसेन्ट (Anne Besant) कहतीं हैं—"India Psychology is a far more perfect science than European Psychology."

१८—डाक्टर एनफिल (Enfil) अपनी हिस्ट्री आफ फिलॉसफी (History of Philosophy) में लिखते हैं—"We find that it (India) was visited for the purpose of acquiring knowledge by Pythagoras, Anaxarches, Pyrrho, and others who afterwords became eminent philosophers in Greece."

१९—एक स्वेडिश काउन्ट (Count) का कथन है—"Pythagoras and Plato hold the same doctrine that of Pythagoras being probably

---

१६—अर्थात्—"इस (तत्वज्ञान) क्षेत्र में, एवं व्याकरण में हिन्दुओं ने अपनी आश्चर्यकारिणी उत्पादक बुद्धि की सर्वोचता प्राप्त की है"।

१७—अर्थात्—"हिन्दूमानसशास्त्र युरोपियन मानसशास्त्र से कई गुना अधिक पूर्ण विज्ञान है"।

१८—अर्थात्—"हम देखते हैं कि हिन्दुस्तान में पायथागोरस (Pythagoras) और पायरो (Pyrrho) ज्ञान प्राप्त करने के लिए आए थे। ये महानुभाव ग्रीस के नामाङ्कित तत्वज्ञानी होगए हैं"।

१९—अर्थात्—"प्लटो और पायथागोरस दोनों एक ही सिद्धान्त मानते हैं, जो कि सिद्धान्त हिन्दुस्तान से लाया गया है। पायथागोरस ने अपने तत्वज्ञान के अभ्यास को पूर्ण करने के लिए हिन्दुस्तान में यात्रा की थी"।

derived from India whither he travelled to complete his philosophical studies."

२०—प्रॉफेसर शेगेल (Shegal) कहते हैं—"The doctrine of transmigration of souls was indigenous to India and was brought into Greece by Pythagoras."

२१—मि० कालब्रुक (Callbrook) कहते हैं—"The Hindus were in this respect the teachers and not the learners."

२२—एक फ्रेञ्च पण्डित का कथन है—"The traces of Hindu philosophy which appear at each step in the doctrines professed by the illustrious men of Greece abundantly prove that it was from the East came their science, and that many of them no doubt drank deeply at the principal fountain."

२३—प्रॉफेसर बॉप (Bopp) कहते हैं—"Sanskrit is more perfect and and copious than the Greek and Latin. At one time sanskrit was the one language spoken all over the world."

२०—अर्थात—"पुनर्जन्म का सिद्धान्त हिन्दुस्तान का है, एवं वह ग्रीस में पायथागोरस के द्वारा लाया गया"।

२१—अर्थात्—'इस बात में (तत्वज्ञान के सम्बन्ध में) हिन्दू गुरू थे, न कि शिष्य"।

२२—अर्थात्—'ग्रीस के सुप्रसिद्ध महानुभावों के द्वारा प्रकट किए सिद्धान्तों में पद पद पर हिन्दूतत्वज्ञान के चिन्ह मिलते हैं। उनसे यह बात सिद्ध होती है कि उन की विद्या पूर्वीय देशों से आई थी, एवं उन (विद्वानों में से) में से बहुतों ने मूलस्रोत से तत्वज्ञान का जलामृत पान किया था"।

२३—अर्थात—"संस्कृत (भाषा) ग्रीक एवं लेटिनभाषाओं से अधिक पूर्ण एवं विशाल है। "........." एक समय संस्कृत-भाषा सारे संसार में बोली जाती थी"।

२४—भारतवर्ष की प्राचीन स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए मि० थार्नट (Tharnat) कहते हैं—"The ancient state of India must have been one of extraordinary magnificence."

२५—संस्कृत साहित्य के अनन्य उपासक सर्वश्रीमेक्समूलर (Muxmuller) जो कि अपने आपको–" शर्म्मण्य–(जर्म्मन)–देशनिवासी भट्ट मोक्षमूलर शर्म्मा" इस उपाधि से सम्बोधित करने मे गौरवान्वित समझते हैं) का नाम कौन नहीं जानता। आपने संस्कृत साहित्य में बड़ा परिश्रम किया है। प्रायः सभी वेदग्रन्थों पर आपने अंग्रजी में कुछ न कुछ लिखा है। संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए आप कहते हैं—" Although there is hardly any department of learning which has not received new light and new life from the ancient literature of India, yet no where is the light that comes to us from India so important, novel, and so rich as in the study of the religion and mythology.

२४—अर्थात्—"भारत की प्राचीन स्थिति असाधारण रूप से उत्कृष्ट थी"।

२५—अर्थात्—"यद्यपि विद्या का कोई विभाग ऐसा नहीं है, जिस ने भारत के प्राचीन साहित्य से नया प्रकाश और नवीन जीवन प्राप्त न किया हो, तथापि वह प्रकाश जो कि भारतवर्ष से हमारे पास आता है, वह अन्य विषयों में इतना महत्वपूर्ण, नवीन एवं विशाल नहीं है, जितना कि धर्म्म और माइथालॉजी (Methologi)–असदाख्यानविज्ञान—(मिथ्या-कथाओं द्वारा सत्यविज्ञान प्रकट करने वाला ज्ञान ही माइथालाजी है, अवश्य ही **'माइथा'** शब्द **"मिथ्या"** शब्द का विकृतरूप है) के अध्ययन में है। (अर्थात् हमारे पास अभी भारतवर्ष का धर्म्मसम्बन्धी, एवं माइथालॉजी सम्बन्धी ज्ञान ही आपाया है। भारत की शेष ज्ञानविभूति से अभी तक हम वञ्चित हैं)"।

२६—सुप्रसिद्ध साहित्य सेवी स्वनामधन्य प्रॉफेसर मेगडानल्ड (Megdanald) (जो कि अपने आपको मुग्धानल नाम से सम्बोधित करते हैं) कहते हैं—"The intellectual debt of Europe to sanskrit literature has undeniably great. It may perhaps be come greater still in the years that one to come."

२७—काउन्ट जॉन स्टर्जना (Count John Stirjana) कहते हैं–"The litrature of India makes us acquainted with a great nature of past ager, which will always occupy a distinguished place in the history of the civilization of mankind."

२८—प्रॉफेसर हीरेन (Heeren) कहते हैं—"The literature of sanskrit language incontestally belongs to a highly cultivated people, when we may with great reason consider to have been the most in formed of all the east. It is at the same time scientific and a poetic literature. Hindu literature is one of the richest in prose and poetry."

२६—अर्थात्—"संस्कृत साहित्य का यूरोप पर जो बौद्धिक ऋण है, वह बहुत भारी है। शायद भविष्य में यह ऋण और भी और भी अधिक होजाय"।

२७—अर्थात—"भारतवर्ष का साहित्य परिचय भूतकाल के एक महाराष्ट्र के साथ हमारा परिचय कराता है, जिस साहित्य ने कि हरएक शाखा का ज्ञान प्राप्त किया था, एवं जो मानव जाति की सभ्यता में सदा के लिए एक महत्वपूर्ण आसन (प्रतिष्ठा) पर विराजमान रहैगा"।

२८—अर्थात—"संस्कृत साहित्य निश्चितरूप से ऊंचे दर्जे के सुसभ्य लोगों का साहित्य है। इन लोगों को हम पूर्वीयदेशों के सब लोगों से अधिक ज्ञानवान् कह सकते हैं। यह साहित्य वैज्ञानिक एवं कवितायुक्त है। हिन्दू साहित्य गद्य और पद्य में ऊंचे से ऊंचे साहित्य में से है"।

२६—डा० वेलेन्टिन (Ballantyne) कहते हैं—"Sanskrit is the original source of the Europen languages of the present day. Sanskrit is the mother of all Aryan languages."

३०—संस्कृत साहित्य की विशालता का परिचय देते हुए प्रॉफेसर मेगूडानल्ड (Magdanald) कहते हैं—"That the sanskrit literature in quantity exceeds that of Greece and Rome put together.

३१—इसी सम्बन्ध में प्रो० मेक्समूलर साहब (Maxmuler Sahib) कहते हैं—"The number of sanskrit works of whfch M.S.S. are still in existence amounts to ten thousands. This is more I believe than the whole classical literature of Greece and Italy put together."

३२—माननीय सर विलियमजोन्स (Sir William Jones) तो यहां तक स्वीकार करते हैं कि—"अमरकीर्त्ति न्यूटन (Newton) के यश को बिलकुल कम न करते हुए मुझे यह कहना पड़ता है कि न्यूटन द्वारा आविष्कृत सब तत्व हिन्दूतत्वज्ञान में मिलते हैं।"

२६—अर्थात्—"वर्त्तमान की सब युरोपीय भाषाओं का मूल संस्कृत ही है। ....संस्कृत सब आर्य्यभाषाओं की माता है"।

३०—अर्थात्—"संस्कृत साहित्य संख्या में ग्रीस एवं रोम दोनों देशों के संयुक्त साहित्य से भी ज्यादह है"।

३१—अर्थात—"संस्कृत ग्रन्थों की संख्या, जिन की प्रतियां अब तक मिली हैं, लगभग १० हजार हैं। यदि ग्रीस एवं इटली के साहित्य को मिला लिया जावे, तब भी शायद यह इस से ज्यादह निकलेंगी"।

३३—अमेरिका येल विश्वविद्यालय के माननीय प्रेसीडेन्ट डा० साइल्स (Syles) संस्कृत साहित्य का अध्ययन कर इससे इतने प्रभावित हुए थे कि उन्हें " आदम " की पुस्तकें भारतवर्ष में उपलब्ध होने की सम्भावना जान पड़ी। इसी सम्भावना से प्रेरित होकर उन्होंने उनकी खोज के लिए सर विलियम जोन्स से प्रार्थना की थी।

३४—फ्रेञ्च महापुरुष पायरी लॉटे (Pieree Lati) ने कॉमिटि फ्रेङ्को हिन्डो (Comiti Franco Hindow) नामक संस्था के प्रेसीडेन्ट को भारतमाता के लिए अपने निम्न लिखित परमपूज्य भाव प्रकट किए थे—

"हे प्राचीन भारत भूमि ! हे सकल तत्वज्ञान एवं कलाकौशल की आद्य जननि ! मैं तुझे बड़े आदर, बड़े प्रेम, एवं पूज्यभाव से घुटने टेक कर नमस्कार करता हूं"।

३५—महापुरुष ईसा के ६ हजार वर्ष पहिले एजेकिल (Ajakil) ने कहा था—
"And, below the glory of the God of Israel came from the way of the East"

(देखो ! इस्राएल के ईश्वर का तेज पूर्व की तरफ से आया)। मीमांसा कीजिए यह पूर्वीय देश कौन सा था? क्या वह भारतवर्ष नहीं था, था और अवश्य था। सुप्रसिद्ध बंगाली इतिहास लेखक पण्डित सत्यचरण शास्त्री महोदय ने " हितवादी " में अपने एक गवेषणापूर्ण निबन्ध से यह सिद्ध किया है कि " आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारत वासियों ने पूर्वीय एवं पश्चिमीय कई राष्ट्रों में धर्म्मोपदेशक भेजकर अपने धर्म्म, तत्वज्ञान, एवं साहित्य का प्रचार किया था, एवं उन्हों ने कई राष्ट्रों पर अपना आधिपत्य स्थापित किया था "

यह तो हुई भारतवर्ष के साहित्य की चर्चा। अब थोड़ी देर के लिए आचार-व्यवहार पर भी ध्यान दीजिए। यद्यपि यह ठीक है कि इस २० वीं शताब्दी का भारत अवश्य ही अपने

आदर्श से पिछड़ गया है, परन्तु यह किस की कृपा है ? इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत की इस हीनदशा का एकमात्र कारण उन कुटिल राजनैतिक विद्वानों की कुटिलता ही है, जिन का कि एकमात्र उद्देश्य अपनी अर्थलालसा को तृप्त करना है। हमारे उन अबोध बालकों को आज आरम्भ से ही यह सिखलाया जाता है कि—"तुम्हारे पूर्वज असभ्य थे, जंगली थे, लौह, ताम्र, अग्नि, सूर्य्य आदि जड़ पदार्थों के उपासक थे, विज्ञानशून्य थे। तुम्हें सर्वप्रथम सत्यता का पाठ हम पढ़ा रहे हैं। हमारे संसर्ग से तुम मानवजीवन के रहस्य को समझ रहे हो। तुम्हारे पास अपने घर क कोई मौलिक साहित्य नहीं है"। कहना नहीं होगा कि इस भीषण शिक्षायन्त्र से यन्त्रित, साथ ही में कुछ एक भौतिक सर्वनाशक आविष्कारों से उपलालित हमारे यह होनहार युवक अपने मौलिक साहित्य से वञ्चित रहते हुए आदर्श को भुलाते जारहे हैं। उन्हीं राजनैतिकों की कृपा से अर्थसमस्या को हल करने में अहोरात्र त्रस्त भारतवर्ष के पास आज इतना समय ही नहीं है कि वह अपनी प्राचीन संस्कृति के दर्शन कर सके। हमें अपने बचपन की उन घटनाओं का अच्छी तरह स्मरण है, जो कि भारत की वास्तविकता के बचे खुचे आलोक थे। लोग हरे वृक्ष के नीचे खड़े रह कर शपथ खाना पाप समझते थे, परसम्पत्ति का अपहरण करना आदर्श के विरुद्ध मानते थे। जो व्यक्ति अपने मुख से एक बार जो कुछ कह देता था, उसे यथाशक्ति निभाने में वह सदा सतर्क रहता था। इन २० वर्षों के भीतर भीतर इस देश के आदर्श का जो पतन हुआ है, वह अवश्य ही हमारे सर्वनाश की पूर्वसूचना है। आज लिखित स्टाम्पों का भी कोई मूल्य नहीं। असत्यमार्ग को अपनाना आज बुद्धिमानी समझी जारही है। एक दूसरे का सर्वस्व स्वाहा करना आज का आदर्श बन रहा है। क्यों ? उत्तर वही। जब तक उक्त महापुरुषों के द्वारा आविष्कृत उक्त जहरीले गेस का प्रभाव इस देश में न फैला था, तब तक यह देश अपने आदर्श में कैसा बढ़ा चढ़ा था ? इस का व्यवहार कितना सत्य था ? इन प्रश्नों का समाधान उन पश्चिमी विद्वानों से पूछिए, जिन्होंने पक्षपात रहित बन कर इस सम्बन्ध में अपने सत्य-विचार प्रकट किए हैं।

१—सुप्रसिद्ध विद्वान् स्टेबो ('Stabo) कहते हैं—"They are so honest as neither to require locks to their doors not writings to bind their agreements"

२—एपिक्टेटस (Apicktatus) के सुयोग्य शिष्य एरियम (Arrian) जो दूसरी सदी में हुए हैं, लिखते हैं—"No Indian was ever known to till the untruth."

३—सुप्रसिद्ध चीनी यात्री हूयेनसांग लिखते हैं—"The Indians are distinguished by the straighi forwardness and honesty of their character. With regard to riches, they never take any thing unjustly with regard to justice, they make even excessive can cessions.

४—तेरहवीं शताब्दी में उत्पन्न होने वाले मि० मार्को पोलो (Marco Polo) कहते हैं—"You must know that these Brahmins are the best merchants in the world and the most truthful, for they would not till a lie for anything on earth."

५—सरजॉन माल्कम साहब (Sir John Malcom Sahib) लिखते हैं—"Their truth is as remarkable as their courage."

१—"वे (भारतवासी) बड़े ईमानदार हैं। न तो उन्हें अपने दर्वाजों के ताले लगाने पड़ते हैं, एवं न दस्तावेजों के लिए लेख लिखना पड़ता है"।

२—"कोई हिन्दुस्तानी असत्य बोलता हुआ न जाना गया"।

३—"भारतवासी अपनी सरल प्रकृति एवं ईमानदारी के लिए प्रसिद्ध हैं। धन के सम्बन्ध में यह बात है कि वे अन्याय से कोई चीज नहीं लेते। न्याय के मामलों में वे बहुत रियायत करते हैं"।

४—"आप को जानना चाहिए कि ये ब्राह्मण संसार में सब से अच्छे व्यापारी, एवं सब से अधिक सच्चे हैं। वे इस पृथिवी पर की चीज के लिए झूठ नहीं बोलते"।

५—"उन का सत्यभाषण उतना ही उल्लेखनीय है, जितना कि उन का धैर्य्य"।

६—कई वर्षों तक हिन्दू समाज में रहने वाले, उन की सभ्यता से पूर्ण परिचय रखने वाले कर्नल स्लिमन (Colonel Sleeman) लिखते हैं—" I have had before me hundreds of cases in which a man's property, liberty and life has dedended upon his telling a lie and he has refused to tell it. "

७—प्रॉफेसर मैक्समूलर (Muxmuller) साहब लिखते हैं—" It was love of truth that struck all the peodle who came in contact with India, as the prominent feature in the national character of its in habitants. No one ever accused them of falsehood. "

८—निबूर साहब (Neibuhr) कहते हैं—" The Indians are really the most tolerent nation in the word. They are gentle, virtuous, laborious and that, perhaps of all men, they are the ones who seek to injure their fellow-being in the least.

९—मि० कॉलेमन (Coleman) कहते हैं—" The sages and poets of India have inculcated moral precepts and displayee poetic ancient or modern date need be ashamed to acknowledge. "

६—"मेरे सामने ऐसे हजारों मामले उपस्थित हुए हैं, जिनमें मनुष्य की जायदाद, स्वतन्त्रता एवं जिन्दगी उन के झूठ बोलने पर ही निर्भर थी, परन्तु उन्होंने झूठ बोलने से इन्कार किया" ।

७—"भारतवासियों के राष्ट्रीय चरित्र में सत्यप्रेम एक ऐसी वस्तु थी, जिसने उन सब लोगों को मोहित कर दिया, जिन से कि भारत का सम्बन्ध हुआ" ।

८—"हिन्दुस्तान संसार में सब से अधिक सहनशील राष्ट्र है । वे हिन्दुस्तानी सभ्य, प्रामाणिक एवं परिश्रमी हैं । एवं समग्र संसार के मनुष्यों में वे ही एक ऐसे हैं, जो अपने जीवधारी बन्धुओं को कभी कष्ट नहीं पहुंचाते" ।

९—"भारतवासियों ने जो नैतिक आज्ञाएं जारी कीं हैं, तथा जैसा काव्य का सौन्दर्य प्रकट किया है, उसे स्वीकार करने में किसी भी आधुनिक अथवा प्राचीन राष्ट्र को न शर्माना चाहिए" ।

१०--स्यामदेश का चीनी राजदूत खान थाई (Khan Thai) कहता है कि स्याम के राजा का सुवी (Suwe) नामक रिश्तेदार जो ईसवी सन् १२३१ में भारत यात्रा करने आया था, उसने भारत से लौटने पर राजा से रिपोर्ट की थी कि--"The Indians are straight forward and honest.

११--फायर जोडिन्स (Fire Zodens) कहते हैं--"That is people of India are true in speech and eminent in justice."

१२—चीन सम्राट याँगटी (Yangti) के राजदूत फीकू (Feitu) जो कि ईसवी सन् ६०५ में भारतवर्ष में आये थे, लिखते हैं कि—हिन्दूलोग अपनी पवित्र सौगन्द पर विश्वास करते हैं"।

१३—इडरीसी (Idrisi) अपने भूगोल में जो कि ११वीं शताब्दी में लिखा गया है, लिखते हैं—"The Indians are naturally inclined to justice and never depart from in it their actions. Their good faith, honesty and fidelity are well-know, and the are so famous for these qualities that people flock to their country from every side."

१४—सुप्रसिद्ध ग्रीक निवासी मेगेस्थेनिस (Megasthanese) कहते हैं कि—"भारतवासियों में दासत्व का अभाव था। यहां स्त्रियों का सतीत्व अलौकिक था। लोगों में अचल धैर्य था। वीरता में सब एशियावासियों में यह बढ़े चढ़े थे। वे बड़े

१०—"भारतवासी सरलप्रकृति, एवं ईमानदार हैं"।

११—"भारतवासी जुबान के सच्चे, एवं न्याय के लिए प्रसिद्ध हैं"।

१३—"भारतवासियों का स्वाभाविक झुकाव न्याय की ओर है। वे अपने कार्यों में कभी न्याय को नहीं छोड़ते। उन की सुश्रद्धा, प्रामाणिकता, एवं कर्त्तव्यपरायणता सुप्रसिद्ध है। इन सद्गुणों के लिए वे इतने प्रख्यात हैं कि हरएक प्रान्त से झुण्ड के झुण्ड लोग (आदर्श सीखने के लिए) उन के देश (भारतवर्ष) में आते हैं"।

गम्भीर शान्त एवं बड़े परिश्रमी थे। अच्छे कारीगर थे। वे शायद ही कोई मुक़दमा दायर करते थे। अपने देशी राजाओं के नीचे वे शान्तिपूर्वक रहते थे"।

१५—सर मॉनियर विलियम्स (Sir Maniyar Williams) लिखते हैं—"हिन्दूलोग किसी प्राणी का वध करना अच्छा नहीं समझते"।

१६—सर जॉन माल्कम (Sir John Malcom) हिन्दुओं के आदर्श से प्रभावित होकर कहते हैं—"सत्यप्रियता, एवं विश्वासपात्रता में संसार की कोई जाति हिन्दुओं की बराबरी नहीं कर सकती"।

१७—भारतवर्ष के गवर्नर जनरल लॉर्ड हेस्टिंगस (Lard Hastings) कहते हैं—"The Hindus are gentle, benevalent, more susceptible of gratitude for kindness shown to them than prompted to vengeance for wrongs inflicted, and as exempt from the worst propensities of human passion as, any people upon the face os the earth. They are faithfnl, affectionate, etc." Miuutes of evidence before the comm ttee of both honses of parliament March 8th 1813.

१७—अर्थात्—"हिन्दू लोग विनम्रस्वभाव वाले, दानशील, एवं अपने उपकारक के प्रति अत्यन्त कृतज्ञ होते हैं। साथ ही में इनके साथ यदि कोई अनुचित, एवं अन्यायपूर्ण व्यवहार कर लेता है तो (अपनी स्वाभाविक उदारता के कारण) यह उसे बदला लेने की भावना नहीं रखते। वे (हिन्दू) काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य, अभिमान आदि दुर्गणों से सर्वथा अलग रहते हैं। विश्व में उक्त गुणों में जो जाति सर्वोच्च होसकती है, उसके साथ इस हिन्दू-जाति की तुलना की जासकती है। वे भक्त (वफ़ादार कृतज्ञ), मनुष्य से प्रेम करने वाले होते हैं। (पार्लियामेंट, दोनों हाउसेज (कॉमन्स एवं लार्ड्स) की कमेटी के सामने, ता० ८ मार्च-१८१३)"।

१८—**बिशॉप हेबर साहब** (Bishop Habour Sahib) लिखते हैं कि–"**जो लोग हिन्दुओं के साथ रहे हैं, वे यह कदापि नहीं कह सकते कि सभ्य मनुष्यों में होने वाले किसी आवश्यक सद्‌गुण से हिन्दू विहीन हैं**"। आगे जाकर फिर यही महानुभाव कहते हैं—"I have found in India a race of gentle and temperate habits, with a natural talent and acuteness beyond the ordinary level of mankind."

१९—**प्रो॰ मॉनियर विलियम** (Pro. Mahiyor William) कहते हैं—"I have found no people in Europe more religious than the Hindoos"

२०—एक **पाश्चात्य विद्वान्** कहता है—"We are told by Greeian writers that the Indians were the wisest of nations"

२१—**अकबर** के दरबार के नवरत्नों में से प्रसिद्ध इतिहास लेखक सर्वश्री **अबुल-फज़ल** कहते हैं—"**हिन्दू धार्मिक, नम्र, दूसरों के प्रति दया दिखाने वाले, न्याय-प्रेमी, कार्यकुशल, कृतज्ञ, सत्यप्रेमी, एवं व्यवहार के सच्चे हैं**"।

२२—तेरहवीं सदी में **शम्सुद्दीन अब्दुल्ला** महोदय ने हिन्दुओं के सम्बन्ध में एक महान् मुसलमान का मत उद्धृत किया है। उसका सारांश यह है कि—"**बालूरेत के कणों की तरह हिन्दुलोग संख्या में असंख्य हैं। वे धोखेबाजी, एवं अत्याचारों से सर्वथा मुक्त हैं, वे जीवनमरण से नहीं डरते**"।

१८—अर्थात—"भारतवर्ष में मुझे सुसभ्यता, सुशीलता, सदाचारभावों की प्रधानता रखनें वाली ऐसी जातिएं मिलीं हैं, जो कि मनुष्यजाति के साधारण धरातल से कहीं अधिक चतुर एवं उन्नत हैं"।

१९—"मैंने हिन्दुओं से अधिक धर्मात्मा मनुष्य यूरोप में नहीं देखे"।

२०—"हमें ग्रीस के लेखक कहते हैं कि हिन्दूलोग सब राष्ट्रों के लोगों से अधिक बुद्धिमान् हैं"।

पूर्व प्रदर्शित निदर्शनों से विज्ञ पाठकों को यह भलीभांति विदित होगया होगा कि जिस भारतीय साहित्य को, विशेषतः वैदिक साहित्य को हमने केवल पूजन की सामग्री समझ रक्खी है, जिस के पारायणरूप पुण्यपाठ को ही हमने सर्वात्मना महत्व दे रक्खा है, उसी वैज्ञानिक साहित्य के आधार पर पश्चिमी विद्वान् दिन दिन नए नए आविष्कार करते जा रहे हैं, एवं उन के प्रभाव से संसार में अपना प्रभुत्व स्थापित करते हुए सर्वत्र अपनी विजयपताका उड़ा रहे हैं। इसी सम्बन्ध में हमें एक घटना का स्मरण होता है। प्रसङ्गोपात्त प्रकृत में उसे उद्धृत कर देना अनुचित न होगा।

किंवदन्ती के आधार पर यह सुना गया है कि--"भूतपूर्व महाराज ग्वालियर अपने भृत्यवर्ग के साथ एक बार पश्चिमी देशों की यात्रा करने पधारे। इन के साथ एक संस्कृतज्ञ मद्रासी विद्वान् भी थे। अन्यान्यदेशों भ्रमण करते हुए उक्त महाराज जर्म्मन पधारे। और और द्रष्टव्य वस्तुओं के साथ साथ महाराज ने वहां की सुप्रसिद्ध **"केसर लायब्रैरी"** भी देखी। लायब्रैरियन सुव्यस्थित तत्तत् पुस्तकों को दिखलाता जाता था। महाराज को यह देख कर आश्चर्य हुआ कि वहां संस्कृत साहित्य के ग्रन्थ भारत की अपेक्षा अधिक संख्या में सुरक्षित हैं। अस्तु देखते देखते इन की दृष्टि सहसा एक सुवर्णमण्डित मञ्जूषा पर पड़ी। इन्होंने इसे खुलवाकर इसमें रक्खी पुस्तक देखने की इच्छा प्रकट की। लायब्रैरियन से उत्तर मिला—"क्षमा कीजिए! हमारी पार्लियामेन्ट के एक विशेष नियम के नियन्त्रण के कारण मैं इसे नहीं खोल सकता"। महाराज की अधिक जिज्ञासा देख कर इसने इस सम्बन्ध में केवल इतना सा कह दिया कि **"इसमें बड़े उद्योग से अतुलद्रव्य खर्च कर के भारतवर्ष से लाई गई किसी वेद की शाखा है"**। महाराज ने आगे कुछ न कहा। वापस लौट कर सीधे प्रेसीडेण्ट के बङ्गले पर पहुंचे, एवं वहां अपनी उक्त जिज्ञासा प्रकट की। फलतः महाराज के लिए पुस्तकालयाध्यक्ष को उक्त पुस्तक दिखलाने की आज्ञा मिल गई। भारतीय पण्डित साथ थे, परन्तु ठीक हमारे जैसे। उन्होंने महाराज के आदेश से ताड़पत्र पर लिखित उक्त पुस्तक के अक्षरों को पहिचानने का प्रयास किया, कुछ अंश के फोटू भी लिए। परन्तु वेदमर्म्मानभिज्ञ इन पण्डितजी के लिए उन

पङ्क्तियों को अज्ञातदशा में ही रह जाना पड़ा । बाद में वहीं किसी व्यक्ति विशेष से विदित हुआ कि उक्त पुस्तक में फ़ौलाद ढालने की विधि है ।"

हा हतभाग्य भारत ! क्या तेरी इस मौलिक सम्पति से तेरी सन्तान भी कभी लाभ उठावेगी ?

पश्चिमी विद्वानों के वैदिक साहित्यप्रेम की एक और प्रामाणिक घटना का हाल सुनिए । लेखक के गुरुवर **श्रीमधुसूदन**जी ओझा विद्यावाचस्पति स्वर्गीय जयपुरेन्द्र **श्रीमाधवसिंह**जी महाराज के साथ **श्रीसम्राट्**महोदय की ताजपोशी के अवसर पर इंग्लैण्ड पधारे थे । आप के वैदिकविज्ञान सम्बन्धी धारावाहिक व्याख्यानों से वहां के विद्वान् बड़े ही चमत्कृत हुए थे । वहां की घटनाओं को सुनाते हुए गुरुवर ने एक बार कहा था कि हमें न्यायशास्त्र के उद्भट विद्वान्, एवं विशुद्ध संस्कृत में धारावाहिक बोलने वाले **टामस** (Thomas) साहब के साथ किसी समय **वैदिकपुस्तकप्रकाशनविभाग** देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उस समय **मानवश्रौतसूत्र** (जो कि भारतवर्ष में अप्राप्त है) का प्रकाशन हो रहा था । यह देख कर हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहा कि अनेक भद्र महिलाएं स्थिर एवं शान्तभाव से बड़ी सतर्कता के साथ उक्त ग्रन्थ का संशोधन कर रही हैं ।

इधर हमारे देश की यह दशा है कि वैदिक ग्रन्थों के नाम से भी हम परिचित नहीं हैं । बम्बई यात्रा के अवसर पर एक ब्राह्मणश्रेष्ठ ने व्याख्यानों में **शतपथब्राह्मण** नाम के उल्लेख से हम से यह प्रश्न किया था कि यह **ब्राह्मण जाति कहां रहती है ?** अधिक खेद का विषय तो यह है कि इस देश के प्रसिद्ध विद्वान् भी केवल **पौरुषेय-अपौरुषेय** के झगड़े में ही वेद की इतिकर्त्तव्यता समाप्त समझ लेते हैं । कितने ही विद्वानों के श्रीमुख से तो यह भी सुना गया है कि **वेद का भी क्या कभी अर्थ होता है ? कभी नहीं । इस ईश्वर की वाणी के तो पारायणमात्र से ही हमारा कल्याण है ।** शिव ! शिव !! कितनी अविद्या ! कैसा पतन !! विचित्र विडम्बना !!!

नवीनशिक्षादीक्षित भारतीयों के सन्तोष के लिए पाश्चात्य विद्वानों के उद्धरण उद्धृत किए गए। अब संस्कृतज्ञ, किन्तु वैदिक साहित्य से प्रायः सर्वथा पराङ्मुख भारतीय विद्वानों के परितोष के लिए कुछ एक वैज्ञानिक निदर्शन बतलाना भी हम अपना आवश्यक कर्त्तव्य समझते हैं। इन निदर्शनों से उन्हें यह विदित होगा कि वेदशास्त्र केवल पारायण की ही वस्तु नहीं है, अपितु उस में सब कुछ निहित है। यदि हम उसे यथावत् जानलें तो सब कुछ कर सकते हैं।

वैज्ञानिक तत्ववाद को कई शताब्दियों से भूले हुए विद्वत्समाज के कर्णकुहरों में जब हमारा "विज्ञान" शब्द प्रविष्ट होता है तो वे सहसा चौकन्ने होजाते हैं। न केवल चौकन्ने ही होजाते, अपितु इस विज्ञानसूर्य्य के प्रखर तेज से छिन्न भिन्न होने वाले अपने कल्पित गन्धर्वनगररूप तम की रक्षा के व्यर्थ के प्रयास में व्यस्त यह संत्रस्त पण्डित महानुभाव "**अशक्तास्तत्पदं गन्तुं ततो निन्दां प्रकुर्वते**" इस न्याय का आश्रय लेते हुए "**विज्ञान वाद तो नास्तिकों का मत है। विज्ञान से श्रद्धा नष्ट होजाती है। यह विज्ञानवाद अशास्त्रीय है**", अपने यह उद्गार प्रकट किया करते हैं। कहना नहीं होगा कि उन के इन व्यर्थ के उद्गारों का शास्त्रीय दृष्टि से कोई मूल्य नहीं है। उन्हें शायद यह भ्रम होया है कि विज्ञान से हम नास्तिकों द्वारा अभिमत **क्षणिकविज्ञानवाद** का निरूपण करते हैं। अथवा उन के भ्रम का दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि कुछ समय पूर्व वेदों के बहाने भारतवर्ष के ही एक व्यक्तिविशेष द्वारा उक्त क्षणिक विज्ञानवाद का प्रचार हुआ है। उस अनधिकारी ने वेदों में **तार** (Telegraph), **वायरलेस टेलीग्राफी** (Wireless), **फोनोग्राफ** (Phonograph) आदि आविष्कारों की सत्ता सिद्ध करने में ही वेद का महत्व समझते हुए नित्यसिद्ध **देवतावाद, अवतारवाद, प्रतिमापूजन, श्राद्धकर्म्म** आदि विषयों को अवैदिक बतलाते हुए क्रियात्मक सनातनधर्म्म के उपहास की विफल चेष्टा की है। "**संम्भव है हम भी विज्ञान के बहाने सनातनधर्म्म के उक्त सिद्धान्तों को अवैदिक बतलाने के लिए ही यह प्रयास कर रहे हों**" यही उन के भ्रम का दूसरा कारण है। इस सम्बन्ध में अपने व्यक्तित्व का

स्पष्टीकरण करते हुए हम उन विद्वानों की सेवा में करबद्ध यह निवेदन कर देना चाहते हैं कि न तो हमारा उद्देश्य वेदों में तार-टेलीफोन ही सिद्ध करना है। न हम क्षणिकविज्ञानवादी हैं, एवं न हम सनातनधर्म्म के सिद्धान्तों का खण्डन करने के लिए ही आगे बढ़े हैं। श्रुति-स्मृति पुराण-निबन्ध-तन्त्र आदि ग्रन्थ हमारे लिए सर्वथा प्रमाण हैं। **"नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" "विज्ञानादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते" "स एष आत्मा विज्ञानघनः" "ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः"** इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त स्थलों में जिस अभिप्राय से विज्ञानशब्द प्रयुक्त हुआ है, हमारे विज्ञान शब्द का वही तात्पर्य्य है। **"सनातनधर्म्म के प्रत्येक सिद्धान्त की शास्त्रीय प्रमाणों द्वारा मौलिक उपपत्ति बतलाना"** ही हमारे प्रयास का चरम लक्ष्य है। अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए थोड़ी देर के लिए यह मान लीजिए कि हमारा यह वैज्ञानिक साहित्य सर्वथा कल्पित है। यदि ऐसे कल्पित साहित्य से भारतवर्ष में सनातनधर्म्म के सिद्धान्तों पर से उखड़ी हुई श्रद्धा पुनः प्रतिष्ठित होजाती है, दूसरे शब्दों में हमारे इस कल्पित शब्दाडम्बर से प्रभावित होकर जनता आप के धार्मिक सिद्धान्तों की सत्यता पर पूर्ण विश्वास करती हुई उन के अनुष्ठान में प्रवृत्त होजाती है तो भगवान् भर्तृहरि के निम्न लिखित सिद्धान्त के अनुसार आप इस साहित्य का उपहास करने का कोई अधिकार नहीं रख सकते—

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ (वाक्यपदी)

"मीमांसाशास्त्र सम्मत विषय की पूर्ण सङ्गति, प्रत्येक विषय की सिद्धि के लिए शास्त्रीय प्रमाणों का आश्रय, शास्त्रसिद्ध युक्तिवाद, एवं तर्कवाद द्वारा विषय की स्थापना, फलांश में जनता की आर्यसंस्कृति की ओर प्रवृत्ति, सनातनधर्म्म के प्रत्येक सिद्धान्त की पूर्ण पुष्टि" इन सब बातों के रहते हुए भी यदि अज्ञानतावश किन्हीं आंख वालों को यह साहित्य नास्तिकता फैलाने वाला ही प्रतीत होता है तो उन की चिकित्सा

स्वयं धन्वन्तरि भी नहीं कर सकते–"**सर्वज्ञानविमूढांस्तान् विद्धि नष्टानचेतसः**" जिस ईश्वर प्रजापति के हम (मनुष्य) अंश हैं, उस के साथ **कर्म्म-ज्ञानयोग** की समष्टिरूप **बुद्धियोगनिष्ठा** द्वारा अविच्छिन्न सम्बन्ध स्थापित कर लेना ही हमारा परम पुरुषार्थ है। अपनी पुरुषार्थसिद्धि के लिए जिस विश्वेश्वर का आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है, पहिले उस का यथार्थस्वरूप जान लेना भी आवश्यक कोटि में ही प्रविष्ट है। "**उस विश्वेश्वर का यथार्थ स्वरूप बतलाते हुए, उस की प्राप्ति का उपाय बतला कर जीवात्मा के चरम लक्ष्य को सफल बनादेना**" बस भारतीय वैदिक साहित्य का यही प्रधान प्रतिपाद्य विषय है। विश्वेश्वर के स्वरूपज्ञान के सम्बन्ध में प्रधानरूप से **विश्व** एवं **ईश्वर** यह दो तत्व विज्ञातव्य हैं। विशुद्ध आत्मतत्व ही **महामाया** के सम्बन्ध से सोपाधिक बनता हुआ विश्वोत्पत्ति का कारण बनता है। विश्व में रहने वाले पुरुष का उपास्य सोपाधिक विश्वात्मा ही बन सकता है। विशुद्ध आत्मा का शास्त्रमर्य्यादा से कोई सम्बन्ध नहीं है। अब इस सम्बन्ध में हमारे सामने दो प्रश्न रह जाते हैं। **वह व्यापक आत्मा माया बल से सीमित बनता हुआ कैसे विश्वरूप में परिणत होगया?** यही पहिला प्रश्न है। **संहारकाल में यह विश्व कैसे पुनः विशुद्ध आत्मस्वरूप में परिणत हो जायगा?** यही दूसरा प्रश्न है। दूसरे शब्दों में **आत्मा विश्व कैसे बन गया, विश्व आत्मरूप में कैसे परिणत हो गया?** यही प्रश्न हमारी जिज्ञासा को बलवती बनाते हैं। इन्हीं दोनों प्रश्नों के समाधान के लिए ऋषियों नें **संचर** एवं **प्रतिसंचर** नाम के दो पक्षों का समर्थन किया है। **आत्मा विश्व कैसे बनगया?** इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या **संचरविद्या** है। इसी को **सर्ग, सृष्टि**, उत्पत्ति, व्यक्ति आदि अनेक नामों से व्यवहृत किया गया है। **विश्व कैसे आत्मरूप में परिणत हो जायगा?** इस प्रश्न का समाधान करने वाली विद्या **प्रतिसंचरविद्या** है। यही **प्रतिसर्ग**, विनाश, अव्यक्तभाव आदि विविध-नामों से व्यवहृत हुई है। संचरविद्या **एकत्त्व** को उद्देश्य मान कर **नानात्त्व** का विधान करती है, प्रतिसंचरविद्या **नानात्त्व** को उद्देश्य मान कर **एकत्त्व** का विधान करती है। "**ब्रह्मैवेदं सर्वम्**" यह श्रुति "**ब्रह्म ही सब कुछ है**" इत्यादि रूप से **एक ब्रह्म** को उद्देश्य बतलाती हुई **सर्वरूप**

(नानारूप) **विश्व** का विधान करती हुई **संचरविद्या** का स्पष्टीकरण कर रही है। एवं "**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" इत्यादि श्रुति "**यह सब कुछ (दृश्यमान प्रपञ्चरूप विश्व) ब्रह्म है**" इत्यादि रूप से **सर्वरूप विश्व** को उद्देश्य कोटि में रख कर इस के स्थान में **एकत्व मूलक ब्रह्म** का विधान करती हुई **प्रतिसंचर विद्या** का स्पष्टीकरण कर रही है । इसी प्रकार [1]"**प्रजापतिस्त्वेवेदं सर्वं यदिदं किञ्च**" (शत० ब्रा० ११।२।३।),-[2]"**एकं वा इदं वि बभूव सर्वम्**" (ऋक् सं० ६।४।२९)-[3]"**तमेकं सन्तं विप्रा बहुधा वदन्ति**" (ऋक् सं० १।-१६४।४६) — [4]"**पुरुष एवेदं सर्वम्**" (यजुःसं० ३१।२।)-[5]"**आत्मैवेदं सर्वम्**" (छां० उप० ७।२३।२।)— [6]"**आत्मा उ एकः सन्नेतत् त्रयम्**" (शत० १४।५।१)-[7]"**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः**" (तै०उप०२।१।), [8]"**त्रीणि ज्योतींषि**

१—"प्रजापति ही यह सब कुछ है, जो कि (नानारूप से) प्रत्यक्ष दिखलाई दे रहा है।

२—"एक (ब्रह्म) ही यह सब कुछ बना हुआ है"।

३—"उसे एकरूप होते हुए (भी संचरपक्षानुसार) विद्वान् लोग **अग्नि-यम-मातरिश्वा** आदि नानारूप से व्यवहृत करते हैं"।

४—"पुरुष (अव्यय-अक्षर-क्षर पुरुष की समष्टिरूप षोड़शी पुरुष) ही यह सब कुछ (बन रहा) है"।

५—"आत्मा ही यह सब कुछ (बन रहा) है"।

६—"आत्मा ही (आरम्भ में एकरूप रहता हुआ विश्वदशा में) **नाम-रूप-कर्म** भेद से तीन स्वरूपों में परिणत हो रहा है"।

७—"उस आत्मा से ही **आकाश** उत्पन्न हुआ है, आकाश से **वायु**, वायु से **अग्नि**, अग्नि से **जल**, जल से **पृथिवी** (**मिट्टी**), पृथिवी से **ओषधि** (**अन्न**), ओषधि से **रेत** (**शुक्र**), रेत की आहुति से **पुरुष** उत्पन्न हुआ है"।

८—"वह षोडशी पुरुष (अपने से उत्पन्न विश्व के साथ) **सूर्य्य**, **चन्द्र**, **अग्नि** अपनी इन भूतज्योतियों से, किंवा ज्ञानमय **अव्यय**, क्रियामय **अक्षर**, अर्थमय **क्षर**, इन तीन आत्मज्योतियों से युक्त होरहा है"।

सचते स षोडशी" (यजु०सं० ८।३६)–[९] 'षोडशकलं वा इदं सर्वम्" (शत० १३।-२।२।१३)–[१०]"अहं सर्वस्य प्रभवो, मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते" (गीता० ......)–[११]"अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च" (गीता० १०।२०)–[१२]" मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्" (गीता० ९।१०)–[१३]" मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनंजय (गीता०-७।७) इत्यादि श्रुति-स्मृतिएं "ब्रह्म ही, किंवा आत्मप्रजापति ही विश्वरूप में परिणत हुआ है" इस सिद्धान्त का समर्थन करतीं हुईं संचरविद्या का प्रतिपादन कर रहीं हैं।

इसी प्रकार "[१]सर्वमु ह्येवेदं प्रजापतिः" (शत० ब्रा० १।१।४)–"[२]सर्वं ह्ययमात्मा" (शत०४।२।२।१)–"[३]इमे लोकाः प्रजापतिः" (शत०७।५।१।२७)–"[४]प्रजापतिर्वा इद-मग्र एक एवास" (शत० २।२।४।१)–"[५]रूपं वै नाम वै प्रजापतिः" (शत०२।२।७।१)

९—"(पञ्चकलअव्यय, पञ्चकलअक्षर, पञ्चकलक्षर, एककल किंवा निष्कल परात्पर इन १६ कलाओं से युक्त षोडशी प्रजापति से उत्पन्न) यह सम्पूर्ण विश्व व्यष्टि एवं समष्टि रूप से उभयथा षोडशकल है"।

१०—"मैं (अव्यय पुरुष) सम्पूर्ण विश्व का उत्पत्तिस्थान हूं। मुझ से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है"।

११—"मैं भूतों का आदि, मध्य, एवं अन्त हूं"।

१२—"मेरी अध्यक्षता में प्रकृति (अक्षर) ही चराचर विश्व का निम्माण करती है"।

१३—"हे धनंजय! (इस विश्व में) मुझ से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, अर्थात् मैं ही सब कुछ बन रहा हूं"।

१—"यह सब कुछ (दृश्यमान विश्व अन्ततो गत्वा) प्रजापति ही है"।

२—"यह सब कुछ (प्रलयदशा में) आत्मा ही है"।

३—"यह सातों लोक (प्रतिसर्गदशा में) प्रजापति है"।

४—"जब यह नानाभावरूप विश्व नहीं था तो उस समय प्रजापति ही एकरूप से विद्यमान था"।

५—"रूप एवं नामात्मक यह प्रपञ्च (प्रतिसञ्चरदशा में) प्रजापति ही है"।

"[६]एक उ वै प्रजापतिः" (कौ० २६।७)–"[७] अयं सदेकमयमात्मा" (शत० १४।५।१)– "[८]अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना" (गीता० २।२८)–"[९]राज्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके" (गीता० ८।१८।) इत्यादि श्रुति-स्मृति वचन "सम्पूर्ण विश्व अन्ततो-गत्वा ब्रह्मरूप में ही परिणत हो जाता है" इस सिद्धान्त का समर्थन करते हुए प्रतिसंचर-विद्या ही बतला रहे हैं।

पूर्वोक्त निदर्शनों से कहना हमें यही है कि विद्याशास्त्र १ आत्मविद्या, २ विश्वविद्या भेद से दो भागों में विभक्त है। दोनों की समष्टि ही सर्वविद्या है। *हमारा वेदशास्त्र ही इस सर्वविद्या की मूलप्रतिष्ठा है। वेदशास्त्र में प्रधान रूप से उक्त दो विद्याओं का ही निरूपण हुआ है। प्रजापतिविद्या, उद्गीथविद्या, प्रणवविद्या, सामविद्या, परिमरविद्या, संवर्गविद्या प्रवर्ग्यविद्या, महदुक्थविद्या, महाव्रतविद्या, देवविद्या, भूतविद्या, संवत्सरविद्या, पृष्ठ-विद्या, अभिप्लवविद्या, परिप्लवविद्या, वषट्कारविद्या, मन्त्रविद्या, तन्त्रविद्या, त्राटक, यामल, डामर, ज्यौतिष, छन्द, आयुर्वेद, व्याकरण, निरुक्त, शिक्षा, कल्प, योग आदि आदि अवान्तर सब खण्डविद्याओं का मूलस्तम्भ एकमात्र वेदशास्त्र ही है। इन सब खण्ड विद्याओं का उक्त आत्मविद्या एवं विश्वविद्या इन दो विद्याओं में हीं अन्तर्भाव है। इन दोनों में आत्मविद्या मौलिकविद्या है, विश्वविद्या यौगिकविद्या है। मौलिकतत्व को विज्ञानभाषा में

६—"(विश्वाभावकाल में) प्रजापति ही एक (रूप से विद्यमान) है"।

७—"प्रतिसञ्चरदशा में नाम-रूप-कर्ममयी तीनों विश्वकलाएं एक आत्मस्वरूप में हीं परिणत हो जातीं हैं"।

८—"सम्पूर्ण विश्व अन्त में अव्यय में ही लीन हो जाता है"।

९—"राज्यागमरूप प्रलय काल में यह सारा प्रपञ्च उस अव्यक्त नाम की प्रकृति में ही लीन हो जाता है"।

*इस विषय का विशद विवेचन "वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम्" नाम के गद्यग्रन्थ (संस्कृतभाषामय) में देखना चाहिए। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित है।

"ब्रह्म" कहा जाता है, अतएव तत्प्रतिपादिका आत्मविद्या को हम "ब्रह्मविद्या" कह सकते हैं। यौगिकतत्व को "यज्ञ" कहा जाता है। फलतः तत्प्रतिपादिका विश्वविद्या को "यज्ञ-विद्या" कहना अन्वर्थ बन जाता है। सृष्टिदशा में ब्रह्म ही यज्ञरूप में परिणत होता है, प्रलय-दशा में वही यज्ञ ब्रह्मरूप में परिणत होजाता है। ब्रह्म के आधार पर यज्ञ प्रवृत्त होता है, यज्ञ को लक्ष्य बना कर ब्रह्मप्राप्ति होती है। ब्रह्मदशा में **एकत्व** प्रधान है, यज्ञदशा में **नानात्व** प्रधान है। यही सुप्रसिद्ध **ज्ञान** एवं **विज्ञान** तत्व हैं। ब्रह्म से यज्ञ की ओर आना, आत्मा से विश्व की ओर आना, एकत्व से अनेकत्त्व की ओर आना, अमृत से मृत्यु की ओर आना **विज्ञान** है। यज्ञ से ब्रह्म की ओर जाना, विश्व से आत्मा की ओर जाना, अनेकत्त्व से एकत्व की ओर जाना, मृत्यु से अमृत की ओर जाना **ज्ञान** है। दोनों दोनों के उपकारक हैं। केवल ज्ञान भी निरर्थक है, केवल विज्ञान भी क्षणिकविज्ञानकोटि में प्रविष्ट होता हुआ नाश का ही कारण है। ज्ञान-विज्ञान का समन्वितरूप ही अभ्युदय एवं निःश्रेयस का साधक है। दोनों के सम्यक् परिज्ञान से ही ज्ञान-विज्ञानमूर्त्ति (सदसत्-अमृतमृत्यु-आत्मविश्व-ब्रह्मकर्म्म-अनिरुक्तनिरूक्तमूर्त्ति) विश्वेश्वर का सम्यक् परिज्ञान होता है। यही योगमायावच्छिन्न पुरुष का परम पुरुषार्थ है। दोनों के परिज्ञान के अनन्तर कुछ भी शेष नहीं रह जाता, जैसा कि ज्ञान-विज्ञानाचार्य भगवान् कृष्ण कहते हैं —

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥ (गीता ७।२)।

ज्ञानप्रधान आत्मविद्याशास्त्र ही **दर्शनशास्त्र** है, एवं विज्ञानप्रधान विश्वविद्याशास्त्र ही **यज्ञशास्त्र** है। दोनों का नित्य सम्बन्ध है। यही दोनों शास्त्र पश्चिमी विद्वानों में **फिलॉसफी** (Philosophy दर्शन), एवं **सायन्स** (Scinnce विज्ञान) नाम से प्रसिद्ध हैं। **ब्रह्म** नाम का मौलिकतत्वविभाग ही वहां **फिजिक्स** (Physics) नाम से, एवं **यज्ञ** नाम का यौगिकतत्व-विभाग ही **केमेस्ट्री** (Chemistry) नाम से व्यवहृत हुआ है। **हो क्या रहा है। पश्चिमी**

विद्वान् जहां केवल यज्ञविद्यात्मक विज्ञान (Material Science) का आश्रय लेते हुए क्षण-स्थायी लौकिक वैभव से युक्त होते हुए शाश्वत शान्तानन्द से वञ्चित रहते हुए प्रतिक्षण नाश की ओर जा रहे हैं, वहां भारतीय विद्वान् ब्रह्मविद्यात्मक केवल ज्ञान का डिण्डिमघोष करते हुए, "कलौ वेदान्तिनः सर्वे" इस न्याय को सर्वात्मना चरितार्थ करते हुए, ऐहलौकि वैभव मूलक विज्ञानशास्त्र (यज्ञविद्या) का सर्वथा तिरस्कार करते हुए, फलतः दरिद्रता के अनन्य उपासक बनते हुए सब ओर से पथभ्रष्ट हो रहे हैं। होना क्या चाहिए? "अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन" इत्यादि आदेशों को शिरोधार्य कर हमें उस नित्य विज्ञान का आश्रय लेना चाहिए, जिस के मूल में शाश्वत ज्ञानधारा प्रवाहित हो रही है। उस ज्ञान की उपासना करनी चाहिए, जिस के आधार पर ऐहलौकिक अभ्युदय का साधनभूत यज्ञरूप विज्ञान प्रतिष्ठित हो रहा है। यही तो वेदशास्त्र का सर्वोच्च महत्व है, यही तो भारतवर्ष का जगद्गुरुत्व है, यही तो आर्यसंस्कृति का सर्वमूर्धन्यत्व है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है, यज्ञविद्या ही हमारा विज्ञानशास्त्र है। इस यज्ञविज्ञान का, एवं तदन्तर्गत अनन्त खण्ड विज्ञानों का दिग्दर्शन प्रकृत में नहीं कराया जासकता। इन सब के लिए तो वेद का स्वाध्याय ही आवश्यक है। यहां दो चार ऐसे प्रमाण उद्धृत कर दिए जाते हैं, जिन से हमारे भारतीय विद्वानों को यह विदित होजाय कि वेदशास्त्र ज्ञान के साथ साथ विज्ञान का भी अमूल्य, एवं पूर्ण कोश है।

१—यज्ञः

वेदि के समीप कुण्ड बना कर उस में अग्नि प्रतिष्ठित कर **स्वाहा** पूर्वक घृत तिलादि की आहुति देदेने मात्र को ही **यज्ञ** समझने वाले विद्वानों को यह नहीं भुला देना चाहिए कि यज्ञ एक ऐसा **श्रेष्ठतम** कर्म्म है, जिस के आधार पर नवीन विश्व का निर्म्माण किया जासकता है। मौलिकतत्वों के रासायनिक संयोग से उत्पन्न यौगिकभाव ही यज्ञ है। "सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा०" इत्यादि स्मार्त्त सिद्धान्त के अनुसार यज्ञ से ही सारे **लोक**, लोकों में रहने वाली **प्रजा**, सब कुछ

उत्पन्न हुए हैं। सृष्टिनिर्माण करने वाले प्राकृतिक नित्य नियम का ही नाम यज्ञ है। प्राकृतिक यज्ञ के परिज्ञान से हम भी प्रकृतिवत् नवीन रचना करने में समर्थ हैं। यज्ञ हमारे लिए **इष्टकामधुक्** है। यज्ञकर्म्म में प्रधानरूप से दो तत्वों का समन्वय ही अभिप्रेत है। **अन्तर्याम** सम्बन्ध से मिलने वाली उन दो वस्तुओं में एक सदा प्रधान रहती है, दूसरी सदा गौण रहती है। प्रधान वस्तु को संकेतभाषानुसार **"वृषा"** नाम से, एवं गौण वस्तु को **"योषा"** नाम से व्यवहृत किया जाता है। वृषा **अन्नाद** है, योषा **अन्न** है। दूसरे शब्दों में वृषा **पुरुष** है, योषा **स्त्री** है। स्त्री-स्त्री का समन्वय निरर्थक है, पुरुष-पुरुष का समन्वय विस्फोटक है, स्त्री-पुरुष का समन्वय जनक है। **प्रश्नोपनिषत्** में यही दोनों योषा-वृषा क्रमशः **रयि-प्राण** नामों से व्यवहृत हुए हैं। वहां रयि-प्राण के समन्वय से ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति बतलाई गई है, जैसा कि उस भाष्य में स्पष्ट होजायगा—(देखिए प्रश्नो० भा० १ प्र०)। अन्नरूप योषातत्व **सोम** है, यह **दाह्य** है। अन्नादरूप वृषातत्व **अग्नि** है, यह **दाहक** है। दाहक अग्नि **ऊष्ण** तत्व है, दाह्य सोम **शीत तत्व** है। **गर्मी-सर्दी** का मिथुनभाव ही **ऋतु** है, ऋतुओं की समष्टि ही **संवत्सर** है, संवत्सर ही **यज्ञप्रजापति** है, यही यज्ञप्रजापति त्रैलोक्य का उत्पादक है। इसी प्राजापत्य यज्ञविज्ञान का स्पष्ट शब्दों में निरूपण करते हुए निम्न लिखित श्रौतवचन हमारे सामने आते हैं।

१—"यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन्"

(यजुः सं० ३१।१६)।

१—"प्रकृतियज्ञ के सञ्चालक **प्राणदेवता**ओं ने, एवं मनुष्यविध **भौमदेवता**ओं ने संवत्सरमूर्त्ति यज्ञ के आधार पर ही प्रजोत्पादक यज्ञ, एवं **देवात्मोत्पादक वैधयज्ञ** का संचालन किया था। यह धर्म्म (यज्ञ कर्म्म) बहुत प्राचीन थे (हैं)। अर्थात् सृष्टि के आरम्भ में इसी यज्ञ कर्म्म का सहारा लिया गया था"।

२—"ऋतुरस्मि, आर्त्तवोऽस्मि । आकाशाद्योनेः सभूतो भार्यायै—
रेतः संवत्सरस्य तेजो भूतस्यात्मभूतस्य त्वमात्मासि, यस्त्व-
मसि सोऽहमस्मि" (कौ० उ० १।६।) ।

३—"स एष संवत्सरः प्रजापतिः षोडशकलः" (शत० १४।४।३।२२।) ।

४—"यः स भूतानां पतिः संवत्सरः सः" (शत० ६।१।३।) ।

५—"संवत्सरो वै पिता वैश्वानरः" (शत० १।५।१।१६।) ।

६—"संवत्सरो यज्ञप्रजापतिः" (शत० १२।५।१२।) ।

७—"संवत्सरसम्मितो वै यज्ञः । पञ्च वा ऋतवः संवत्सरस्य ।
तं पञ्चभिराप्नोति, तस्मात् पञ्च जुहोति" । (शत० ११।१।१।१।) ।

२—"मैं (पार्थिवप्रजा) ऋतु हूं, ऋतु का भाग हूं । आकाशरूप योनि से उत्पन्न, भार्या के रेतोरूप संवत्सर के तेज से अपने आत्मा का स्वरूप निष्पन्न करने वाला तू आत्मा संवत्सर (की प्रतिकृति) है, जो तू (संवत्सर) है, वही मैं (प्रजा) हूं" ।

३—"(सृष्टिसाक्षी षोडशी पुरुष से उत्पन्न होने के कारण) वह संवत्सर प्रजापति भी अवश्य ही षोडश-कल है । अर्थात् सृष्टिकर्त्ता षोडशी पुरुष ही संवत्सररूप बन कर प्रजोत्पत्ति का कारण बनता है । अतः इस षोडशकल आत्मा के सम्बन्ध से हम संवत्सर को भी षोडशकल कह सकते हैं" ।

४—"जो कि (विश्व में) भूपति नाम से प्रसिद्ध है, वह यही संवत्सर है । कारण भूतों को उत्पन्न कर उन पर शासन करना संवत्सर का ही काम है" ।

५—"तीनों विश्वों में अग्नि-वायु-आदित्य रूप से व्याप्त, इन्हीं तीनों विश्वनरों से कृतस्वरूप, अतएव वैश्वानर नाम से प्रसिद्ध संवत्सर ही (लोक एवं प्रजा का) पिता है" ।

६—"अग्नि-सोम के समन्वयरूप यज्ञ से अपना स्वरूप सम्पन्न करने वाला संवत्सर अवश्य ही यज्ञ-प्रजापति है" ।

७—'प्राकृतिक नित्य यज्ञ का परिमाण संवत्सर ही है । अर्थात् संवत्सर की सीमा ही इस नित्य यज्ञ की स्वरूपसम्पादिका है । संवत्सर की पांच ऋतुएं हैं । अतएव मनुष्यकृत वैध यज्ञ में पांच आहुतिएं दीं जातीं हैं । इन पांचों से उन पाचों ऋतुओं को अपने अधिकार में करता हुआ यज्ञकर्त्ता यजमान संवत्सर सम्पत्ति प्राप्त कर लेता है" ।

८—"संवत्सरोऽग्निर्वैश्वारः" (तै० ब्रा० १।७।२।५।)।

६—"संवत्सरो वै सोमः पितृमान्" (तै० ब्रा० १।६।८।)।

१०—'तस्मादाहुः संवत्सरस्य सर्वे कामाः" (शत० १०।२।४।१।)।

११—"ऋतवः संवत्सरः" (तै० ब्रा० ३।६।८।१।)।

१२—"स वै यज्ञ एव प्रजापतिः" (शत० १।७।४।४।)।

१३—"यज्ञाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते" (शत ४।४।२।६।)।

१४—"पुरुषो यज्ञः" (शत० १।३।२।१।)।

१५—"पुरुषो वै सम्वत्सरः" (शत० १२।२।१।)।

आर्यमहर्षियोंनें अपने तपोयोग से इस अलौकिक यज्ञविद्या के दर्शन किए, एवं लोककल्याण के लिए उसी यज्ञ विद्या को वैधयज्ञ रूप से हमारे सामने रक्खा। ऐसे अमूल्य धन को खोकर सचमुच आज हम अपने हाथों हीं अपना सर्वनाश करा रहे हैं। आज इस नित्यविद्या का अवसान हमने आग में दो चार मन घी डालने पर ही मान रक्खा है।

—१—

८—"संवत्सर प्रजापति अग्नि-वायु-आदित्यमूर्त्ति बनता हुआ वैश्वानर है। कारण वैश्वानर का स्वरूप इन्हीं तीनों से निष्पन्न हुआ है"।

६—"संवत्सर पितरप्राणयुक्त सोममय है"।

१०—"इसी लिए यह कहा जाता है कि—सम्पूर्ण काम (इच्छा) संवत्सर के ही हैं"।

११—"ऋतुओं की समष्टि ही सम्वत्सर है"।

१२—"वह (सम्वत्सर रूप) यज्ञ ही (प्रजोत्पादन के कारण, प्रजापति है"।

१३—"यज्ञ से ही सम्पूर्ण प्रजा उत्पन्न होती है"।

१४—"पुरुष (मनुष्य) साक्षात् यज्ञ (की प्रतिकृति) है"।

१५—"संवत्सर से उत्पन्न पुरुष वास्तव में संवत्सर (की प्रतिमा) है"।

—१—

२—ज्योतिः

भौतिकविज्ञान में अपने आप को मूर्द्धन्य मानने वाले पश्चिमी विद्वान् भौतिक विज्ञानान्तर्गत **ज्योतिर्विज्ञान** के सम्बन्ध में **हीट** (Heat), **लाइट** (Light), **इलेक्ट्री** (Electricity) इन तीन तत्वों को प्रधानता देते हैं। इन का यह सम्पूर्ण ज्योतिर्विज्ञान पदार्थ–विज्ञानान्तर्गत हमारे **अग्निविज्ञान** में ही अन्तर्भूत है। उक्त तीनों पदार्थ भारतीय विज्ञानशास्त्र में क्रमशः **ताप** (Temperathre), **प्रकाश** (Light), **विद्युत्** (Electricity) इन नामों से व्यवहृत हुए हैं। तापलक्षण **घनाग्नि** पार्थिवज्योति है, प्रकाशलक्षण विरलाग्नि **इन्द्र** है, यही आदित्य है, यही दिव्यज्योति है। **"रूपं रूपं मघवा बोभवीति"** (ऋक्सं०३।५३।८।), **"इन्द्रो रूपाणि कनिक्रदचरत्"** **"इन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्रः"** इत्यादि श्रुतिएं इस दिव्यलोकस्थ इन्द्र को ही सप्तवर्णात्मक प्रकाश का अधिष्ठाता बतला रहीं हैं। अन्तरिक्ष में रहने वाला **ऋत वायु** विद्युल्लक्षण है, यही आन्तरिक्ष्यज्योति है। केवल अग्नि ही **घन-तरल-विरल** भेद से तीन अवस्थाओं में परिणत होता हुआ क्रमशः **अग्नि-वायु-आदित्य** नामों से प्रसिद्ध हो रहा है। इन तीनों में प्रत्येक की अवान्तर अनेक अवस्थाएं मानीं गईं हैं। तीनों में से आन्तरिक्ष्य विद्युल्लक्षण वायव्यज्योति को ही लीजिए।

जिस **विद्युत्विज्ञान** (Electricity) के आधार पर आज पाश्चात्य देशों को उचित अभिमान हो रहा है, जिस विद्युच्छक्ति से आज विविध आविष्कार किए जा रहे हैं, उस का पूरा विवरण आपके वेदशास्त्र में अनादिकाल से निहित है। जहां पश्चिमी विद्वानों की दौड़ **सौरविद्युत्** पर ही समाप्त हो जाती है, वहां उनसे कई सहस्र वर्ष पहिले प्रकट होने वाले आर्षग्रन्थों में **सौर-सौम्य-ध्रौव** भेद से तीन प्रकार की विद्युच्छक्तियों का उल्लेख मिलता है। **ध्रुवनक्षत्र** में प्रतिष्ठित जिस विद्युत् ने अपने आकर्षणबल से **गुरुत्वाकर्षण** की पराकाष्ठा पर पहुंचे हुए पाञ्चभौतिक **भूपिण्ड** को कन्दुक (गेंद) की तरह निरावलम्ब आकाश में नियत क्रान्तिवृत्त पर गतिशील बना रक्खा है, एवं जिस के प्रवेश से लौहा फ़ौलाद बन जाता है,

वही हमारी "**श्रौत्रविद्युत**" है। जिस के संचार से **चक्षु-मुख-नासिका-मन-प्राण-वाक्-हस्त-पादादि** देहेन्द्रियों का सञ्चालन होता है, जिस के आघात प्रत्याघात से अङ्ग अङ्ग का स्फुरण होता है, जिस के निकल जाने से शरीर निश्चेष्ट हो जाता है, वही दूसरी "**सौम्यविद्युत**" है। इस का प्रधान सम्बन्ध सोममय अन्न से बनने वाले सौम्य **मन** के साथ है। अतएव इसे सौम्य-विद्युत् कहना न्यायसङ्गत होता है। इसी शीघ्रगामिनी विद्युज्ज्योति के प्रभाव से मन में चाञ्चल्य का उदय होता है। इसी विद्युत् के प्रभाव से मन स्वप्नावस्था में भी अपने अन्तर्जगत् में संस्कारों पर दौड़ लगाता रहता है। मन की इसी विद्युज्ज्योति का दिग्दर्शन कराती हुई मन्त्रश्रुति कहती है—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमञ्ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥
(यजुः सं० ३४।१)।

स्वज्योतिर्घन सूर्य्यपिण्ड से, दूसरे शब्दों में आपोमय आन्तरिक्ष्य समुद्र के गर्भ से निकलने वाली विद्युत् **सौरविद्युत** है।

अग्ने देवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवाँ ऊचिषे धिष्ण्या ये।
या रोचने परस्तात् सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आपः॥
[ऋक् सं० ३।२२।३।]

उक्त मन्त्रवर्णन के अनुसार आपोमय **सरस्वान्** समुद्र के गर्भ में सूर्य्य बुद्बुद्वत् प्रतिष्ठित है। इस सूक्ष्म अप्समुद्र से ही उक्त विद्युत् का विकास हुआ है। सूर्य्य स्वयं विद्युन्मूर्त्ति है—"वि द्व सविता" (गो० ब्रा० पू० १।३३।)। यह विद्युत् पानी से उत्पन्न हुई है, अतएव इसे **ब्राह्मणग्रन्थ,** एवं **मन्त्रसंहिता** में "**अपां ज्योतिः**" नाम से व्यवहृत किया गया है—"**विद्युद्वा अपां ज्योतिः**" (शत० ७।५।२।४६–यजुःसं० १३।५।३।)। इसी समुद्र में **अश्व** नाम का **प्राणपशु** उत्पन्न होता है। ध्यान रहे, जिस भौतिक पशु में दिव्यप्राणात्मक जो पशु अन्तर्याम सम्बन्ध से प्रतिष्ठित रहता है वह भौतिक, किंवा पार्थिवपशु उस प्राणपशु के नाम से

ही प्रसिद्ध होता है*। "वीर्यं वा आपः" (शत० ५।३।४।१।) के अनुसार अप्तत्व ही वीर्य्य है। बलाधायक प्राण ही वीर्य्य है। इस प्राण की आवासभूमि पानी ही है—"आपोमयः प्राणः" (छां उ० ६।४।५।)। पानीदार वस्तु ही "आबदार" कहलाती है। निर्वीर्य्य, एवं निष्प्राण व्यक्ति के लिए लोक में "अमुक व्यक्ति का तो पानी उतर गया, पानी मर गया, आब जाती रही" यह किंवदन्ती प्रसिद्ध है। "अद्भ्यो ह वाग्रेऽश्वः सम्बभूव" (शत०-५।१।४।५।) के अनुसार इस वीर्य्यरूप अप्तत्व से ही अश्वपशु उत्पन्न होता है। अतएव पशुओं में अश्व को "वीर्य्य" नाम से व्यवहृत किया जाता है-'अश्वः पशूनामन्नादो वीर्य्यवत्तमः' (तै० ब्रा० ३।८।७।१।)—"वीर्यं वा अश्वः" (शत० २।१।४।१३-२४।)।

उक्त प्रकरण से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि **सूर्य्य, सौरीविद्युत**, एवं **अश्वपशु** तीनों की उत्पत्ति एक ही स्थान में हुई है। अतएव तीनों को हम समानधर्मा मानने के लिए तय्यार हैं। यही कारण है कि सूर्य्य-विद्युत-अश्व तीनों को ब्राह्मणग्रन्थों में तीनों नामों से व्यवहृत किया गया है, जैसा कि निम्न लिखित वचनों से स्पष्ट हो जाता है।

१—"असौ वा आदित्यः (सूर्य्यः) अश्वः" (तै० ब्रा० ३।६।२३।२।)।

२—"विद्युदेव सविता" (गो० ब्रा० पू० १।३३।)।

३—"सौर्य्यो वा अश्वः" (गो० उ० ३।१९।)।

४—"आशुः सप्तिः, अश्व एव जवं दधाति" (तै० ब्रा० ३।८।१३।२।)।

उक्त तीनों विद्युत् इन्द्रतत्व में अन्तर्भूत हैं। "स्तनयित्नुरेवेन्द्रः" (शत० ११।६।३।९।) से भौतिक इन्द्रविद्युत् ही अभिप्रेत है। यही (विद्युत) सोमसम्बन्ध से सोममय **प्रज्ञानात्मा** (मन) पर अपना अधिकार जमा लेती है, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। सोम और इन्द्र का घनिष्ट सम्बन्ध है, यह सिद्ध विषय है। आकाश में जो विद्युत् चमकती है, वह भौतिक है। मन

*पुरुष-अश्व-गौ-अवि-अज इन पांचों प्राणात्मक एवं प्राणी पशुओं का वैज्ञानिक विवेचन शतपथ-विज्ञानभाष्यान्तर्गत "पश्वालम्भनमीमांसा" में देखना चाहिए।

में रहने वाली विद्युत् **आध्यात्मिकी** है । **केनोपनिषत्** में इन दोनों का विशद निरूपण हुआ है, जैसा कि तद्भाष्य में स्पष्ट होजायगा । त्रिधा विभक्त एकमात्र इस इन्द्रविद्युत् के यथार्थ स्वरूप को पहिचान लेने के अनन्तर मनुष्य सब कुछ कर सकता है । इसी अभिप्राय से काशिराज **प्रतर्द्दन** एवं इन्द्र की संवादभाषा में ऋषि ने इन्द्र के मुख से—"***मामेव विजानीहि ! एतदेवाहं मनुष्याय हिततमं मन्ये यन्मां विजानीयात्**" (कौ० उ० ३।१।) यह अक्षर कहलवाए हैं । निष्कर्ष यह है कि विद्युद्विज्ञान का हमारे शास्त्र में बड़े विस्तार से निरूपण हुआ है । विशेष जिज्ञासा रखने वालों को **ऋक्संहिता** के १।३१।१३,–१।६३।६, -१।१६४।२६,–६।३।८.-६।८६।३,–१०।६१।५, इत्यादि स्थल देखनें चाहिएं । इन में स्पष्टरूप से विद्युत्तत्व का निरूपण हुआ है ।



—:o:—

३—ग्रहविज्ञानम्

जिन **गैसों** के आधार पर पश्चिमी वैज्ञानिक आए दिन विश्वनाश के मार्ग निकालने में अपने आप को धन्य मान रहे हैं, उन्ही **ग्रहों** से भारतीय ऋषियों नें **ग्रहयाग** नाम की सुप्रसिद्ध यज्ञप्रक्रिया द्वारा आत्मकल्याण के पथ का निर्म्माण किया है । यह ग्रह ४० प्रकार के माने गये हैं । वायु में रहने वाला रुद्रतत्व ही ग्रह, किंवा गेस (Gas) है । रूद्रतत्व विनाशक (जहरीला) प्राण है । इसीलिए इसे पुराणों में संहारक देवता माना गया है । ४० भागों में विभक्त रुद्रात्मक इन ग्रहों का क्या उपयोग है ? सृष्टि में यह क्या काम करते हैं ? ऋषियों नें इन के प्रयोग से क्या लाभ उठाया है ? इन प्रश्नों के समाधान के लिए शतपथब्राह्मण का **ग्रहयाग** (४ काण्ड) प्रकरण देखना चाहिए ।



—:o:—

*"हे प्रतर्द्दन ! तुम मुझे (इन्द्रविद्युत् को) ही पहिचानो ! मैं मनुष्य का सब से बड़ा यही हित समझता हूं कि वह मुझे पहिचानले" ।

४—परिशिष्टविज्ञानम्

इसी प्रकार ग्रहणविज्ञान, पृथिवीपरिभ्रमणविज्ञान, ओषधिविज्ञान, गर्भविज्ञान, वृष्टिविज्ञान, आदि अनेक विद्याओं का स्वयं वेद में सूत्ररूप से विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। यन्त्रविशेष की सहायता से ग्रहण का स्वरूप सब से पहिले महर्षि अत्रि ने ही संसार के सामने रक्खा था। जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रों से स्पष्ट है।

*ग्राव्णो ब्रह्मा युयुजानः सपर्यन् कीरिणा देवान्नमसोपशिक्षन् ॥
अत्रिः सूर्यस्य दिवि चक्षुराधात् स्वर्भानोरपमाया अघुक्षत् ॥१॥
यं वै सूर्यं स्वर्भानुस्तमसा विध्यदासुरः ॥
अत्रयस्तमन्वविन्दन् न ह्यन्ये अशक्नुवन् ॥२॥ (ऋक्सं०५।४०।८-९-)।

"अपने अक्ष पर घूमता हुआ, इस स्वाक्षपरिभ्रमण से अहोरात्र (दिन-रात) का स्वरूप बनाता हुआ भूपिण्ड सूर्य्य के चारों ओर अपने नियत (क्रान्तिवृत्त नाम के) मार्ग से परिक्रमा लगाता हुआ संवत्सर का स्वरूप संपन्न कर रहा है" इस का पता वैज्ञानिकों नें लगा लिया है। परन्तु भूपिण्ड क्यों घूमता है ? इस प्रश्न के समाधान में प्रायः वैज्ञानिक असमर्थ ही रहे हैं। इधर आप के महर्षियों नें सूर्य्य की स्थिरता, पृथिवी का परिभ्रमण आदि के साथ साथ ही उक्त प्रश्न का भी समाधान किया है, जैसा कि निम्न लिखित प्रमाणों से सिद्ध है।

१—"कतरा पूर्वा कतरा परायो कथा जाते कवयः को विवेद।
विश्वं त्मना बिभ्रतो यद्ध नाम विवर्त्तेते अहनी चक्रियेव ॥" (ऋक्सं १।१८५।१)

*भूमिका आवश्यकता से अधिक विस्तृत होती जारही है। एवं साथ ही में हमें उपनिषत् सम्बन्धी कुछ एक आवश्यक प्रश्नों पर विचार और करना है। ऐसी अवस्था में इन मन्त्रों का अर्थ एवं विषय की पूर्ण सङ्गति नहीं लगाई जासकती। प्रकृत में केवल कुछ एक आवश्यक उद्धरणमात्र उद्धृत कर दिए जाते हैं। मन्त्रार्थों की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को हमारे लिखे अन्य निबन्धों को ही देखना चाहिए।

२—"सोमः पूषा च चेततुर्विश्वासां सुक्षितीनाम् ।
देवत्रा रथ्योर्हिता" (सामसं०पू०२।८।१०)।

३—"यज्ञ इन्द्रमवर्द्धयद् यद् भूमिं व्यवर्त्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि" (ऋक् सं० ८।१४।५।)।

४—"अहं परस्तादहमवस्ताद् यदन्तरिक्षं तदु मे पिताऽभूत् ।
अहं सूर्यमुभयतो ददर्श अहं देवानां परमं गुहा यत् ॥"

५—"अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता, नास्तमेता,
एकल एव मध्ये स्थाता। तदेष श्लोकः—
"न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन।
देवास्तेनाहं सत्येन मा विराधिषि ब्रह्मणा" ॥ (छां० उप०)

६—"न ह वा अस्मा उदेति, न निम्लोचति, सकृदिवा हैवास्मै भवति । स वा एष न कदाचनास्तमेति, नोदेति। तं यदस्तमेतीति मन्यन्ते, अह्न एव तदन्तमित्वा-अथात्मानं विपर्यस्यते, रात्रिमेवावस्तात् कुरुते, अहः परस्तात्। अथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते, रात्रेरेव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते, अहरेवावस्तात् कुरुते, रात्रिं परस्तात्। स वा एष (सूर्यः) न कदाचन निम्लोचति, न ह वै कदाचन निम्लोचति"। (ऐ० ब्रा०)

७—"नैवास्तमनमर्कस्य नोदयः सर्वदा सतः ।
उदयास्तमनाख्यं हि दर्शनादर्शनं रवेः ॥" (पुराण)

कुछ शताब्दियों पहिले उत्पन्न सुप्रसिद्ध विद्वान् **न्यूटन** (Newton) महोदय के जिस **आकर्षण सिद्धान्त** का आज पश्चिमी देशों में डिण्डिमघोष हो रहा है, वह सिद्धान्त न्यूटन से कई शताब्दियों पहिले उत्पन्न होने वाले स्वनामधन्य **श्रीभास्कराचार्य** ने कितने स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है, देखिए—

आकृष्टशक्तिश्च मही तया यत् खस्थं गुरुस्वाभिमुखं स्वशक्त्या ।
आकृष्यते तत् पततीव भाति समे समन्तात् क्व पतत्वियं खे ॥
(सिद्धान्तशिरोमणि)

इसी प्रकार—

"हरिमाणः-किकिदिवि-व्रातध्राजि-रतिविद्धहृद्रोगाः ।
यक्ष्माऽ-मीवा-रक्षश्वाष-निहाका-रपोऽहंसी-द्विषः ॥"

इत्यादि नामों से प्रसिद्ध रोगों का विश्लेषण, एवं सूर्य-ओषधि-अग्नि-मणि-मन्त्र द्वारा उन के समूल विनाश का उपाय बतलाने वाले भारतीय क्या विज्ञानशून्य कहे जासकते हैं?

"या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा ॥
मनै नु बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त च ॥१॥
साकं यक्ष्म प्र पत चाषेण किकिदीविना ॥
साकं व्रातस्य ध्राज्या साकं नश्य निहाकया ॥२॥
यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव ॥
विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः ॥३॥
यस्यौषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥
ततो यक्ष्मं वि बाधध्व उग्रो मध्यमशीरिव ॥४॥
मा वो रिषत् खनिता यस्मै चाहं खनामि वः ॥
द्विपच्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनातुरम् ॥५॥
शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः ॥
अधा शतक्रत्वो यूयमिदं मे अगदं कृत ॥६॥" (ऋक्सं० १०मं०।९७सूक्त)।

क्या उक्त प्रकार के मर्मस्पर्शी ओषधिविज्ञानवेत्ता इस युग में मिल सकेंगे?

"यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम् ॥
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥१॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव ॥
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥२॥

यथेषुका परा पतदवसृष्टाधिधन्वनः ॥
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥३॥
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव ॥
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥४॥" (अथर्व सं० १।१।३७।)

उपर्युक्त मन्त्रों में शलाका (Cotteter) प्रयोग से जिस प्रकार अवरुद्ध मूत्र को निकालने का आदेश है, उसे देखकर उन ऋषियों को शल्यचिकित्सा (Surgery) से शून्य बतलाना क्या अक्षम्य अपराध नहीं है ?

"वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः ॥
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥१॥
चतस्रो दिशः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत ॥
देवा गर्भं समैरयन् तं व्यूर्णुवन्तु सूतवे ॥२॥
सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि ॥
श्रथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज ॥३॥
वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके ।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाऽवजरायु पद्यताम् ॥ ४ ॥
यथा वातो तथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम् ॥५॥(अ०सं०१।२।११)

मन्त्रों को देखकर प्रसवचिकित्साविज्ञान का गर्व करने वालों का मदोन्मत्त मस्तक उन ऋषियों की महत्ता के आगे क्या नहीं झुक सकता ? देखिए भारतीय शल्यशास्त्र के सम्बन्ध में पश्चिमी विद्वानों के क्या विचार हैं—

१—प्रॉफेसर विलसन (Wilson) महोदय कहते हैं—"The ancient Hindus

१—अर्थात्—"प्राचीन भारतवासियों नें औषधिविज्ञान एवं शल्यशास्त्र में वैसी ही पारदर्शिता प्राप्त की थी, जैसी कि उन (पश्चिमी) लोगों नें, जिन के कि कार्य इतिहास में लिखे गए हैं" ।

attained as thorough a proficiency in medicine and surgery, as any people whose acquisitions are recorded."

२—मि० बेवर (Mr. Baber) इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखते हैं—" In surgery too, the Indians seem to have attained a special proficiency, and in this department European surgeons, might perhaps ever at the present day, still learn something from them."

३—प्रॉ० मेकडानल्ड (Macdonald) कहते हैं—"In modern days European surgery has borrowed the operation of shinoplasty, or the formation of artificial nose from India, where English men become acquainted with the art in the last country."

४—माननीय ऐलफिन्स्टसन (Elphinston) साहब लिखते हैं—" Their surgery is as remarkable as their medicine."

५—मिसेज मेनिंग (Ms. Maning) कहतीं हैं—"The surgical instrument of the Hindus were sufficiently sharp, indeed as to be capable of dividing a hair lougitudally."

२—अर्थात्–" जान पड़ता है–शल्यविज्ञान में भी भारतवासियों नें विशेष पारदर्शिता प्राप्त की थी। इस क्षेत्र में युरोपियन सर्जन इस समय भी इन से शायद कुछ सीख सकते हैं "।

३—अर्थात्–" इन दिनों योरोप के शल्यविज्ञान ने हिनोप्लास्टी (Rhinoplasty) का ऑपरेशन एवं कृत्रिम नाक बैठाना हिन्दुस्तान से सीखा है। युरोपियन लोग गत शताब्दियों में इस कला से परिचित हुए "।

४—अर्थात्–" उन (भारतीयों) का शल्यविज्ञान उन के औषधिविज्ञान की तरह ही अपूर्व था "।

५—अर्थात्–"हिन्दुओं के शस्त्र काफ़ी तौर से तेज होते थे। वे बाल से भी सूक्ष्म पदार्थ को विभक्त कर सकते थे।

६—माननीय डॉ० सील (Seal) महोदय का कहना है—"That the Hindus practised dissection on dead bodies for purposes of demonstration.... .... Post morton operations as well as wajor operations osteric surgery were availed of for embryological observations."

इसी प्रकार—

अनश्वो जातो अनभीशुरुक्थ्यो रथस्त्रिचक्रः परिवर्त्तते रजः।
महत् तद् वो देव्यस्य प्रवाचनं द्यामृभवः पृथिवीं यच्च पुष्यथ ॥

इत्यादि निदर्शनों को देखते हुए भी आज का युग क्या भारत को विमानविद्या से अपरिचित बतलानें का अनुचित साहस कर सकता है? कदापि नहीं।

१—"सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परिभवन्ति विश्वतः ॥
(ऋक्सं० १।१६४।३६)।

२—"कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवी व्युद्यते ॥
(ऋक्सं० १।१६४।४७)।

३—समानमेतदुदकमुच्चैत्यवचाहभिः।
भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नयः ॥ (ऋक्सं० १।१६४।५१)

४—अग्निर्वा इतो वृष्टिमुदीरयति, मरुतः सृष्टान्नयन्ति। यदा खल्वसावादित्यो न्यङ्रश्मिभिः पर्य्यावर्त्तते, अथ वर्षति"

५—""वायुर्वै वृष्ट्या ईशे"

६—"वायुनैवोद्धृतं तोयं वायुरेव प्रवर्षति" (श्रीगुरुप्रणीत कादम्बिनी)।

क्या इस से बढ़ कर वृष्टिविज्ञान संसार में अन्यत्र कहीं मिल सकता है?

६—अर्थात्—"हिन्दू लोग प्रयोग के लिए मृतशरीर की चीर फाड़ करते थे। वे मुर्दे को चीर कर उसकी परीक्षा भी करते थे, एवं गर्भ सम्बन्धी रोगों के लिए भी चीर फाड़ करते थे"।

अपने आप को विज्ञान की चरम सीमा पर पहुंचे हुए मानने वाले उन विज्ञानाभिमानियों क्या हम निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर मांग सकते हैं ?

१—"वृक्ष की अपेक्षा मनुष्य के शरीर में जब रसादि की अधिक मात्रा रहती है तो फिर क्या कारण है कि वृक्ष कटने पर बढ़ जाता है, एवं मनुष्य कटने पर पुनः प्ररोहित नहीं होता ?"।

२—"उत्पन्न शिशु के प्रथम वय में केश भूरे क्यों होते हैं ? फिर काले क्यों होजाते हैं ? फिर श्वेत कैसे, एवं क्यों होजाते हैं ? अन्तिम वय में फिर पीतवत् क्यों हो जाते हैं ?"।

३—"उत्पन्न शिशु के दांत क्यों नहीं होते ? उत्पन्न होने पर पहिले ऊपर, फिर नीचे यह वैषम्य क्यों ? उत्पन्न होकर क्यों गिर जाते हैं ? फिर क्यों उत्पन्न होते हैं ? फिर क्यों गिर जाते हैं ? दुबारा गिरे बाद फिर उत्पन्न क्यों नहीं होते ?"।

४—"अल्पमात्रायुक्त शुक्रबिन्दु से (जो कि अनस्था-घनभावरहित—है) **हस्त-पाद-उर-चक्षु-श्रोत्र-मस्तकादि** विविधाकाराकारित पुरुष कैसे उत्पन्न हो जाता है ?"।

यदि आप इन प्रश्नों के समाधान में असमर्थ हैं, यदि आप को इन प्रश्नों का युक्तियुक्त विज्ञानसिद्ध उत्तर प्राप्त करना है तो वेदपुरुष की शरण में आइए ! यह आप की सारी जिज्ञासाए पूरी करेगा।

इसी प्रकार अन्यान्य पदार्थ विज्ञानों का हमारे शास्त्रों में इतना स्पष्ट एवं सुगम विश्लेषण उपलब्ध होता है, जिसे देख कर आज के विज्ञानवादियों के वैज्ञानिक तत्व अधूरे मानने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए तत्वगणना का ही विचार कीजिए। पश्चिमी विद्वान् जहां उत्तरोत्तर तत्वसंख्या की वृद्धि मानते हुए अपने ज्ञान की अपूर्णता का परिचय दे रहे हैं, वहां भारतीय शास्त्र में अनादिकाल से सदा के लिए **पृथिवी—जल—तेज—वायु—आकाश** यह पांच तत्व

प्रतिष्ठित हैं। न इन में कभी परिवर्त्तन हुआ, न भविष्य में होगा। यही तो वेद का नित्यत्व एवं अपौरुषेयत्व है।

हमें यह जान कर उन सभ्यताभिमानियों की सभ्यता पर तरस आता है, एवं साथ ही दुःख भी होता है, जब कि वे आधुनिक शिक्षणालयों में आज भारतीय छात्रों को भारतीय विज्ञान के निगूढ़तम रहस्यों की परीक्षा किए बिना ही भारतीय विज्ञान के सम्बन्ध में अनुचित भ्रम फैला रहे हैं। उन अबोध विद्यार्थियों को आरम्भ में ही यह सिखाया जाता है कि— "*भारतीय विद्वान् विज्ञान (Sience) स सर्वथा अपरिचित थे। वे केवल ईश्वर के उपासक थे। आत्मा की खोज में ही उन का बुद्धिबल प्रयुक्त हुआ है। हो सकता है, आत्मा के स्वरूप को वे पहिचान गए हों, परन्तु ऐहलौकिक सुखसाधनभूत पदार्थविज्ञान का तो उन्हों ने स्पर्श भी नहीं किया। तभी तो वे कभी अग्नि नामक पदार्थ को हाथ जोड़ते दिखलाई देते हैं, कभी सूर्य्य-पृथिवी-नक्षत्र-वायु-वृष्टि-आदि की स्तुति करते मिलते हैं। तत्वविज्ञान से सर्वथा अपरिचित रहने के कारण ही उन्हों ने पृथिव्यादि पंच महाभूतों को तत्व (Elements) मान रक्खा है। हम प्रत्यक्ष में देखते हैं कि पृथिवीपिण्ड सुवर्ण, रजत, लौह, पारद, गन्धक, हीरक आदि ७० धातुओं

*कुछ समय पूर्व ब्राह्मणवंशगौरव महामना **मालवीयजी** के आयोजन से **काशीहिन्दूविश्वविद्यालय** में कई प्रमुख विद्वानों की उपस्थिति में **पञ्चमहाभूतपर्षत्** एवं त्रिदोषपर्षत् हुई थी। वहां यही प्रश्न उपस्थित हुए थे कि पांचों भूत जब प्रत्यक्ष में यौगिकभावाक्रान्त उपलब्ध होते हैं तो ऐसी अवस्था में इन्हें तत्व कैसे माना गया? इसी प्रकार सूक्ष्मतम यन्त्रों से सर्वात्मना अन्वेषण करने पर भी जब हम **वात-पित्त-कफ** की सत्ता नहीं देखते तो ऐसी परिस्थिति में भारतीय आयुर्वेदशास्त्र के उक्त **त्रिदोषभाव** की आधारभूमि क्या है? कहना नहीं होगा कि वहां उक्त प्रश्नों का श्रीगुरुचरणों द्वारा (**श्रीमधुसूदनजी ओझा** द्वारा) सम्यक् समाधान हुआ था।

सर्वथा अप्रासङ्गिक होते हुए भी इस सम्बन्ध में हम **श्रीमालवीयजी** से सविनय निवेदन करेंगे कि हिन्दूसंस्कृति की रक्षा के लिए जहां उन्होंने **'हिन्दूविश्वविद्यायल'** स्थापित करने का स्तुत्य कार्य किया है, वहां हिन्दूसंस्कृति के प्राणभूत **वैदिकविज्ञान** के अध्ययनाध्यापन की व्यवस्था कर—

की समिष्टमात्र है। दूसरे शब्दों में अनेक धातुओं के समवाय से ही भूपिण्ड का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। **ऑक्सिजन** (Oxggen), एवं **हाइड्रोजन** (Hydrogen) की नियत मात्रा के रासायनिक मिश्रण से जल उत्पन्न हुआ है। फलतः यह भी तत्व-मर्यादा से बाहर निकल जाता है। यदि **अग्नि** से **ताप** का ग्रहण किया जाता है तो यह (ताप) पदार्थों की एक अवस्था विशेष होगी, न कि स्वतन्त्र तत्व। यदि **ज्वाला** को अग्नि समझा जायगा तो वह **ऑक्सिजन** एवं **कार्बन** (Carbon) दोनों के संयोग से उत्पन्न होने वाला यौगिक द्रव्य ही होगा। फलतः अग्नि भी तत्व नहीं माना जासकेगा। इसीप्रकार **ऑक्सिजन** एवं **नाइट्रोजन** (Nitrogon) के समन्वय से उत्पन्न होने वाला **वायु** भी तत्व नहीं माना जासकता। एवमेव पृथिवी-जल-तेज-वायु आदि के प्रतिष्ठित रहने के लिए अवकाशरूप शून्यलक्षण **आकाश** को भी तत्त्व मानना निरी भ्रान्ति ही है। आकाश में जो एक नीलिमा दिखलाई पड़ती है, इसी से आकाश नाम के पदाथ की कल्पना करना और भी अधिक भ्रान्ति है। कारण स्पष्ट है। घनीभूत वायु ही यह प्रत्यक्ष दृष्ट नीलिमा है, दूसरे शब्दों में नीलिमा वायु का समुचितरूप ही है। ऐसी अवस्था में वायु को नीरूप मानने वाले **वैशेषिक-नैय्यायिकादि** भारतीय दार्शनिकों के सिद्धान्त का भी कोई मूल्य नहीं रह जाता। इस प्रकार जब हम सर्वात्मना भूतों को यौगिक पाते हैं तो ऐसी स्थिति में इन्हें तत्व मानना भ्रान्ति नहीं है तो और क्या है"।

इस प्रकार उक्त शब्दाडम्बर को आगे रखते हुए, अपनी अज्ञता से भारतीय तत्ववाद पर आक्षेप करनें वाले उन विज्ञानधुरीणों के प्रति हमारा यही वक्तव्य है कि अभी आपको भारतीय

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्वयः॥"

इस अनुशाप से ब्राह्मणजाति को बचावें। क्या हम आशा करें कि यह भारत का गौरव (श्रीमालवीयजी) भारत की इस दिव्यविभूति (वैदिकज्ञान) की रक्षा का कोई उपाय करेंगे?

ऋषियों के उन सत्य सिद्धान्तों का मनन करना चाहिए। जिन्हों ने **आत्म परमात्म** जैसे अप्रत्यक्ष-तम तत्वों का साक्षात्कार कर लिया था, क्या **परोक्षद्रष्टा, अतीतानागतज्ञ** वे महर्षि **भौतिक तत्ववाद** जैसे स्थूल विज्ञान के सम्बन्ध में इतनी बड़ी भूल कर सकते थे? कदापि नहीं! सर्वथा असम्भव!! आर्य वैज्ञानिकों नें **गुण-अणु-रेणु-महाभूत-सत्वभूत** भेद से पांच प्रकार के भूत मानें हैं। **रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द** नाम से पांचों **तन्मात्राएं** हीं गुण-भूत हैं। यह सर्वथा मौलिक तत्व हैं। यही अवस्था एकद्रव्यात्मक **अणु-रेणु**-भूतों की है। यही हमारे **पञ्चतत्व** हैं। इनके समबन्ध से चौथी श्रेणि के **महाभूतों** की उत्पत्ति हुई है। **महाभूत** शब्द ही इन की यौगिकता का परिचायक है। स्वयं भारतीय इन्हें यौगिक मान रहे हैं। इन यौगिक पञ्चमहाभूतों से पांचवी श्रेणि के अस्मदादि **सत्वभूतों** की उत्पत्ति हुई है।

इसी प्रकार **वायु** को **रूपिद्रव्य** मानना भी (पाश्चात्यों का) सर्वथा असंगत ही है। सौर-मण्डल के चारों ओर व्याप्त **अम्भ** नाम के आपोमय समुद्र की प्रतिच्छाया ही यह प्रत्यक्ष दृष्ट नीलिमा है। वही कृष्ण पारमेष्ठ्य अप्तत्व सौर मण्डल के भीतर आता हुआ नीला दिखाई पड़ता है।

इसी प्रकार तापलक्षण अग्नि को पदार्थ न मानना भी भ्रान्ति ही है। अवस्था ही तो पदार्थ का वास्तविक स्वरूप है। यदि तत्तत् पदार्थों में से तत्तदवस्थाओं को निकाल दिया जायगा तो पदार्थस्वरूप ही क्या बाकी बच जायगा।

एवमेव आकाश को कोई पदार्थ न मानाना भी केवल उनका साहस ही है। विज्ञान जगत् में भी क्या कोई शून्य तत्व है?। अपिच जिसे आप अवकाश कहते हैं, वह भी शून्य (खाली जगंह) नहीं है। "**प्राणा वै अवकाशाः**" (शत०ब्रा० १.४।२।२।५१) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार वह एक सूक्ष्म एवं सर्वव्यापक **प्राणतत्व** है। इसी को भारतीय वैज्ञानिकों नें **'शुन'** नाम से व्यवहृत किया है, जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है।

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि सञ्जितं धनानाम्।
(ऋकसं० ३।३१।१।)।

सर्वव्यापक, शुन नामक यही मघवा इन्द्रप्राण सब के लिए अवकाश बनता हुआ आकाश नाम से प्रसिद्ध हो रहा है। जैसा कि—"**यस्स आकाश इन्द्र एव सः**" (जै०उ० १।२८।२।) इत्यादि से स्पष्ट है। सचमुच—"**नेन्द्रादृते पवते धाम किञ्चन**" (ऋक्सं० ९।६९।६।)। के अनुसार इस शुन इन्द्र का कहीं भी अभाव नहीं है। आकाशात्मक शुन इन्द्र के सम्बन्ध से ही इस अवकाश को—"**शुने हितम्**" इस निर्वचन के अनुसार 'शून्य' शब्द से व्यवहृत किया गया है। शून्य शब्द का अर्थ खाली स्थान नहीं है, अपितु उस स्थान को शून्य कहा जाता है जिसमें कि शुन नाम का इन्द्र, किंवा आकाश व्याप्त है। इन्द्र सर्वव्यापक है। इसी आधार पर भारतीय दार्शनिकों ने आकाशात्मक इस तत्व को विभु माना है।

"**इन्द्रो वागित्याहुः**" (शत०ब्रा० १।४।५।४।) के अनुसार यही इन्द्र (आकाश) वाक् है। इसी वाक् समुद्र से वीचीतरंग द्वारा शब्दसृष्टि होती है। *मुखविनिःसृत शब्दजरूप आघात से, हस्तपादादि रूप संयोगज आघात से, एवं विभागज आघात से वाक्समुद्र में लहर पैदा हो जाती है। यह लहर कर्ण-शष्कुली पर आकर तत्रस्थ प्रज्ञान मन से गृहीत होकर क-च-ट-त-पादि शब्द रूप में परिणत होती है। इसी आधार पर शब्द को आकाश (वाग्रूप इन्द्र) का गुण माना गया है। इसप्रकार इन्द्रात्मक आकाश का पदार्थत्व भलीभांति सिद्ध हो जाता है। स्थूलदृष्टि से परोक्ष होने मात्र से ही पदार्थ का अभाव मान बैठना क्या एक वैज्ञानिक के लिए उचित है? किसी के साहित्य को बिना सोचे समझे कलङ्कित करने का व्यर्थ प्रयास करने वाले उन विवेकियों के सम्बन्ध में, अधिक क्या कहें।

"**न स्थाणोरपराधोऽयं यदन्धो नैनमीक्षते।**
चक्षुर्दोषादुलूकोऽयं सूर्य्यज्योतिर्न पश्यति"॥

पूर्व की संचर-प्रतिसंचरविद्याओं के आरम्भ में यह बतलाया गया है कि विश्वेश्वर प्रजापति आत्मा-विश्व भेद से दो भागों में विभक्त है (देखिए भा०भू०पृ०सं० ४४-४६)। इस द्वैधीभाव

* "१-संयोगात्, २-विभागाच्च, ३-शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः" (वै०दर्शन २।२।३१)।

का मुख्य कारण रस-बल का तारतम्य है । बलगर्भित रसप्रधान तत्व आत्मा है, एवं रसगर्भित बलप्रधान तत्व विश्व है । रस प्रधान आत्मा ज्ञानजगत् का अनुग्राहक है, एवं बलप्रधान विश्व विज्ञानजगत् की आधार भूमि है, जैसा कि पूर्व में स्पष्ट किया जा चुका है। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि हमारे विज्ञान की आधारभूमि बलतत्व ही है । इस बल के—[1]स्थिरधर्म्मप्रयोजक, [2]अस्थिरधर्म्मप्रयोजक, [3]सव्यपेक्षधर्म्मप्रयोजक भेद से तीन प्रधान भेद हैं । इन में से प्रत्येक बल क्रमशः १०–८–३ अवान्तर भागों में विभक्त हैं, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है ।

१०— स्थिरधर्म्म

१–भार
२–आयतन
३–स्थानविरोध
४–विभाज्यता
५–सान्तरत्व
६–संगठन
७–स्थितिस्थापकत्व
८–चापन
९–जड़ता
१०–अविनश्वरत्व

८— अस्थिरधर्म्म

१–शैत्य
२–आकुञ्चन
३–कठिनत्व
४–वर्णरूपता
५–क्षणभंगुरत्व
६–घनत्व
७–द्रवत्व
८–विरलत्व

३— सव्यपेक्षधर्म्म

१–नोदनाबल, २–केन्द्रापगबल, ३–आकर्षणबल

उक्त बलों की आगे जाकर अवान्तर अनेक अवस्थाएँ और हो जातीं हैं। उदाहरण के लिए नोदनाबल को ही लीजिए। यह बल ११ भागों में विभक्त है—

११—नोदनाबल (सव्यपेक्षधर्म्म)

१—वस्त्वाकर्षण
२—व्यवकलिताकर्षण
३—माध्याकर्षण
४—रासायनिकाकर्षण
५—आणविकयोगाकर्षण
६—अनुलग्नताबल
७-संसक्तकबल
८—संनिकर्षबल
९—कैशिकबल
१०—शोषणबल
११—चोषणबल

इसी प्रकार पदार्थतत्व हमारे यहां रूढ[1]-योगरूढ[2]-यौगिक[3] भेद से तीन भागों में विभक्त माना गया है। प्रत्येक पदार्थ की घन[1]—(निविडावयव-संघातता-कठिनता-विनेयता-उद्वर्त्तनीयता), द्रव[2]—(तरलावयव), बाष्प[3]—(विरलावयव) भेद से तीन तीन अवस्थाएं मानीं गईं हैं। इन्हीं तीनों अवस्थाओं के लिए संहिता में क्रमशः ध्रुव[1]-धर्त्र[2]-धरुण[3] शब्द प्रयुक्त हुए हैं-(देखिए यजुः-सं० १३।३४)।

एवमेव समस्तविज्ञानराशि हमारे यहां आधिभौतिकविज्ञान[1] (पदार्थविज्ञान), आध्यात्मिकविज्ञान[2] (शारीरकविज्ञान), आधिदैविकविज्ञान[3] (ताराविज्ञान) भेद से तीन भागों में विभक्त है। निदर्शन मात्र है। इसी प्रकार **मनोविज्ञान** (Cycloige), **वनस्पतिविज्ञान, ओषधिविज्ञान, भूगर्भविज्ञान, धातुविज्ञान** आदि अवान्तर खण्डविज्ञानों का भी विशद विवेचन हमारे शास्त्रों में उपलब्ध होता है।

पूर्वप्रतिपादित कुछ एक निदर्शनों से श्रद्धालु भारतीय विद्वानों को यह समझलेने, एवं मानलेने में सम्भवतः अब कोई आपत्ति न रही होगी कि **वेद वास्तव न विज्ञान का अद्भुत खजाना है**। साथ ही में उन्हें यह भी स्वीकार करलेने में कोई आपत्ति न रही होगी कि वेद-स्वाध्याय से विमुख होकर सचमुच हमनें—**"जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः"** को सर्वात्मना चरितार्थ कर अपने हाथों अपना सर्वनाश करा लिया है।

जब हम अपने अतीत पर दृष्टि डालते हैं तो हमारा सारा भ्रम दूर हो जाता है। हमारा अतीत कैसा था ? न पूंछिए। आज हम उस के स्मरण करने के भी अधिकारी नहीं हैं। आज हमारे पतन की पराकाष्ठा होगई है। आज की गिरी दशा हमें **"हम किसी समय वैसे थे"** इन अक्षरों पर भी विश्वास नहीं करने देती। कहां भगवान् मनु का—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

उदात्तभावनामय यह उद्घोष, कहां हमारी ऐसी पतनावस्था। किसी समय जगद्गुरू बनने का दावा रखनेवाला भारतवर्ष आज प्रत्येक कार्य में परमुखापेक्षी बन रहा है। वेदस्वाध्याय का तिरस्कार करने वाले **ब्राह्मणों** का ज्ञानप्रधान **ब्रह्मवीर्य्य** नष्टप्राय है। फलतः **ब्रह्म** (ज्ञान) के आधार पर प्रतिष्ठित रहने वाला **क्षत्रियों** का क्रियाप्रधान **क्षत्रवीर्य्य, वैश्यों** का अर्थ-प्रधान **विड्वीर्य्य,** एवं **शूद्रों** का स्वधर्म्म भी आज दोलायमान है। स्व-स्वकर्म्म से पराङ्मुख होते हुए चारों वर्ण उत्पथगामी बन रहे हैं। आज प्रत्येक वर्ण चारों वर्णों के कर्म्मों पर अपना पूर्ण अधिकार जमाने की विफल चेष्टा कर रहा है। फलतः सभी में अकृतकृत्य होता हुआ वह समाज की अशान्ति का कारण बन रहा है। इसी प्रकार समाजकल्याणोपयोगिनी उक्त वर्णव्यवस्था के साथ साथ ही व्यक्तिकल्याणोपयोगिनी **आश्रमव्यवस्था** भी आज सर्वात्मना विलुप्त है। सर्वत्र दावानल प्रज्वलित होरहा है। वर्त्तमानयुग में ही इस देश की ऐसी स्थिति हुई हो, यह बात नहीं है। पहिले भी कई बार भारतीय सभ्यता पर इस से भी कहीं अधिक भयङ्कर आक्रमण हुए हैं। परन्तु तत्तत् समय में भगवदंशभूत **शङ्कर–रामानुज–वल्लभ–कुमारिलभट्ट–उदयनाचार्य** आदि प्रातःस्मरणीय महापुरुषों **ने** धरातल पर अवतीर्ण हो उच्छिन्न सभ्यता को पुनः प्रतिष्ठित किया है। **"संयोगा विप्रयोगान्ताः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः"** यह न्याय प्रसिद्ध है। एवं इधर हमारे सौभाग्य से भारतवर्ष की समुन्नति से सम्बन्ध रखने वाले सुप्रसिद्ध **विष्णुपद** नामक **कदम्ब** (नाक) की २४ अंश के व्यासार्द्ध से परिक्रमा लगाने वाले **ध्रुव** भी आधी परिक्रमा समाप्त कर चले हैं। **आज पुनः भारत का भाग्योदय होने**

वाला है। धीरे धीरे ध्रुव का रुख वेदप्राणमूर्त्ति **अभिजिन्नक्षत्र** की ओर होने लगा है। जिस दिन ध्रुव ठीक अभिजित् पर आजांयगे, उस दिन **भाहत** (निस्तेज) **भारत** पुनः **भायुक्त** बनता हुआ अपने **भारत** (प्रकाशानुगामी) नाम को सार्थक कर देगा, यह **ध्रुवसिद्धान्त** है। उसी ध्रुव की प्रेरणा से अपने विचारों को ध्रुव बनाते हुए हमने इस पथ में आगे बढ़ने का संकल्प किया है।

थोड़े शब्दों में ध्रुवसिद्धान्त का भी इतिहास सुन लीजिए। तत्तद्देशों का अभ्युदय, एवं पतन का कारण ध्रुव ही है। भूपिण्ड ध्रौवविद्युत् से ही आकर्षित रहता है। जिस प्रकार **क्रान्तिवृत्त** की प्रत्येक बिन्दु से ठीक ९० अंश पर **नाक** (कदम्ब) है, एवमेव **विषवद्वृत्त** की प्रत्येक बिन्दु से **ध्रुव** ठीक ९० अंश पर है। अतएव जहां **क्रान्तिवृत्तीयपृष्ठीकेन्द्र** को कदम्ब कहा जाता है, वहां **विषवद्वृत्तीयपृष्ठीकेन्द्र** ध्रुव नाम से व्यवहृत हुआ है। जिस प्रकार लगभग ३० अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बनाकर सप्तर्षिगण ध्रुव के चारों ओर परिक्रमा लगाया करते हैं, एवमेव २४ अंश के व्यासार्द्ध से वृत्त बना कर ध्रुव कदम्ब के चारों ओर परिक्रमा लगाया करता है। भूपिण्ड का विषवद्वृत्त इसी से आकर्षित है। इसीलिए ध्रुव को सम्पत्ति का प्रदाता माना गया है। जैसा कि निम्न लिखित मन्त्रवर्णन से स्पष्ट है—

जज्ञानं सप्त मातरो वेधामशासत श्रिय।
अयं ध्रुवो रयीणां चिकेत यत्॥ (ऋक्सं॰ ९।१०२ ४।)॥

"यह ध्रुव **सप्तमाता** नाम से प्रसिद्ध सप्तर्षियों से पहिचाना जाता है, सप्तर्षिमण्डल ही ध्रुव का परिचायक है। जिस बुद्धि से सम्पत्ति का आगमन होता है, ध्रुव वैसी बुद्धि का प्रेरक है। यदि कोई व्यक्ति नियत समय पर नियत अवधि पर्यन्त ४० दिन तक अविच्छिन्नरूप से ध्रुव के दर्शन करता है तो उस की बुद्धि में अपने आप सम्पत्ति प्राप्ति का उपाय स्फुरित होजाता है। कारण पृथिवी की जितनी भी रयि (दौलत) है, उस सब का प्रेरक ध्रुव ही है।"

ध्रुव किसी नक्षत्र का नाम नहीं है, अपितु निराकार विद्युत् ही ध्रुव है। यह विद्युत् बिन्दु जिस नक्षत्र के समीप रहती है, पहिचान के लिए उसी नक्षत्र को "ध्रुव" नाम से

सम्बोधित कर दिया जाता है। यह अपने नियत मण्डल का परित्याग नहीं करती, अतएव इसे ध्रुव कह दिया जाता है। वस्तुतः यह अपने मण्डल पर परिक्रमा लगाती है। इस की यह परिक्रमा २५ हजारवर्ष में पूरी होती है। इसी ध्रुवपरिभ्रमण से अयनपरिवर्तन होता है। सम्पातपरिवर्त्तन का मुख्य हेतु ध्रुवपरिवर्त्तन है। किसी समय **अभिजित** नक्षत्र पर ध्रुव बिन्दु थी। उस समय अभिजित् ही ध्रुव कहलाता था। अभिजित् नक्षत्र वेदप्राणमय है। अतएव नाक्षत्रिक विद्या में इसे **ब्रह्मा** कहा गया है। जब तक अभिजित ध्रुव रहा, तब तक भारतवर्ष में वेदविद्या का पूर्ण विकास रहा। आगे जाकर इस ध्रुव ने **मिश्र** पर अनुग्रह किया। मिश्र का सुप्रसिद्ध **पिरामिड** इसी ध्रुवकाल में बना था। वहां से ध्रुव के हटते ही मिश्र का वैभव भूगर्भ में विलीन होगया। क्रमशः पश्चिमी देशों पर ध्रुव का अनुग्रह हुआ। वे समुन्नत हुए। इस प्रकार परिक्रममाण ध्रुव आज अभिजित् से ठीक सामने आगया है, आधी परिक्रमा समाप्त हो चली है, १२॥ हजार वर्ष समाप्तप्राय हैं। अब पश्चिमी देशों से हट कर उस का रुख पूर्वीय देशों की ओर होने लगा है। यही हमारे भाग्योदय की पूर्वसूचना है। पश्चिमी देशों का भविष्य अन्धकारपूर्ण होने वाला है। तात्पर्य्य कहने का यही है कि ध्रुवपरिभ्रमण ही तत्तद्देशों की उन्नति-अवनति का मुख्य कारण है। स्वतन्त्र भारत ने इसी ध्रुववियोग से अब तक परतन्त्रता के कष्ट सहे हैं। निकट भविष्य में उस पर ध्रुव का अनुग्रह होने वाला है। हमारा आहत-भारत पुनः भा-रत बनने वाला है, **ध्रुव-सिद्धान्त** (ध्रुवपरिभ्रमणसिद्धान्त) का यही संक्षिप्त इतिहास है। इसी इतिहास का स्पष्टीकरण करते हुए गुरुवर कहते हैं—

नाकस्थविष्णोः परितस्तु वेददृक् व्यासार्द्धजे सञ्चरति ध्रुवं ध्रुवः।
वृत्ते ततः क्वापि पुरा युगे स हि प्रागमेरुखस्वस्तिकगोऽभिजित्यभूत ॥१॥
प्राग्मेरुस्थे हंसपृष्ठेऽभिजिद्धे ब्रह्मण्यासीत स ध्रुवो यत्र काले।
ब्रह्मादिष्टो वेदधर्म्मस्तदासीत सर्वप्रीतो हृद्गतः प्रोन्नतश्च ॥२॥
तत्रैवासीद्भारते सोऽपि सूर्यो विज्ञानेनोच्छ्राययन् भारतीयान् ॥
अस्तं यातो भारतस्यैष सूर्यः क्लिश्यन्त्यांर्य्यास्तेन बुद्ध्यन्धकारात ॥३॥

प्राग्मेरुखस्तिकमेष हित्वोत्तरस्य खस्वस्तिकमर्णवस्य ॥
गतो ध्रुवः कर्षति वेदधर्म्म विपर्य्ययेणाद्य विपर्य्ययस्थः ॥४॥
तारावशादपि फलं ध्रुव एष दत्ते तेनाभिजित्परिगतः स हि वैदिकानाम् ॥
प्रागुन्नतिं बहु चकार स चाधुनैषां वेदद्विषां सततमुन्नतिमातनोति ॥५॥
कालेन केन च परिक्रममाण एष प्राचीमुपेत्य पुनरेष्यति दक्षिणाशाम् ॥
तेन ध्रुवं ध्रुव इहाभिजिति प्रपन्नो भूयः करिष्यति स भारतधर्म्मवृद्धिम् ॥६॥

(श्रीगुरुप्रणीतइन्द्रविजय ५-प्रक्रम)

यह तो हुई अपनी पराई सुख-दुःख की चर्चा। अब हम प्रसंगवश अपनी दशा का भी संक्षेप से दिग्दर्शन करा देना आवश्यक समझते हैं। एक भारतीय ब्राह्मण के नाते भारतवर्ष की उक्त दशा पर हमारे अन्तरात्मा में वेदना का उदित होना स्वाभाविक था। हमारे स्वर्गीय पिता **श्रीबालचन्द्रजी-शास्त्री** सनातनधर्म्म के अन्यतम भक्त थे। ऐसे घर में जन्म लेकर, साथ ही में बचपन से ही संस्कृतशिक्षा की उपासना करने के कारण उक्त धर्म्म के प्रति श्रद्धा होना भी स्वाभाविक था। सौभाग्य से एक दो बार जयपुर राजसभा के प्रधान पण्डित विद्यावाचस्पति समीक्षाचक्रवर्त्ती गुरुवर **श्रीमधुसूधनजी-ओझा** के श्रीमुख से वैदिकसाहित्य का प्रवचन सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। उन दो एक प्रवचनों का लेखक के मानसजगत् पर इतना अमिट प्रभाव पड़ा कि जिस की प्रेरणा से इसे किसी अलक्षित ईश्वरीयसूत्र से आकर्षित होकर **ओझा**-जी की सेवा में वेदस्वाध्याय आरम्भ करना पड़ा। यह घटना सम्भवतः १५ वर्ष पहिले की है। तब से आज तक हमारा अध्ययन उसी रूप से चल रहा है।

अध्ययनकाल में ही हमारा यह संकल्प होगया था कि इस समय वैज्ञानिक पद्धति से वैदिकसाहित्य को राष्ट्रभाषा में जनता के सामने उपस्थित करना चाहिए। जब तक विज्ञानदृष्टि से आज की पढ़ी लिखी भारतीय जनता को उसे उस की धार्म्मिक आज्ञाओं का रहस्य न बतला दिया जायगा, तब तक विज्ञानप्रधान पाश्चात्य देशों के संसर्ग से उखड़ी हुई धर्म्मश्रद्धा कथमपि पुनः प्रतिष्ठित नहीं हो सकती। अपने इसी विचार को कार्यरूप में परिणित करने के लिए

वैदिक साहित्य के भिन्न भिन्न विषयों पर लगभग ४० सहस्र पृष्ठ लिखे गये, एवं आज भी हमारा यह कार्य यथावत् चल रहा है। ब्राह्मणग्रन्थों में सुप्रसिद्ध **शतपथ-ब्राह्मण** का विज्ञानभाष्य लगभग ८००० पृष्ठों में संपन्न हुआ है। इस के अतिरिक्त **ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुण्ड-माण्डूक्यादि उपनिषद्विज्ञानभाष्य, गीताविज्ञानभाष्य, पुराणरहस्य, श्राद्धविज्ञान, हिन्दूत्योंहारों का वैज्ञानिकरहस्य, हमारे संशय एवं उनका निराकरण, वेदस्य सर्वविद्यानिधानत्वम् (संस्कृत में)**, आदि ग्रन्थ संपन्नप्राय हैं।

यह निर्विवाद है कि एक साहित्यसेवी सतत स्वाध्याय में निमग्न रहता हुआ प्रभूत-द्रव्य साध्य साहित्य का प्रकाशन करने में असमर्थ ही रहता है। अपनी इसी असमर्थता को दूर करने के लिए कुछ समय पूर्व हमने **बम्बई** एवं **कलकत्त** की यात्रा की थी। बम्बई में लगभग ७ मास के चिर प्रयास से, एवं कलकत्ते में ३ मास के प्रयास से जनता का ध्यान इस साहित्य की उपादेयता, एवं आवश्यकता की ओर आकर्षित हुआ। फल दोनों हीं जगह सन्तोषप्रद न हुआ। फिर भी जो कुछ हुआ उसी के बल पर प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया गया। उक्त यात्राओं से पहिले ही हमने **शतपथभाष्य** का मासिक पुस्तकरूप से प्रकाशन आरम्भ किया था। इस के तीन वर्ष में लगभग १२०० पृष्ठ प्रकाशित भी हो चुके हैं। यह सौभाग्य का विषय है कि देश के सभी गण्य मान्य विद्वानों ने उक्त भाष्य पर अपनी अमूल्य सम्मतिएं भेजते हुए इस साहित्य को परम उपयोगी बतलाया है। इस के बाद **बम्बईसमिति** के प्राप्त द्रव्य से **ईशोपनिषत्विज्ञानभाष्य** का प्रथम खण्ड, एवं **द्वितीयखण्ड** प्रकाशित हुआ है। यह भाष्य ९०० पृष्ठों में संपन्न हुआ है। उचित तो यह था कि पहिले हम **उपनिषद्विज्ञानभाष्यभूमिका** ही प्रकाशित करते, परन्तु उस समय इस की प्रेस कॉपी तय्यार न थी। फलतः **ईशभाष्य** प्रकाशन के अनन्तर इस का प्रकाशन करना पड़ा। इस के बाद क्या प्रकाशित होगा? इस का उत्तर कालपुरुष पर निर्भर है। अथवा उन धनिकों की सद्बुद्धि पर निर्भर है, जो कि इन कार्यों के सञ्चालक हैं। हम अपने कर्त्तव्य पर दृढ़ हैं, एवं जगत् की निन्दा-स्तुतियों का समादर करते हुए इसी प्रकार मरणपर्य्यन्त दृढ़ रहैंगे। देश का कर्त्तव्य देश के सामने है, वह जैसा ठीक समझे करै।

उपनिषत्–गीता–व्याससूत्र तीनों की समष्टि विद्वत्समाज में **प्रस्थानत्रयी** नाम से प्रसिद्ध है। भारतवर्ष की सभी सम्प्रदाएं इस त्रयी के आधार पर प्रतिष्ठित हैं। फलतः सभी सम्प्रदायाचार्यों नें इन पर अपनें अपनें स्वतन्त्र भाष्य लिखे हैं। इतर पाश्चात्य एवं पूर्वीय विद्वानों नें भी इस त्रयीसमुद्र का भलीभांति मन्थन किया है। आजदिन प्रायः सभी भाषाओं में त्रयी का उपबृंहण उपलब्ध हो रहा है। ऐसी स्थिति में हमसे यह पूंछा जा सकता है कि—**"जब उपनिषदादि के अर्थ समझने की पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है तो फिर यह व्यर्थ का साहस क्यों किया जाता है?"**। इस प्रश्न के सम्बन्ध में अधिक कुछ न कह कर हम केवल यही कहना पर्य्याप्त समझते हैं—कि **'आज तक उपनिषदादि पर जितनें भाष्य लिखे गए हैं, वे सब दर्शनमर्यादा से आक्रान्त हैं। साथ ही में सभी सम्प्रदायाचार्यों नें इसे अपने घर की (स्वाभिमत मत की) प्रातिस्विक वस्तु बनाने की विफल चेष्टा की है। किसी आचार्य की दृष्टि से उपनिषदें अद्वैततत्व का प्रतिपादन करतीं हुईं अखण्डब्रह्म का निरूपण करतीं हैं। किसी की दृष्टि में द्वैत का, किसी की में विशुद्धाद्वैत का, किसी की में विशिष्टाद्वैत का, किसी की में द्वैता-द्वैत का प्रतिपादन है। परन्तु हमारी दृष्टि म उपनिषदें विज्ञानसहकृत अध्यात्मतत्व की निरूपिकाएं हैं, जैसा कि–"उपनिषदों में क्या है?" इस प्रश्न के समाधान में स्पष्ट हो जायगा।**

विज्ञानसिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व के लिए समान है। वह एक देशी नहीं, अपितु सार्वदेशिक है। इसी विज्ञानराशि को, जो कई शताब्दियों से विलुप्तप्राय थी, संसार के सामने रखने के लिए यह प्रयास है। इस भाष्य में, किंवा इस वैज्ञानिक साहित्य में आपको सर्वथा अपूर्वता मिलेगी। इस में प्राचीन भाष्यों के अर्थ की मीमांसा से यथाशक्ति बचने की चेष्टा की गई है। फिर भी यत्र तत्र सर्वथा सत्यसिद्धान्त की रक्षा के नाते **"शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि"** इस आप्त वचन के अनुसार हमें प्राचीनों के सम्बन्ध में अपने स्पष्ट विचार प्रकट करने पड़े हैं।

जिस महापुरुष ने अपनी ईश्वरदत्त अलौकिक प्रतिभा के बल पर अपनी आयु के ४०

वर्ष लगा कर जिस वेदराशि का मन्थन कर विज्ञान के अमल रत्नों से संसार को प्रकाशित किया है, हम उस दिव्यपुरुष के उच्छिष्ट भोगी हैं, हमारा यह सारा प्रयास उसी दिव्यविभूति का प्रसाद है। हमतो निमित्त मात्र हैं। आशा है देश हमारी इस सामान्य कृति को अपना कर आगे के लिए हमें उत्साहित करेगा।

उचित था कि भूमिका भाग को यहीं समाप्त कर ग्रन्थ आरम्भ कर दिया जाता, परन्तु जैसा कि आरम्भ में हम निवेदन कर चुके हैं, लोकरुचि के अनुसार हमें भाषा का आश्रय लेना पड़ा है। आधुनिक पाश्चात्यशिक्षादीक्षित विद्वानों की दृष्टि ग्रन्थ के मूल विषय पर पीछे जाती है, एवं बहिरंग धर्म्मों की ओर उन का ध्यान पहिले आकर्षित होता है। **"ग्रन्थ के रचयिता कौन थे? यह कब बना था? इस के निर्म्माणकाल में किन विचारों की प्रधानता थी? ग्रन्थ का अमुक नाम क्यों रक्खा गया? अन्य विद्वानों के इस सम्बन्ध में क्या विचार हैं?"** पहिले वे इन प्रश्नों का समाधान चाहते हैं। अतः लोकरुचि को लक्ष्य में रखते हुए अनावश्यक होते हुए भी उक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में कुछ कहना आवश्यक है। हमारा यह विश्वास ही नहीं, अपितु दृढ़ निश्चय है कि यदि पाठकों नें आद्योपान्त इस भूमिका को देखने का कष्ट उठाया तो सभी उपनिषदों का निरूपणीय विषय सामान्यरूप से उन के लिए गतार्थ हो जायगा। इस सम्बन्ध में निम्न लिखित विषयों पर ही प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

१—उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है?
२—उपनिषत् शब्द का अर्थ क्या है?
३—क्या उपनिषत् वेद है?
४—उपनिषदों में क्या है?
५—उपनिषत् ज्ञान का अधिकारी कौन है?
६—उपनिषत् हमें क्या सिखाती है?
७—औपनिषद-ज्ञान के प्रवर्त्तक कौन थे?
८—ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषदों में परस्पर में क्या सम्बन्ध है?
९—श्रूतिशब्दमीमांसा, एवं एकेश्वरवाद पर एकदृष्टि।

उक्त प्रश्न जितने ही सरल हैं, इन का उत्तर उतना ही कठिन है। उत्तर का अभाव इस कठिनता का कारण नहीं है, अपितु धार्मिकजगत् की जड़श्रद्धा ने ही इन प्रश्नों का उत्तर कठिन बना रक्खा है। कुछ समय से (जब से वैदिक स्वाध्याय छूटा है तब से) यहां के विद्वानों की ऐसी प्रवृत्ति होगई है कि उन्होंनें अपने घर में अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए जो अपना एक कल्पित सिद्धान्त बना रक्खा है, उस के विरुद्ध वे एक अक्षर भी सुनना नहीं चाहते, चाहे फिर वह विचार शास्त्र एवं युक्तिसङ्गत ही क्यों न हो। यद्यपि—**"यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः"** यह भी उन्हीं के आप्त पुरुषों का सिद्धान्त है, परन्तु आज कल उन की दृष्टि में इस सिद्धान्त का भी कोई मूल्य नहीं है। बस हमारी कठिनता का यही कारण है। परन्तु कोई चिन्ता नहीं। संभव है हमारा यह प्रयास उन्हें वास्तविक स्थिति का परिचय करा सके। इसी **सम्भूति**द्वारा **असम्भूति** के विनाश के लिए क्रमप्राप्त **मंगलरहस्य** की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है।

———:o:———

प्रारम्भिकनिवेदनसमाप्त

विद्वद्विधेयः—
मोतीलालशर्म्मा–गौड़ः

जयपुर–राजधानी
विज्ञानमन्दिर-भूराटीबा **जयपुर,**
(राजपूताना)

———:o:———

॥ श्रीः ॥

❀ मंगलरहस्य ❀

मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीरपुरुषकाणि भवन्ति ।

आयुष्मत् पुरुषकाणि, चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता तथा स्युः ॥



पनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ का विधान है। इस सम्बन्ध में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि **आद्यन्त मे मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है?** प्रकृत प्रकरण में इसी प्रश्न के समाधान की चेष्टा की गई है। भारतवर्ष में उपलब्ध होने वाले जितनें भी आस्तिक ग्रन्थ हैं, उन सब के आरम्भ में **गणेशस्तव, अग्नि, लक्ष्मी, विष्णु, दुर्गा, ओं,** इत्यादि रूप से मंगल उपलब्ध होता है। इस के अतिरिक्त सनातनधर्म्मी जगत् के जितनें कर्म्म हैं, उन सब का आरम्भ मंगलपाठ से ही होता है। यदि हम किसी को व्यवहार में पत्र लिखते हैं तो उस के आरम्भ में भी **"श्रीः" "श्रीरामजी" "श्रीगणेशायनमः" "ओंतत्सद्ब्रह्मणेनमः" "श्रीवल्लभायनमः" "श्रीदुर्गायैनमः"** इत्यादि रूप से मंगल-विधाता इष्टदेव का स्मरण करना चिरन्तन पद्धति में अन्तर्भूत हो रहा है। सचमुच यह हमारी उदात्त भावना है। मनोविज्ञान (Cycloige) के सिद्धान्त के अनुसार–**"जा की रही भावना जैसी, प्रभु मूरत देखी जिन तैसी"** यह भाव सर्वसम्मत है। हम अपने जीवन में, अपने मानस-जगत् में जैसे भावों की प्रधानता रखते हैं, तदनुसार ही हमारे आत्मा के साथ फलाफल का सम्बन्ध होता है। इस सद्भावना के लिए ही हमारे जीवन के सब कर्म्म, हमारे देश के सब आस्तिक ग्रन्थ उक्त मंगलभावना से युक्त रहते हैं। **"स्वस्ति"** भाव ही हमारे जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है। इस स्वस्तिभावना को दृढ़ करने के लिए ही मंगलपाठ आवश्यक है। **"श्रेयांसि बहु विघ्नानि"** इस सुप्रसिद्ध वृद्धव्यवहार के अनुसार प्रत्येक **श्रेयकर्म्म** (शुभ-कर्म्म) में अवश्य ही विघ्न आया करते हैं। सांसारिक कर्म्म **श्रेय, प्रेय, श्रेयप्रेय** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं।

यह तीनों कर्म्म अधिकारी भेद से सुव्यवस्थित हैं। आत्मोन्नतिलक्षण कर्म्म **श्रेय** हैं, आसक्ति-लक्षण कर्म्म **प्रेय** हैं, एवं उभयलोकसम्पत्सम्पादकलक्षण कर्म्म **श्रेयप्रेय** हैं। सीधी भाषा में इन तीनों को हम **हितकर, रुचिकर, हितकर-रुचिकर** इन नामों से व्यवहृत कर सकते हैं। एक ज्वरार्त्त रोगी के लिए चिरायते का काढ़ा ज्वरविनाशक होता हुआ हितकर अवश्य है, परन्तु काढ़ा पीते समय रोगी के प्राण ब्रह्माण्ड में चढ़ जाते हैं, क्योंकि यह रुचिकर नहीं है। इसी रोगी के लिए अन्न खाना किसी अंश में रुचिकर अवश्य है, परन्तु हितकर नहीं। मद्यपी के लिए मद्य रुचिकर है, परन्तु हितकर नहीं है। प्रतिदिन का **सात्विक भोजन, स्वास्थ्यवर्द्धक भ्रमण, स्वकर्त्तव्यकर्म्म में प्रवणता** आदि कर्म्म हितकर भी हैं, रुचिकर भी हैं। हितकर कर्म्मों में बुद्धि की प्रधानता है, रुचिकर कर्म्मों में **मन** की प्रधानता है, एवं हितकर-रुचिकर कर्म्मों में बुद्धि एवं मन दोनों का सामञ्जस्य है। इन तीनों में मन की प्रधानता से सम्बन्ध रखने वाले केवल रुचिकर कर्म्म प्रत्येक दशा में नाश के कारण हैं। इन के आरम्भ में रुचि है, परिणाम में यही विषोपम हैं, दुःखद हैं। अनियमित राग-द्वेष, विषयोपभोग आदि सब ऐसे ही कर्म्म हैं। शेष दोनों (हितकर एवं हितकर-रुचिकर) कर्म्म अलौकिक अधिकारी, एवं लौकिक अधिकारी भेद से व्यवस्थित हैं। **गृहस्थाश्रम** में प्रतिष्ठित व्यक्ति लौकिक अधिकारी है। यह विशुद्ध आत्मचिन्तन का ही अधिकारी नहीं है। इसे आत्मचिन्तन के साथ साथ सांसारिक **पुत्र-कलत्रपरिपालन, अर्थोपार्ज्जन, सम्बन्धियों के साथ यथा योग्य व्यवहार** आदि लौकिक कर्म्मों का भी आश्रय लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसी स्थिति में अपने इस उभयधर्म्मावच्छिन्न गृहस्थकर्म्म के सम्यक् परिपालन के लिए इसे बुद्धि एवं मन दोनों का सामञ्जस्य रखना पड़ता है। गृहस्थाश्रम के जितने कर्म्म हैं, सब में **श्रेय-प्रेय** दोनों का समावेश है। इस प्रकार यथाशास्त्र गृहस्थाश्रम में इस उभयकर्म्म का अनुष्ठान समाप्त करने के अनन्तर यही लौकिक अधिकारी क्रमशः **वानप्रस्थ, संन्यास** आश्रम में प्रविष्ट होता हुआ, लौकिक व्यावहारिक कर्म्मों की ओर से उदासीन बनता हुआ, बुद्धिप्रधान विशुद्ध श्रेय कर्म्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता हुआ, विशुद्ध आत्मनिष्ठ बनता हुआ अलौकिक अधिकारी बन जाता है। यही इस पुरुष का परमपुरुषार्थ है, जन्मसाफल्य है। उपनिषत् **आत्मविद्या शास्त्र है, वह एकमात्र आत्मनिष्ठा का प्रतिपादन करती है।** अतएव उसने

श्रेय-प्रेय इन दो विभागों को ही प्रधानता दी है। मध्य का उभयाधिकारी लौकिक कोटि में आता हुआ उपनिषत् की दृष्टि में प्रेय कोटि में ही अन्तर्भूत है। इस प्रकार संसार में श्रेय-प्रेय दो विरुद्ध भावों का साम्राज्य हो रहा है। एक ओर इन्द्रियाराम, विषयोपभोग, अर्थलिप्सा, स्वार्थपरायणता, नास्तिक्य आदि रुचिकर भावों की प्रधानता है, दूसरी ओर इन्द्रियसंयम, विषयोपराम, निःस्पृहा, परमार्थबुद्धि, आस्तिक्य आदि हितकर भावों की प्रधानता है। योग-क्षेम को ही जीवन का परमपुरुषार्थ मानने वाले, आहार-निद्रा-भय-मैथुन-आदि पशुधर्म्मों को ही जीवन का मुख्य उद्देश्य समझने वाले, केवल मानस व्यापार को प्रधानता देने वाले, अतएव मन्दबुद्धि लोग उक्त दोनों कर्म्मों में से "प्रेय" मार्ग का आश्रय लेने में ही अपने आप को कृतकृत्य समझने लगते हैं। "जीवन भोजन के लिए है" यही इन का आराध्य मन्त्र है।

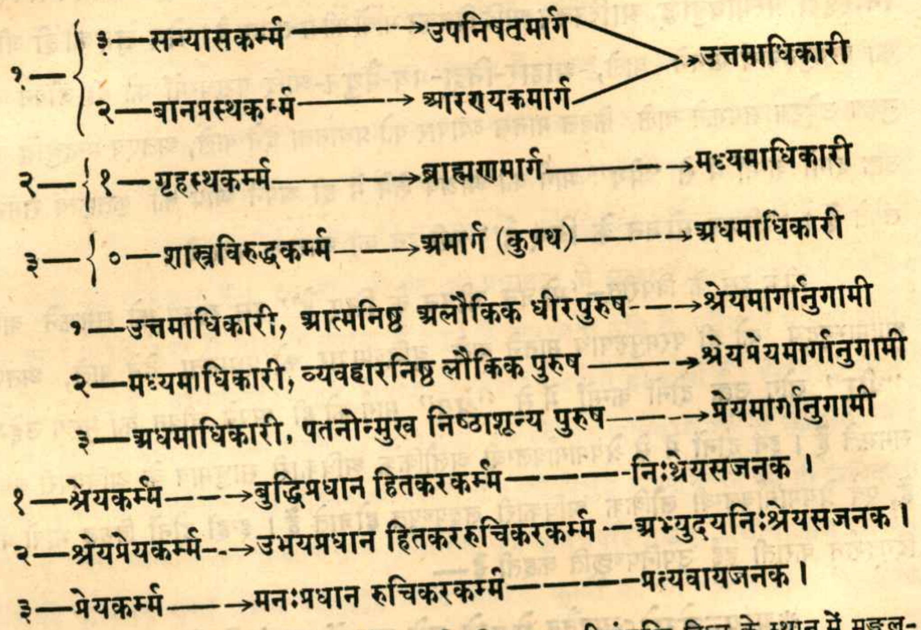
ठीक इस के विपरीत—"भोजन जीवन के लिए है" इस रहस्य को समझने वाले, आत्माभ्युदय को ही परमपुरुषार्थ मानने वाले, बुद्धिव्यापार को प्रधानता देने वाले, अतएव "धीर" लोग उक्त दोनों कर्म्मों में से "श्रेय" मार्ग को ही अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य समझते हैं। इन दोनों में से श्रेयमार्गावलम्बी अलौकिक अधिकारी साधुभाव के अधिकारी बनते हैं, एवं प्रेयमार्गावलम्बी लौकिक अधिकारी लक्ष्यच्युत होजाते हैं। इन्हीं दोनों विरुद्ध भावों का दिग्दर्शन कराती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

*अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषं सिनीतः ॥
तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥१॥
श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ सम्परीत्य विविनक्ति धीरः ॥
श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वृणीते प्रेयो मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥२॥
(कठोपनिषत् १ अ०।२।व०।१-२-मं०)।

निष्कर्ष यही हुआ कि आत्मनिष्ठ अलौकिक, व्यवहारनिष्ठ लौकिक, एवं पतनोन्मुख

*इस विषय का विशद विवेचन कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

लौकिक भेद से तीन प्रकार के अधिकारियों में उक्त तीनों कर्म्म विभक्त हो रहे हैं। इन में आरण्यकों एवं उपनिषदों के लक्ष्य आत्मनिष्ठ अलौकिक अधिकारी हैं, एवं ब्राह्मणग्रन्थ के लक्ष्य व्यवहारनिष्ठ लौकिक अधिकारी हैं। तीसरे अधिकारी शास्त्रनिष्ठा से बहिर्भूत होते हुए सर्वथा लक्ष्यच्युत हैं।



जो मनुष्य प्रेयकर्म्मों में रत हैं, उन के लिए आसुरीसंपत्ति विघ्न के स्थान में मङ्गल-प्रद है। फलतः इन्हें अपनें कर्मों में विघ्नविनाशमूलक देवतास्मरणात्मक मंगलपाठ की कोई आवश्यकता नहीं रहती। श्रेयप्रेयकर्म्मों का अनुष्ठान करने वाले व्यवहारनिष्ठ मनुष्य को जहां असुरभावमूलक प्रेयकर्म्म का अनुगमन करना पड़ता है, वहां उसे ईश्वरोपासन, दिव्यषोडशसंस्कार आदि दैवभावमूलक श्रेयकर्म्म को भी अपनाना पड़ता है। ऐसी स्थिति में नित्यसहचारी, विघ्नप्रर्वतक असुरों की कृपा का होना अनिवार्य होजाता है। इस दुरित को दूर करने के लिए इसे अपने दिव्यकर्म्मों में मंगल का आश्रय लेना पड़ता है। तीसरे हैं विशुद्ध श्रेयोऽनुगामी आत्मनिष्ठ उत्तमाधिकारी। यहां केवल दैवीसंपत् का साम्राज्य है। फलतः इन श्रेयकर्म्मों में आसुरभाव का प्रबल

आक्रमण होना अनिवार्य है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रख कर **"श्रेयांसि बहु विघ्नानि"** यह कहा गया है। इन कर्म्मों में विघ्न बहुत हैं, एवं प्रबल हैं। इसी प्राबल्य के कारण जहां और ग्रन्थों के आरम्भ में मंगलपाठ किया जाता है, वहां आत्मोपयिक आत्मीय कर्म्मों का प्रतिपादन करने वाले उपनिषद्ग्रन्थों के आद्यन्त में मंगलपाठ करना उसी प्रकार आवश्यक होजाता है, जैसे कि क्रोधमूर्त्ति रुद्र के लिए **उभयतो-नमस्कार**। देवताओं में रुद्र देवता संहारक माने गए हैं। इन के इस भीषण क्रोध को शान्त करने के लिए—

आदिनमस्कार		अन्तनमस्कार
"नमो-बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये-**नमः"**
"नमो-भवस्य हेत्यै जगतां पतये-**नमः"**
"नमो-रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये-**नमः"**
"नमः-सूतायाहन्त्यै वनानां पतये-**नमः"**

(यजुःसं० १६।१८)

इत्यादि रूप से आदि एवं अन्त में दो दो बार नमस्कार किया जाता है। **उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ क्यों किया जाता है?** इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

प्रकारान्त से विचार कीजिए। जिन कार्यों से आत्मोन्नति होती है, आत्मा का अभ्युदय होता है, वे सब शुभ कर्म्म हैं, एवं आत्मपतन के हेतुभूत प्रत्यवायजनक सारे कर्म्म अशुभ हैं। [1]**विद्यासमुचित यज्ञ-तप-दानरूप निवृत्तिसत्कर्म्म**, [2]**विद्यासमुचित यज्ञतपदानलक्षण प्रवृत्तिसत्कर्म्म**, [3]**विद्यानिरपेक्ष इष्ट-आपूर्त्त-दत्तरूप प्रवृत्तिसत्कर्म्म** यह तीन विभाग शुभकर्म्म के हैं, एवं [4]**विद्यानिरपेक्ष शास्त्रनिषिद्ध असत्कर्म्म** अशुभ कर्म्म कहलाते हैं। इन चारों का १-२-१ इस क्रम से विभाजन समझना चाहिए, जैसा कि निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट होजाता है।

१—१—वि० सा० निवृत्तिकर्म्म——→श्रेयकर्म्म——→आत्मनिष्ठ (अलौकिक) ।

२—१—वि० सा० प्रवृत्तिकर्म्म
　　　　　　　　　　　　　←श्रेयप्रेयकर्म्म——→व्यवहारनिष्ठ (लौकिक) ।
३—२—वि० नि० प्रवृत्तिकर्म्म

४—१—अशास्त्रीयकर्म्म————→प्रेयकर्म्म——→निष्ठाच्युत (उभयतोभ्रष्ट) ।

शुभ कर्म्मों का उदय **दैवीसंपत्** से होता है, एवं अशुभकर्म्म का आक्रमण **आसुरीसंपत्** से होता है। देवता एवं **असुरों** में*अश्वमाहिष्य (सहजवैर) है। देवता ज्योतिर्म्मय हैं, असुर तमोमय हैं। प्रकाश एवं अन्धकार अत्यन्त विरुद्ध इन दोनों प्रतिद्वन्द्वी भावों में निरन्तर स्पर्द्धा

---

*"**सौर्य्यो वा अश्वः**" (गो०ब्रा०उ०३।१९।) इस **साम**सिद्धान्त के अनुसार **अश्व पशु** में **सौरप्राण** (इन्द्र) की प्रधानता है। उधर **महिष** पशु में **वारुण आप्यप्राण** प्रधानरूप से प्रतिष्ठित है। यद्यपि-"**वारुणो हि देवतया अश्वः**" (तै०ब्रा०१।७।२।६।) इत्यादि रूप से अश्वपशु को सौर्य्यवत् वारुण भी माना गया है, परन्तु वहां वारुण से सौरप्राणयुक्त **वेन** नाम का ज्योतिर्म्मय पानी ही विवक्षित समझना चाहिए। सौर रश्मिमण्डल में प्रविष्ट पारमेष्ठ्य वारुण भाग ही अश्वपशु की **योनि** है। इसी आधार पर—"**अप्सु योनिर्वा अश्वः**" (तै०ब्रा०३।८।४।३) यह कहा जाता है। उधर **महिषपशु** में विशुद्ध आप्यप्राण का प्रभुत्व है। सूर्य्यमण्डल की अन्तिम सीमा (जो कि **आर्यसर्वस्व** (पुराण) में '**लोकालोक**' नाम से प्रसिद्ध है) के बाहर पारमेष्ठ्य पानी का साम्राज्य है। इसी लोकालोक स्थान पर सूर्य्योपग्रहभूत **शनि** की सत्ता है। इस **ग्रह** का जो भाग सूर्य की ओर रहता है, प्रकाशित वही अर्द्धभाग **धर्म्मराज** है। एवं सूर्य्य से विरुद्ध दिक् में रहने वाला तमोमय अर्द्धभाग **यमराज है**। वही यम है, वही धर्म्म है। केवल ज्योति-तम में तारतम्य है। इनमें से तमोमय शनितेजःप्रधान आप्यप्राण से ही महिष पशु का निर्म्माण होता है। माहिष ही उस की प्रतिष्ठा है। अतएव **निदानविद्या** के अनुसार महिष को यमराज का वाहन माना जाता है। इस प्राकृतिक स्थिति से प्रकृत में यही बतलाना है कि पूर्वदिक्स्थ **सूर्य्य** (इन्द्र), एवं पश्चिमदिक्स्थ **वरुण** इन दोनों दिक्पालों में सहजवैर है। एक **देवेन्द्र** है, दूसरा **असुरेन्द्र** है। एक **ज्योतिर्म्मय** है तो दूसरा **तमोमय** है। अतएव **इन** दोनों प्रतिद्वन्द्वी देवताओं से कृतात्मा **अश्व** एवं **महिष** में सहज वैर होना स्वाभाविक होजाता है। इसी प्राणविज्ञान के आधार पर संस्कृत साहित्य में सहजवैर के स्पष्टीकरण के लिए "**अश्वमाहिष्य**" न्याय प्रचलित है। इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को **कठोपनिषद्विज्ञानभाष्य** देखना चाहिए। .... ।

चलती रहती है। "जायमानो वै जायते सर्वाभ्यो एताभ्यो एव देवताभ्यः" इस नैगमिक सिद्धान्त के अनुसार देवप्राण एवं असुरप्राण दोनों प्राणदेवता+ स्थावरजङ्गमात्मक विश्व के उपादान हैं। सुतरां इन दोनों से उत्पन्न विश्व के प्रत्येक पदार्थ में दैवासुरसंपत्ति की सत्ता सिद्ध हो जाती है। इसी आधार पर—"गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी" यह आभाणक प्रसिद्ध है।

जिन पदार्थों में (वह पदार्थ जड़ हो, अथवा चेतन) दैवी संपत्ति अधिक होती है, वे सब सात्विक हैं। जिन में आसुरी सम्पत्ति को प्रधानता रहती है, वे सब पदार्थ तामस हैं। एवं दोनों के मध्य में प्रतिष्ठित, अतएव देवासुर के सामञ्जस्यरूप उभयधर्म्मावच्छिन्न पदार्थ राजस हैं। देवप्रधान सत्वभाव, असुरप्रधान तमोभाव, एवं उभयप्रधान रजोभाव के कारण ही पूर्वप्रतिपादित श्रेयादि मर्यादाएं प्रतिष्ठित हैं।

१—देवबलप्रधान सात्विकभावयुक्त पुरुष—श्रेयोमार्गानुगामी आत्मनिष्ठ।

२—उभयबलप्रधान राजसभावयुक्त पुरुष—उभयमार्गानुगामी व्यवहारनिष्ठ।

३—असुरबलप्रधान तामसभावयुक्त पुरुष—प्रेयोमार्गानुगामी निष्ठाच्युत।

शुभकर्म्म की प्रेरणा अन्तरात्मस्थ सत्वभावप्रवर्त्तक देवता की प्रेरणा है। देवता के साथ ही उसी स्थान में देवविरोधी तमोभावप्रवर्त्तक असुर भी अवस्थित हैं। देवप्राण की स्वाभाविक प्रेरणा का विरोध करना इस आसुरप्राण का नैसर्गिक धर्म्म है। सौभाग्य से यदि देवता का बल अधिक होता है तो वे असुर दिव्य कर्म्म में विघ्न करने में असमर्थ रहते हैं। यदि असुरबल का प्रभुत्व है तो कार्यविनष्टि है। वस्तुतस्तु चाहे देवबल कितना ही प्रबल क्यों न हो, फिर भी आसुरभाव का विघ्नरूप आक्रमण सर्वात्मना नहीं रोका जासकता। कारण इस का यही

+ देव शब्द केवल ३३ सौरप्राणों का ही वाचक है, परन्तु देवता शब्द देव-असुर-पितर-गन्धर्व-ऋषि आदि प्राणमात्र का वाचक है। इस विषय का विशद विवेचन शतपथ विज्ञानभाष्यान्तर्गत अष्टविध-देवताविज्ञान नाम के प्रकरण में देखना चाहिए।

है कि **ज्ञान** एवं **कर्म्म** दोनों ही ईश्वर प्रजापति की नित्य विभूतिएं हैं। इन दोनों में ज्ञानतत्व [1]**सद्ज्ञान**, [2]**अज्ञान**, **विरुद्धज्ञान** भेद से तीन भागों में विभक्त है, एवं कर्म्मतत्व [1]**सत्कर्म**, [2]**अकर्म्म**, [3]**विकर्म** भेद से तीन भागों में विभक्त है। ज्ञान—कर्म्म के इन ६ ओं विवर्तों में **सद्ज्ञान**, एवं **सत्कर्म्म** यह दो तो दैवीविभूतिएं हैं, एवं शेष चारों आसुरीविभूतिएं हैं। यही कारण है कि संसार में दैवीसम्पत्तिमूलक शान्तिभाव अत्यल्पमात्रा में है, एवं आसुरीसम्पत्तिमूलक अशान्तिभाव का साम्राज्य अधिक स्थान तक व्याप्त होरहा है। **देवताविज्ञान** के अनुसार भी ज्योतिर्म्मय देवनाम के सौर दिव्यदेवता संख्या में ३३ ही हैं। साथ ही में आपोमय परमेष्ठीमण्डल के गर्भ में उत्पन्न होन वाले सूर्य्य से विकसित यह प्राणदेवता असुरों के छोटे भाई हैं। उधर आप्य—प्राणप्रधान असुर संख्या में देवताओं से तिगुनें (९९) हैं, एवं आपोमय परमेष्ठी में उत्पन्न होने के कारण यह देवताओं के बड़े भाई हैं। देवता **सत्यसंहित हैं, विज्ञानघन** हैं। असुर बल-संहित बनते हुए **असत्यसंहित** हैं। **"बलं वाव विज्ञानाद् भूयः"** (छा.उ.६।८।) के अनुसार बलप्रधान विश्व में बलसंहित आसुरभाव का ही साम्राज्य रहना प्रकृतिसिद्ध है। फलतः प्रत्येक शुभ कार्य में इस आसुरभाव का आक्रमण अवश्यंभावी बन जाता है।

प्राकृतिक असुरों द्वारा होने वाले इसी विघ्नभाव को दूर करने के लिए ऋषियों नें प्रत्येक कार्य्य के **आदि-मध्य-अवसान** में मङ्गल की व्यवस्था की है। त्रिसत्य आत्मा के अवयवरूप प्राण-देवता भी त्रिसत्य ही हैं। इसी त्रिभाव के परिग्रह के लिए तीन स्थानों में मङ्गलपाठ किया जाता है। साथ ही में प्रत्येक मङ्गल **ओंशान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!** इस प्रकार त्रिपर्वा होता है। इसी मङ्गलरहस्य को लक्ष्य में रखकर अभियुक्त कहते हैं—

***"एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थमृष्यताम्। माङ्गलिक आचार्यो महतःशास्त्रौघस्य**

*भगवान् पाणिनिवीरचित **अष्टाध्यायी** क्रम के अनुसार "वृद्धिरादेच्" यह पहिला सूत्र है। महाभाष्यकार **पतञ्जलि** ने उक्त सूत्र के प्रयोजनों का विचार करते हुए अन्त में उन सब प्रयोजनों को अन्यथा सिद्ध कर यह प्रश्न उठाया है कि—'**जब कि उक्त प्रयोजन अन्यरूप से सिद्ध हो जाते हैं तो फिर "वृद्धिरादैच्" सूत्र की क्या आवश्यकता रह जाती है?—(कथं "वृद्धिरादैच्" इति)।**

मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते, वीर-पुरुषकाणि भवन्ति, आयुष्मत् पुरुषकाणि, चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता तथा स्युरिति" (पात० महाभाष्य १।१।१)। इति।

न्यायशास्त्र के सुप्रसिद्ध कारिकावलीग्रन्थ में भी मंगल का उक्त फल ही बतलाया गया है, जैसा कि निम्न लिखित पङ्क्तियों से स्पष्ट होजाता है—

*"विघ्नविघाताय कृतं मङ्गलं शिष्यशिक्षायै निबध्नाति—"नूतनेति"। +++ इत्थं च यत्र मङ्गलं न दृश्येत, तत्रापि जन्मान्तरीयं तत् कल्प्यते। यत्र च सत्यपि मङ्गले समाप्तिर्न दृश्यते, तत्र बलवत्तरो विघ्नो, विघ्नप्राचुर्यं

इस आपत्ति का निराकरण करते हुए, सूत्र की सार्थकता प्रकट करते हुए आगे जाकर आचार्य कहते हैं कि आचार्य (पाणिनि) के केवल इस एक (वृद्धिरादैच्) सूत्र को मङ्गलार्थ समझ कर सन्तोष कर लेना चाहिए। मङ्गलप्रिय, अतएव माङ्गलिक आचार्य अतिगहन व्याकरणशास्त्र के आदि में (निर्विघ्न शास्त्रसमाप्ति के लिए) मङ्गलसूचक वृद्धि शब्द का ग्रन्थ (अष्टाध्यायी) के आरम्भ में प्रयोग करते हैं। (आस्तिक) शास्त्र मङ्गल को आदि में रख कर ही प्रवृत्त होते हैं। **"इस मङ्गल से पढ़ने वाले आत्मदृष्ट्या वीर बनें, दीर्घायु बनें, एवं पढ़ानें वाले समृद्धि युक्त हों"** यही इस मंगल का प्रयोजन है"।

*"विघ्नविनाश के लिए किया हुआ मंगल शिष्यों क शिक्षण के लिए (शिष्यवर्ग इसी प्रकार मंगल करते रहें, यह बतलाने के लिए ग्रन्थकार ग्रन्थ के आरम्भ में) **"नूतनजलधररुचये"** इत्यादि रूप से मंगल का विधान करते हैं +++ (बिना मंगल के विघ्न नष्ट नहीं होते, एवं बिना विघ्ननाश के ग्रन्थ संपन्न नहीं होता, जब यह निश्चित सिद्धान्त है तो जो ग्रन्थ संपन्न देखे जाते हैं, एवं जिन के आरम्भ में मंगल नहीं देखा जाता, वहां यही मानना पड़ता है कि इस ग्रन्थकार ने जन्मान्तर में अवश्य ही मंगल किया होगा। उसी सांस्कारिक मंगल प्रभाव से इस का ग्रन्थ निर्विघ्न पूर्ण हुआ है)। अपिच जहां मंगल रहने पर भी (कादम्बरी आदि में) ग्रन्थ समाप्ति नहीं देखी जाती, उस सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि अवश्य ही या तो उस कर्म में कोई बहुत बड़ा विघ्न आया होगा, अथवा छोटे छोटे अनेक विघ्न आए होंगे। कारण बलवत्तर विघ्नविनाश में बलवत्तर मंगल को ही कारणता है। प्राचीन नैय्यायिकों के मतानुसार यह मंगल विघ्ननाश का कारण बनता हुआ समाप्ति का कारण है। उधर नव्यनैय्यायिकों के मतानुसार मंगल केवल विघ्नविनाश का कारण है। ग्रन्थ की समाप्ति तो ग्रन्थकर्त्ता के प्रतिभाबल पर ही अवलम्बित है"।

वा बोध्यम्। प्रचुरस्यास्यैव बलवत्तरविघ्ननिवारणे कारणत्त्वम्। विघ्नध्वं-सस्तु मङ्गलस्य द्वारमित्याहुः प्राञ्चः। नव्यास्तु मङ्गलस्य विघ्नध्वंस एव फलं, समाप्तिस्तु बुद्धिप्रतिभादिकारणकलापात्" (कारिकावली)

इस प्रकार मंगलपाठ को विघ्नविनाश का मुख्य हेतु माना है। हमारा इस से कोई विरोध-नहीं है। अवश्य ही मङ्गलाचरण का यह भी एक कारण है। परन्तु उपनिषदों के मंगलपाठ की कारणता यहीं तक सीमित नहीं है। यहां विघ्नविनाश के साथ साथ और भी एक गुहानिहित रहस्य है। यहां आसुरभाव का आक्रमण प्रधान नहीं है, अपितु **संसार सम्बन्ध की विच्युति** की ही यहां प्रधान कारणता है, जैसा कि निम्न लिखित प्रकरण से स्पष्ट हो जाता है।

आत्मविद्याप्रतिपादकशास्त्र ही **उपनिषत्** है। आत्मतत्व सपरिग्रह दशा में **'प्रजापति'** कहलाने लगता है। यह प्रजापति **ईश्वर-जीव** भेद से दो भागों में विभक्त है। जीव-प्रजापति ईश्वर-प्रजापति का अंश है, दूसरे शब्दों मे वही है। परन्तु **अविद्या-अस्मिता-रागद्वेषादि** पाप्मा धर्मों के लेप से **साञ्जन** बनता हुआ, **सलेप** बनता हुआ यह जीव-प्रजापति अपने उस निरञ्जन, निर्लेप ईश्वर-प्रजापति की समता खो बैठता है। **"इन दोषों को हटा कर जीवात्मा को शुद्ध निरञ्जन रूप में परिणत कर, उस व्यापक निरञ्जन ज्योतितत्व के साथ इस के समन्वय का मार्ग बतला देना"** ही एक मात्र उपनिषदों का प्रधान प्रतिपाद्य विषय है, जैसा कि—"उपनिषदों में क्या है?" इस प्रश्नसमाधानप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

प्रजापति में **आत्मा-प्राण-पशु** यह तीन कलाएं हैं। आत्मा **पशुपति है, प्राण पाश** है। पशुपति ने पाश से पशु को बांध रक्खा है। इन तीनों में तीसरा पशुभाग **आत्मवित्त,** किंवा **पशुपतिवित्त** कहलाता है। यह पशुपतिवित्त **अन्तर्वित्त-बहिर्वित्त** भेद से दो भागों में विभक्त है। सप्तधातुमय पाञ्चभौतिक शरीर आत्मा का अन्तर्वित्त (अन्तरङ्गवित्त) है। **पत्नी-सन्तान-अनुचर-गृह-अन्न-द्रव्य** आदि बहिर्वित्त (बाह्यसम्पत्ति) है। दोनों ही वित्त आत्मा के **भोग्य** हैं। भोग्यतत्व को ही विज्ञानभाषा में **"पशु"** कहा जाता है। प्राण **भोगसाधन** है, आत्मा **भोक्ता**

है। भोग्य-भोगसाधन-भोक्ता इन तीनों की समष्टि ही एक **प्राजापत्यसंस्था है**। उपनिषदों की दृष्टि प्रधान रूप से यद्यपि प्रजापति की आत्मकला की ओर ही रहती है, तथापि आत्मतत्व चूंकि प्राण एवं पशु से अविनाभूत है, अतः अगत्या आत्मस्वरूप विवेचन के साथ साथ गौणरूप से उपनिषत् को प्राण और पशु स्वरूप पर भी प्रकाश डालना पड़ता है। भोगसाधनरूप प्राणतत्त्व वाक्[१]-प्राण[२]-चक्षु[३]-श्रोत्र[४]-मन[५] (आग्नेयप्राण[१]-वायव्यप्राण[२]-आदित्यप्राण[३]–दिक्सौम्यप्राण[४]–भास्वरसौम्यप्राण[५]) भेद से पांच भागों में विभक्त है। यह पांचों प्राण अपने अवयवी मुख्य प्राण में (जो कि मुख्यप्राण **"उद्गीथ" "उक्थ" "अङ्गी"** आदि विविध नामों से व्यवहृत हुआ है) बद्ध रहते हैं। एवं पञ्चप्राणात्मक यह मुख्य प्राण **महदुक्थ** रूप हृदयस्थ भोक्ता आत्मा में बद्ध रहता है। इसी आधार पर—**"यस्मिन् प्राणः पञ्चधा संविवेश"** (मुण्डक उप० ३।१।६।) यह कहा जाता है। इन प्राणों से, किंवा पञ्चप्राणात्मक मुख्य प्राण से शरीरादिरूप पशु भाग बद्ध है। इस परस्पर के ग्रन्थिबन्धन के कारण तीनों नित्य अविनाभूत हैं। एक दूसरे के बिना एक दूसरा अनुपपन्न है। इसी लिए आत्मा को प्रधानरूप से लक्ष्य बनाता हुआ भी उपनिषच्छास्त्र उक्त ग्रन्थिबंधन से बद्ध प्राण एवं पशु को भी अपना निरूपणीय विषय बनाता है। ऐसी स्थिति में हम यह कह सकते हैं कि—**"प्राजापत्यविद्या का ही नाम उपनिषद्विद्या है, उपनिषदों में प्रजापति का ही निरूपण हुआ है।"**

उक्त तीनों (आत्मा-प्राण-पशु) तत्वों का उपनिषत् में **संचर-प्रतिसंचर** रूप से निरूपण हुआ है। **ज्ञानमार्ग** प्रतिसंचर है, **विज्ञानमार्ग** संचर है। अनेक से एक की ओर जाना **ज्ञान** है, एक से अनेक की ओर आना **विज्ञान** है। वृक्षमूल को आधार मान कर **तूलरूप-शाखा-प्रशाखा–अनुशाखा–अनुप्रशाखा–पत्र–वृन्त–पुष्प–मञ्जरी–फल** आदि का निरूपण करना **विज्ञान** है। शाखा-प्रशाखादि नाना भावों को लक्ष्य बनाकर एक मूलवृक्ष पर इन सब नानाभावों का अवसान कर देना **ज्ञान** है। एक को उद्देश्य बना कर नानाभाव का विधान करना **विज्ञान** है, एवं नानाभाव को उद्देश्य मान कर एकत्व का विधान करना **ज्ञान** है। इन दोनों पक्षों का पूर्व प्रकरण में सप्रमाण निरूपण किया जा चुका है—(देखिए प्रा० नि० पृ० सं० ४२–४८)।

ज्ञान वही यथार्थ होगा, जिस में विज्ञान अनुस्यूत होगा। विज्ञान वही अभ्युदय का करण होगा, जिस का आलम्बन ज्ञान होगा। अद्वैतमूलक ज्ञानसम्पत्ति के लिए नानाभावमूलक विश्व का परिज्ञान नितान्त अपेक्षित है। "सम्पूर्ण विश्व आत्ममय है, ईश्वरमय है" यह ज्ञान प्राप्त करने से पहिले **"सम्पूर्ण विश्व उस एक आत्मा का, एक प्रजापति का ही वैभव है"** यह विज्ञान संपत्ति प्राप्त करना आवश्यक होगा। ज्ञान यदि विज्ञान सहित है तो सब कुछ गतार्थ है, अन्यथा सब कुछ नष्ट है।

आत्मविद्या, किंवा प्राजापत्यविद्या उपनिषद्विद्या है, यह कहा जाचुका है। यह आत्मप्रपञ्च **रस-बल** के ग्रन्थिबन्धन तारतम्य से **निर्विशेष, परात्पर, अव्यय, अक्षर, आत्मक्षर, त्रिकारक्षर, विश्वसृट्, पञ्चजन, पुरञ्जन, पुर, प्रजापति** भेद से अनेक भागो में (११ भागों में) विभक्त होजाता है। एक आत्मा का उक्त ११ रूपो में परिणत होजाना ही विज्ञान है। एक ही आत्मा इन नानाभावों में परिणत हो रहा है। उपनिषच्छास्त्र उद्देश्य रूप से तत्तत् स्थलो में इन सभी नानारूपों का विशदरूप से निरूपण करता है। साथ ही में विधेय कोटि में वह एकाकी आत्मतत्व को हमारे सामने रखता जाता है। **"नानाभाव के स्वरूपज्ञानपूर्वक नानाभाव का परित्याग, एव एकतत्व की आराधना"** ही उपनिषत् का मुख्य लक्ष्य है, यही ज्ञानपक्ष है।

"पशु, द्रव्य, अनुचर, गृह, माता, पिता, सन्तान, जाया, आदि का मोह छोड़ो, राग-द्वेष का परित्याग करो, **शम-दम-तप-सत्य-अहिंसा-ब्रह्मचर्य-एकान्तवास** आदि नियमों को अपनाते हुए इन्द्रिय संयम द्वारा शारीर भोगों के साथ विरक्ति पैदा करो, इन्द्रियों को **प्रज्ञानात्मा** (मन) में, प्रज्ञान को **विज्ञानात्मा** (बुद्धि) में, विज्ञान को **महानात्मा** में, महान् को **अव्यक्तात्मा** में, अव्यक्त को **आत्मक्षर** में, आत्मक्षर को **अक्षर** में, अक्षर को अव्यय की **वाक्कला** में, वाक् को **प्राण** में, प्राण को **श्वोवसीयस** नाम के **अव्ययमन** में, अव्ययमन को **विज्ञानमयकोश** में लीन करते हुए सर्वान्तरतम **आनन्द** में लीन होते हुए, सर्वपरिग्रहशून्य बनते हुए, विश्वप्रपञ्च से एकान्ततः बाहर निकलते हुए केवल **निष्कैवल्य, निरञ्जन** आत्मस्वरूपमात्र रह जाओ" यह

एक पक्ष है, एक मार्ग है। "मूल आत्मा के ऊपर उक्त परिग्रहों को बढ़ाते जाओ, बढ़ाते बढ़ाते पशु-भाग तक आत्मा को व्याप्त करते हुए संसार में लिप्त हो जाओ" यह एक मार्ग है। एक में संसार का अनासक्तिपूर्वक परित्याग है, दूसरे में आसक्तिपूर्वक संसार का ग्रहण है। पहिला **मुक्तिमार्ग** है, दूसरा **बंधनमार्ग** है। इन ज्ञान-विज्ञानप्रधान **मुक्ति बंधनरूप** दोनों मार्गों में से उपनिषच्छास्त्र विज्ञानमार्ग को लक्ष्य बना कर धीरे धीरे उस से आत्मा को पृथक् करता हुआ, संसार की बंधनमूला विभूतियों को हटाता हुआ जीवात्मा को विशुद्ध आत्मतत्व पर पहुंचा देता है। **प्रवृत्ति-मार्ग उद्देश्य है, निवृत्तिमार्ग विधेय है। संसार साधन है, विश्वातीत आत्मा साध्य है।** दूसरे शब्दों में **विज्ञान साधन है, ज्ञान साध्य है।** प्रकारान्तर से **कर्म्म साधन है, ब्रह्म साध्य है।** उपनिषत् हमें (आत्मा को) संसार से, दूसरे शब्दों में गृहस्थधर्म्म से पृथक् करती है, अतएव यह गृह्य धर्म्म नहीं है, अपितु **वन्य धर्म्म** है।

पहिला आश्रम **ब्रह्मचर्य** है, दूसरा **गृहस्थ** है, तीसरा **वानप्रस्थ** है, चौथा **सन्यास** है। ऋषियों नें ज्ञान-कर्म्ममय आत्मा की पूर्णता के लिए उक्त आश्रम विभाग किया है। ज्ञान **अमृत तत्व है, सल्लक्षण है, नित्य है।** कर्म्म **मृत्युतत्व है, असल्लक्षण है, अनित्य है।** "**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन**" (गी० ९।१९।) के अनुसार **अहं** शब्द वाच्य आत्मा अवश्य ही ज्ञान-कर्म्ममय है। "**शतायुर्वै पुरुषः**" (तै०ब्रा० ३।८।५।३) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य की आयु १०० वर्ष की मानी गई है। इन १०० वर्षों की आयु में ज्ञानकर्म्ममय ईश्वरात्मा का अंशभूत यह जीवात्मा ज्ञान-कर्म्म पर सर्वात्मना अधिकार प्राप्त करने में समर्थ बन जाय, यही इस पुरुषश्रेष्ठ का परम पुरुषार्थ है। शतायु पुरुष के इस पुरुषार्थ को गतार्थ बनाने के लिए ऋषियों नें इस की आयु के ५०-५० वर्षों के दो विभाग कर डाले हैं। कर्म्म स्थूल है, ज्ञान सूक्ष्म है। प्रकट में कर्म्म स्फुट है, ज्ञान अन्तर्लीन है। अतएव '**स्थूलारुन्धति**' न्याय से पहले स्थूल कर्म्ममार्ग हमारे सामने रक्खा गया है, अनन्तर ज्ञानमार्ग का आश्रय लिया गया है।

"**कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येत्–अकर्म्मणि च कर्म्म यः**" (गी० ४।१८।) के अनुसार कर्म्म

में *अकर्म (ज्ञान) व्याप्त है, एवं अकर्म्म (ज्ञान) में कर्म्म व्याप्त है । कर्म्म एवं ज्ञान दोनों अविनाभूत हैं । कर्म बिना ज्ञान के अनुपपन्न है, ज्ञान बिना कर्म्म के अविकसित है । अन्तर दोनों में केवल यही है कि कर्म्ममार्ग में कर्म्म **पुरुषार्थ** है, ज्ञान **क्रत्वर्थ** है । कर्म्म **साध्य** है, ज्ञान **साधन** है । एवं ज्ञानमार्ग में ज्ञान **पुरुषार्थ** है, कर्म्म **क्रत्वर्थ** है । ज्ञान **साध्य** है, कर्म **साधन** है । ज्ञान-कर्म्म के इन्हीं पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ भेदों को लक्ष्य में रख कर ऋषियों नें कर्म्मप्रधान पूर्वायु के ५० वर्षों के भी २५-२५ वर्ष के हिसाब से दो विभाग कर डाले हैं, एवं ज्ञानप्रधान उत्तरायु के ५० वर्षों के भी यही २५-२५ के दो विभाग मान लिए हैं । आरम्भ के २५ वर्ष कर्म्मार्थ ज्ञानसम्पादन के लिए नियत हैं । ब्रह्म **ज्ञान** है । यही पहिला **ब्रह्मचर्याश्रम** है । आगे यह पुरुष जो कर्म्म करने वाला है, तदर्थ ज्ञान सम्पादन करना, कर्म्म करने की योग्यता प्राप्त करना ही इस प्रथमाश्रम का मुख्य उद्देश्य है । २६ से ५० वर्ष पर्यन्त दूसरा विभाग है । यही **गृहस्थाश्रम** है । इस में कर्म्म का अनुष्ठान करते हुए आत्मा के कर्म्म भाग की पूर्णता सम्पादित होती है । आगे की तीसरी पञ्चविंशति (५१ से ७५ पर्यन्त) **वानप्रस्थाश्रम** है । ज्ञान प्राप्ति के लिए जो निवृत्त कर्म्म अपेक्षित है, जो कि निवृत्तकर्म्म **"तपश्चर्या"** नाम से शास्त्रों में प्रसिद्ध है, वानप्रस्थाश्रम में ज्ञानोपयिक इस तपःकर्म्म का ही अनुष्ठान किया जाता है । इस का अनुष्ठान घर में नहीं किया जा सकता, इस के लिए संसार (गृहस्थ) छोड़ना आवश्यक होजाता है । अतएव यह धर्म्म **वन्य** किंवा **आरण्यक** नाम से प्रसिद्ध है । इसी के सम्बन्ध में—**"एकाकी यतचित्तात्मा"** (गी० ६।१०।) यह कहा जाता है । इस के अनन्तर चौथी-पञ्चविंशति (७६ से १०० पर्यन्त) ज्ञानप्रधान **संन्यासाश्रम** है । इस में विशुद्ध ज्ञानचर्या का ही अनुष्ठान किया जाता है । इस अनुष्ठान की सफलता से विशुद्ध ज्ञान का उदय होजाता है, बन्धन मूला हृद्ग्रन्थि टूट जाती है । यही **औपनिषदज्ञान** है, यही **ब्रह्मज्ञान** है, यही विदेहमुक्ति है । ऐसा ही योगी **जीवन्मुक्त** कहलाता है । **आरण्यक** एवं **उपनिषत्** साधन साध्य

*इस अकर्म्म शब्द के व्याख्याताओं नें अनेक अर्थ किए हैं । परन्तु हमारी दृष्टि में यहां अकर्म्म से विशुद्ध ज्ञान ही अभिप्रेत है । इस विषय की विशेष जिज्ञासा रखने वालों को उक्त श्लोक का भाष्य ही देखना चाहिए ।

भाव के अभेद से एक हैं। आरण्यकमूला तपश्चर्या ही उपनिषन्मूला ज्ञानसंपत्ति के उदय का कारण है। यही कारण है कि ऋषियों नें **"बृहदारण्यकोपनिषत्"** इत्यादि रूप से आरण्यक और उपनिषत् का एक साथ व्यवहार करने में कोई हानि नहीं समझी है।

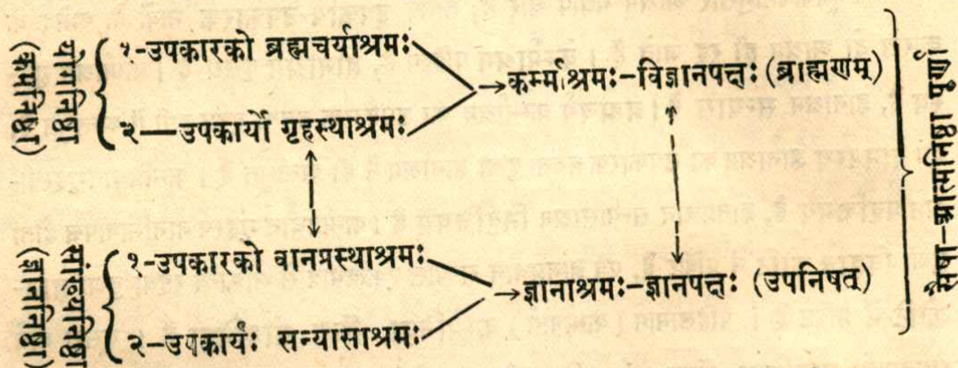
निष्कर्ष यही हुआ कि जो मनुष्य यथाविधि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ, गृहस्थधर्म्म में दीक्षित होकर आश्रमधर्म्मानुकूल कर्म्ममार्ग में प्रवृत्त रहता हुआ, यथा'समय **वानप्रस्थाश्रम** का आश्रय लेता हुआ अन्त में **सन्यासधर्म्म** में दीक्षित हो जाता है, वही **ज्ञानकर्म्ममय आत्मा** की इन दोनों विभूतियों पर विजय प्राप्त करता हुआ उस **अमृतमृत्युमय पूर्णेश्वर** के साथ सायुज्यभाव प्राप्त करने का अधिकार होता है।

पूर्वकथनानुसार आश्रम यद्यपि चार हैं, तथपि **उपकार्य-उपकारक** भावों के अभेद के कारण दो आश्रम ही रह जाते हैं। **कर्म्माश्रम** पहिला है, **ज्ञानाश्रम** दूसरा है। कर्म्माश्रम **गृहस्थ** है, ज्ञानाश्रम **सन्यास** है। **ब्रह्मचर्य** कर्म्माश्रम का उपकारक बनता हुआ इसी में अन्तर्भूत है, एवं **वानप्रस्थ** ज्ञानाश्रम का उपकारक बनता हुआ ज्ञानाश्रम में ही अन्तर्भूत है। कर्म्मप्रधानगृहस्थाश्रम **प्रवृत्तिमय है,** ज्ञानप्रधान सन्यासाश्रम **निवृत्तिमय है**। कर्म्मप्रधान गृहस्थ नानाभावापन्न होता हुआ **विज्ञान कोटि** में प्रविष्ट है, एवं ज्ञानप्रधान सन्यास एकत्वभाव से आक्रान्त रहता हुआ **ज्ञानकोटि** में प्रविष्ट है। पहिलामार्ग (कर्म्ममार्ग) **कर्म्मनिष्ठा,** किंवा **योगनिष्ठा है**। दूसरा मार्ग (ज्ञानमार्ग) **ज्ञाननिष्ठा,** किंवा **सांख्यनिष्ठा है**। इन दोनों निष्ठाओं के समन्वय से ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप विकसित होता है। एक ही आत्मा की दो कलाएं हैं। **"एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति"** (गी० ५।५।) का यही रहस्य है। दोनों मार्ग भिन्न भिन्न हैं, लक्ष्य एक है। एक में सांसारिक अभ्युदय की प्राप्ति है, दूसरे में निःश्रेयसभाव की प्राप्ति है। दूसरे शब्दों में यों भी कहा जा सकता है कि एक में सांसारिक सम्पत्ति का ग्रहण है, दूसरे में इस का परित्याग है। कामनाप्रधान कर्म्मकाण्ड का प्रतिपादक ग्रन्थ **ब्राह्मण** नाम से प्रसिद्ध है, एवं कामनाशून्य ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक शास्त्र **उपनिषत्** नाम से व्यवहृत देखा जाता है।

आश्रमविभागप्रदर्शन

१—ब्रह्मचर्य—ज्ञानमार्ग———→उद्देश्य (क्रत्वर्थज्ञान)—२५ (....)
२—गृहस्थ——कर्म्ममार्ग———→विधेय (पुरुषार्थकर्म्म)—२५ (५०)
३—वानप्रस्थ--कर्म्ममार्ग———→उद्देश्य (क्रत्वर्थकर्म्म)--२५ (७५)
४—सन्यास—ज्ञानमार्ग———→विधेय (पुरुषार्थज्ञान)—२५ (१००)

१–कर्म्मोपकारक ज्ञानप्रधान प्रथमाश्रम (साधनात्मकं ज्ञानम्)–विश्वात्मकं ज्ञानम् ।
२–ज्ञानोपकृत कर्म्मप्रधान द्वितीयाश्रम (साध्यात्मकं कर्म्म)–विश्वात्मकं कर्म्म ।
३–ज्ञानोपकारक कर्म्मप्रधान तृतीयाश्रम (साधनात्मकं कर्म्म)–आत्मोपयिकं कर्म्म ।
४–कर्म्मोपकृत ज्ञानप्रधान चतुर्थाश्रम (साध्यात्मकं ज्ञानम्)–आत्मोपयिकं ज्ञानम् ।



पूर्वप्रतिपादित आश्रमविज्ञान से यह भलीभांति सिद्ध हो जाता है कि औपनिषद ज्ञान के अधिकारी सन्यासी हैं, न कि गृहस्थी। जो महापुरुष सांसारिक बन्धनों को छोड़ कर वन्यधर्म्मों का पालन करने के लिए ज्ञाननिष्ठा की ओर प्रवृत्त हो गए हैं, उन के लिए जहां उपनिषच्छास्त्र महामङ्गलप्रद है, ठीक इस के विपरीत जाया-पुत्र-भृत्य-पशु-संपत्ति आदि सांसारिक परिकरों से युक्त सांसारिक एक गृहस्थी के लिए इस का अध्ययन अमङ्गल की भूमिका है। उपनिषद्विद्या का प्रधान लक्ष्य प्रतिसंचर मूलक मुक्तिभाव है। यह हमारी बुद्धि को स्त्री-पुत्र-सम्पत्ति आदि से पृथक् करती है। विज्ञान-प्रज्ञान आदि खण्ड आत्माओं से हमें अलग करवाती है। "तं यथा

यथोपासते तथैव भवति" (छन्दोग्यउपनिषत्.....) **"श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः"** (गीता.........) इत्यादि **श्रौत-स्मार्त्त** सिद्धान्तों के अनुसार विशुद्ध आत्मा की ओर लेजाने वाला उपनिषच्छास्त्र गृहस्थियों के लिए अवश्य ही अमङ्गल का कारण है। सन्यासधर्म्मोपयिक उपनिषदों का अध्ययन हम गृहस्थियों के लिए अवश्य ही अहितकर है।

तो क्या उपनिषदों का अध्ययन छोड़दें? ऋषि उत्तर देते हैं नहीं। हम तुम्हें एक ऐसा उपाय बतलादेते हैं कि गृहस्थाश्रम में प्रतिष्ठित रहते हुए भी तुम उपनिषदामृत का पान कर सकते हो। वह उपाय है—**उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गलपाठ करना**। मंगल से उपनिषज्जनित अमङ्गल एकान्ततः दूर हो जायगा।

प्रज्ञा-प्राण-भूत-भेद से अध्यात्मसंस्था में तीन शरीरों की सत्ता मानी गई है। दूसरे शब्दों में **शरीरत्रयी** का ही नाम अध्यात्मसंस्था है। प्रज्ञामात्रा **कारणशरीर है,** प्राणमात्रा **सूक्ष्म-शरीर है,** एवं भूतमात्रा **स्थूलशरीर** है। कारणशरीररूप आत्मा **मनःप्रधान** बनता हुआ आयुमय है, सूक्ष्मशरीर **प्राणमय** बनता हुआ **इन्द्रियप्रधान** है, एवं तीसरा स्थूलशरीर **वाक्प्रधान** बनता हुआ **रसासृङ्मांसमेदअस्थिमज्जामय** है। साथ ही में यह स्मरण रखना चाहिए कि उक्त तीनों शरीरों में से तीसरे स्थूलशरीर में ही जाया-प्रजा आदि बहिर्वित्तों का अन्तर्भाव है। इन तीनों शरीरों के आरम्भक जहां क्रमशः **प्रज्ञा-प्राण-भूत** हैं, वहां इन तीनों के उपकारक, किंवा मूलाधार क्रमशः **इन्द्र-वायु-अग्नि** देवता हैं। **स्तौम्यत्रिलोकी** रूपा महापृथिवी में **त्रिवृत्स्तोमा**वच्छिन्न (९) पार्थिव प्रदेश **पृथिवीलोक** है। इस के अधिष्ठाता **अग्नि** हैं। यह अग्नि भूतमात्राप्रधान बनता हुआ **अर्थ-तत्व** है। यही स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। **पञ्चदशस्तोमा**वच्छिन्न (१५) पार्थिव प्रदेश **अन्त-रिक्षलोक** है। इस के अतिष्ठाता देवता वायु हैं। यह वायु प्राणमात्राप्रधान बनता हुआ **क्रियातत्व** है। यही सूक्ष्मशरीरकी मूलप्रतिष्ठा है। **एकविंशस्तोमा**वच्छिन्न (२१) पार्थिव प्रदेश द्युलोक है, इस के शासक **मघवा** नाम के सौर **इन्द्र** देवता हैं। यह इन्द्र प्रज्ञाप्रधान बनता हुआ **ज्ञान**तत्व है, यही कारणशरीर की प्रतिष्ठा है।

१—प्रज्ञामात्रा—आत्मविवर्त्त—ज्ञानप्रधान—एकविंश—इन्द्रः—कारणशरीरम्
२—प्राणमात्रा—देवविवर्त्त—क्रियाप्रधान—पञ्चदश—वायुः—सूक्ष्मशरीरम्
३—भूतमात्रा—भूतविवर्त्त—अर्थप्रधान—त्रिवृत—अग्निः—स्थूलशरीरम्

पार्थिव अग्नि **ऋग्वेद** की मूल प्रतिष्ठा है। आन्तरिक्ष्य वायु **यजुर्वेद** का मूलाधार है। दिव्यलोकस्थ इन्द्र, किंवा आदित्य **सामवेद** की आलम्बनभूमि है। इन तीनों लोकों का, एवं तीनों लोकों के अधिष्ठाता अग्नि-वायु-इन्द्र तीनों देवताओं का प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूप चौथा सोमलोक (पारमेष्ठ्य लोक) **अथर्वा** है। यह अथर्वाब्रह्म (सोम) ही पार्थिव अग्नि में आहुत होकर घन-तरल-विरल भेद से एक ही पार्थिव अग्नि के अग्नि-वायु-इन्द्र यह तीन विभाग कर डालता है, जैसा कि प्रज्ञानात्मप्रतिपादिका **केनोपनिषत्** में विस्तार से बतलाया गया है। ऐसी स्थिति में सोमरूप, अतएव अन्नात्मक अथर्वब्रह्म का अन्नादरूपा अग्नित्रयी से अवच्छिन्ना वेदत्रयी में ही अन्तर्भाव मान लेना न्यायसङ्गत है।

अग्नि-वायु-रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थं **ऋग-यजुः-साम**लक्षणम् ॥ (मनुः१।२२।)

इस मानव सिद्धान्त के अनुसार अग्नि-वायु-रवि से ही क्रमः **ऋक्-यजुः-साम** का प्रादुर्भाव हुआ है। इन तीनों में से क्रमशः अग्निमय पार्थिव ऋग्वेद, किंवा ऋङ्मय अग्नि का स्थूलशरीर के साथ सम्बन्ध है। स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा ऋग्वेद ही है। प्रत्येक वस्तुपिण्ड अग्निमय है। दूसरे शब्दों में जिन स्थूल पिण्डों का हम अपने चर्म्मचक्षुओं से प्रत्यक्ष कर रहे हैं, वे सब अग्निप्रधान हैं। इसी आधार पर—**"यच्च किञ्चिद्दार्ष्टिविषयकमग्निकर्म्मैव तत्"** (यास्कनि० दै०७।८।२।) यह नैगमिक सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। आन्तरिक्ष्य वायुमय यजुर्वेद, किंवा यजुर्मय वायु का सूक्ष्मशरीर के साथ सम्बन्ध है। सूक्ष्मशरीर की मूलप्रतिष्ठा यजुर्वेद ही है। यजु में **यत्-एवं जू** दो तत्व हैं, जैसा कि तीसरे प्रकरण में स्पष्ट होगा। इन दोनों में **यत्तत्व** ही गतिमत प्राण है। यही प्राणमात्रा का स्वरूपसमर्पक है। यही सूक्ष्मशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। तीसरे आदित्यमय

सामवेद, किंवा साममय आदित्य का कारणशरीर के साथ सम्बन्ध है। सामवेद ही कारण शरीर की मूलप्रतिष्ठा है। आदित्य ही कारणशरीररूप आयु का जनक है। आयु ही आत्मसंस्था की प्रतिष्ठा है। इसी आधार पर—"सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च" (यजुःसं० १३।४६।) यह कहा गया है।

१—रवि :———दिव्यः——साममयः—कारणशरीरसञ्चालकस्तत्प्रतिष्ठा च।

२—वायु :——आन्तरिक्ष्यः——यजुर्मयः—सूक्ष्मशरीरसञ्चालकस्तत्प्रतिष्ठा च।

३—अग्निः———पार्थिवः——ऋङ्मयः—स्थूलशरीरप्रवर्त्तकस्तत्प्रतिष्ठा च।

उक्त कथन से यह भी भलीभांति सिद्ध होजाता है कि ऋग्वेद की जितनीं भी उपनिषदें हैं, उन सब के अध्ययन से जो अमङ्गल होता है, उस का विशेष प्रभाव ऋङ्मूर्त्ति स्थूलशरीर पर ही पड़ता है। यजुर्वेद की उपनिषदों से होने वाला अमङ्गल यजुर्मय सूक्ष्मशरीर में क्षोभ उत्पन्न करता है। एवं सामोपनिषज्जनित अमङ्गल साममय कारणशरीर की अशान्ति का कारण बनता है। इन तीनों शरीरों पर होने वाले अमङ्गलों को शान्त करने के लिए उस कर्म्म से आद्यन्त में मङ्गल-पाठ होता है। ऋग्वेदीया उपनिषदों में प्रधानरूप से मंगल द्वारा स्थूलशरीर के मंगल की कामना की जाती है। यजुर्वेदीया उपनिषदों में प्रधानरूप से सूक्ष्मशरीर को आपत्ति से बचाया जाता है। एवं सामवेदीया उपनिषदों में कारणशरीर की रक्षा के लिए मङ्गलपाठ किया जाता है। अथर्व में पूर्वकथानुसार तीनों वेदों का उपभोग है। अतएव अथर्ववेदीया उपनिषदों में स्थू०सू०का० इन तीनों की शान्ति के लिए प्रार्थना की जाती है। कारण अथर्वा सोम तीनों शरीरों में व्याप्त है। **"सर्वं हीदं ब्रह्मणा (अथर्ववेदेन) हैवसृष्टम्"** (तै० ब्रा० १२।६।२) के अनुसार अथर्वा ही तीनों की प्रतिष्ठा है। उदाहरण के लिए **"पिप्पलादोपनिषत्"** नाम से प्रसिद्ध **प्रश्नोपनिषत्** के मङ्गलपाठ को ही अपने सामने रखिए। यह अथर्ववेद की उपनिषत् है। इस का मङ्गलपाठ निम्न लिखितरूप से हमारे सामने आता है—

"ओ३म् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः, व्यशेम देवहितं यदायुः"। (प्र०उ०१।१)

'हे (आग्नेयप्राणप्रधान) देवताओ! (हम अपनें) कानों से सदा मंगल वचन ही सुनते रहें। हे यजन करने वाले यज्ञिय देवताओ (हम अपनी) आंखों से सदा मङ्गलभाव ही देखा करें। स्थिर एवं दृढ़ अङ्गों से युक्त शरीरों से (हम) सदा युक्त रहें, एवं जो देवहित (देवताओं में प्रतिष्ठित) आयु है, उसे सुखपूर्वक (निर्विघ्न) भोगने में समर्थ बनें"—यह है उक्त मङ्गलपाठ का अक्षरार्थ।

ज्ञान-क्रिया-अर्थतत्वप्रतिपादक वैदिक साहित्य में ज्ञानप्रधान उपनिषदों की भाषा ऐसी संक्षिप्त है, जिस का कोई ठिकाना नहीं। एक एक शब्द में उन ज्ञानमूर्ति महर्षियों नें गभीरतम तत्वों का समावेश किया है। उपनिषत् के प्रत्येक अक्षर में कुछ न कुछ गुहानिहित रहस्य रहता है। प्रत्येक शब्द भावप्रधान है। पूर्व मन्त्र में—"कर्णेभिः" के सम्बन्ध में "देवाः" कहा गया है। "अक्षभिः" के सम्बन्ध में "यजत्राः" का सन्निवेश किया गया है। "अग्निः सर्वा देवताः" (ऐ०ब्रा०२।३)—"सोमः सर्वा देवताः" (तै०ब्रा०३।२।४।३।) के अनुसार अग्नि और सोम दोनो सर्वदेवता हैं। इतर सम्पूर्ण देवताओं का इन आग्नेय, एवं सौम्य-देवताओं में अन्तर्भाव है। आग्नेय देवता अग्नि-वायु-आदित्य इन तीन भागों में विभक्त हैं, एवं सौम्य देवता दिक्सोम, भास्वरसोम भेद से दो भागों में विभक्त हैं। संभूय आग्नेय, वायव्य, आदित्य, दिक्सौम्य, भास्वरसौम्य भेद से देवता पांच प्रकार के हो जाते हैं। इन पाचों प्राकृतिक (आधिदैविक) प्राणदेवताओं से क्रमशः वाक-प्राण-चक्षु-*श्रोत्र-मन इन पांच इन्द्रियों का निर्म्माण होता है। यही पांचों आध्यात्मिक देवता हैं। वागिन्द्रिय साक्षात् अग्निदेवता है। प्राणेन्द्रिय (घ्राणेन्द्रिय) वायुदेवता है। चक्षुरिन्द्रिय आदित्यदेवता है। श्रोत्रेन्द्रिय का दिक्सोम से सम्बन्ध है। एवं मन की प्रतिष्ठा भास्वरसोम है। इसी इन्द्रियविज्ञान को लक्ष्य में रख कर उपनिषच्छ्रुति कहती है—

* दिक्सोम ही पवित्रसोम है, दूषितभाव को दूर करना इस का मुख्य काम है। यज्ञोपवीत कान पर क्यों चढ़ाया जाता है? इस प्रश्न का उत्तर यही दिक्सोम नाम का पवित्र पारमेष्ठ्य ब्रह्मणस्पति सोम है।

१—"अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्" ।
२—"वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्" ।
३—"आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्" ।
४—"दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशत्" ।
५—"चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्" । (ऐ० उ०२।४।) ।

प्राकृतिक नित्य संवत्सर यज्ञ में अग्नि होता हैं, वायु अध्वर्यु हैं, आदित्य उद्गाता हैं, एवं सोम (चन्द्रमा) ब्रह्मा हैं । होता ऋङ्मूर्त्ति है, वायु यजुर्मूर्त्ति है, उद्गाता साममूर्त्ति है । ब्रह्मा अथर्वमूर्त्ति है । होता शस्त्रकर्म्म का, अध्वर्यु ग्रहकर्म्म का, एवं उद्गाता स्तोत्रकर्म्म का अधिष्ठाता है । यह तीन ही ऋत्विक् प्रधानरूप से यज्ञकर्म्म के सम्पादक हैं । चौथा अथर्वमूर्त्ति ब्रह्मा केवल निरीक्षण करते हैं । दूसरे शब्दों में ब्रह्मा यजन नहीं करते, अपितु वे तटस्थ देवता हैं । काम करने वाले केवल अग्नि-वायु-आदित्य देवता ही हैं । ऐसी अवस्था में हम मङ्गलमन्त्रोक्त यजत्रा शब्द से इन तीनों देवताओं का ही ग्रहण कर सकते हैं । यही अवस्था अध्यात्मिक यज्ञ की समझिए । अग्निमयी वाक् होता है, वायुमय प्राण अध्वर्यु है, आदित्यमय चक्षु उद्गाता है, सोममय मन ब्रह्मा है । दिक्सोम व्यापक है । इसी का प्रवर्ग्यभाग सायतन बन कर सौरप्रकाश से प्रकाशित होता हुआ भास्वरसोम नाम से प्रसिद्ध हो जाता है । ऐसी अवस्था में दिक्सोम से भास्वरसोम का ग्रहण करने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती । फलतः—'भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः" इस मन्त्रभाग का—"हे सौम्यदेवताओ ! मैं कान से अच्छा सुनूं, एवं मन से शुभभावना करूं" यह अर्थ हो जाता है । आदित्य ज्ञानप्रधान है, वायु क्रियाप्रधान है, अग्नि अर्थप्रधान है । ज्ञान पूर्वज है, अर्थ-क्रिया अपरज हैं । ज्ञान ही बलग्रन्थियों के तारतम्य से ज्ञान-क्रिया-अर्थरूप से तीन स्वरूप धारण कर लेता है । ऐसी अवस्था में ज्ञानमूर्त्ति आदित्यमय चक्षु से हम क्रियामूर्त्ति वायुमय प्राण, एवं अर्थमूर्त्ति अग्निमयी वाक् इन दोनों का ग्रहण कर सकते हैं । वाक् अर्थप्रधाना है, प्राण क्रियाप्रधान है, चक्षु ज्ञानप्रधान है । चक्षु से पदार्थों का ज्ञान होता है । प्राणद्वारा श्वास-प्रश्वासरूपा क्रिया का सञ्चार होता है । वाक्द्वारा अन्न साधन से

अर्थनिष्पत्ति होती है। ऋषि को इन तीनों का ग्रहण अभीष्ट था, इसी लिए 'अक्षभिः' कहा है। "भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः" का अर्थ है—"हे यजन करने वाले (आग्नेय) देवताओ! मैं आंख से ठीक ठीक ज्ञान सम्पादन करने में, प्राण से क्रियासञ्चालन में, एवं वाक् से **अर्थसंग्रह में समर्थ बनूं"।**

उक्त अर्थ के सम्बन्ध में प्रश्न उपस्थित होता है कि जब **केनोपनिषदादि** में ऋषियों नें पांचों इन्द्रियों का पृथक् पृथक् निर्देश किया है तो ऐसी अवस्था में यदि प्रकृत मङ्गलमन्त्र में भी उन्हें सभी इन्द्रियों का ग्रहण अभीप्सित था तो इस लाघव की क्या आवश्यकता थी? क्यों नहीं उन्हों नें सभी इन्द्रियों का उल्लेख कर दिया? प्रश्न यथार्थ है। सभी इन्द्रियों के नामोल्लेख में कोई हानि नहीं थी, अपितु लाभ था। सरलता से विषय समझ में आसकता था। ऐसा न करके ऋषि ने जो द्रविड़ प्राणायाम किया है, इस मे भी कुछ रहस्य है। ऋषि का प्रधान उद्देश्य मङ्गलकामना है, न कि इन्द्रियस्वरूपनिरूपण। संसार मे जो मनुष्य अच्छा देखता है, एवं अच्छा सुनता है, उस का जीवन मंगलमय है। मंगल एवं अमङ्गल दोनों भाव प्रधानरूप से देखने-सुनने पर निर्भर हैं। **"न मैं उसे देखना चाहता, न उस के सम्बन्ध में कुछ सुनना ही चाहता"** इत्यादि शक्तिग्राहक शिरोमणि लौकिक व्यवहारों से हम **श्रवण-दर्शन** की ही प्रधानता पाते हैं। इसी सामान्य विज्ञान को लक्ष्य में रख कर उक्त मङ्गल मन्त्र में केवल दो ही इन्द्रियों का उल्लेख किया गया है। परन्तु साथ ही में ग्रहण अभीष्ट है पांचों का। वह काम—**'कर्णेभिः'-'अक्षभिः'** से हो जाता है। पञ्चेन्द्रिय की समष्टि ही सूक्ष्म शरीर है। पूर्वार्द्धभाग प्राणरूप (पञ्चेन्द्रिय प्राण-रूप) **सूक्ष्मशरीर** की ही मंगल कामना करता है।

"स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः" यह मन्त्र भाग स्पष्टरूप से ही **स्थूलशरीर** की मङ्गल कामना की ओर हमारा ध्यान आकर्षित कर रहा है। एवं—**"व्यशेम देवहितं यदायुः"** यह चतुर्थभाग आयुमय **कारणशरीर** की मंगल कामना कर रहा है। इस प्रकार इस मन्त्र से तीनों की मंगलकामना सिद्ध हो जाती है। पिप्पलाद उपनिषत् की तरह **मुण्डक, माण्डूक्य, अथर्वशिर,**

अथर्वशिखा, बृहज्जाबाल, नृसिंहतापनी, नारद, परिव्राजक आदि अथर्ववेद की जितनीं भी उपनिषदें हैं, सब के आद्यन्त में उक्त मंगल मन्त्र की ही आराधना की गई है।

पञ्चप्राणाः

"भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः
भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः"

१—वाक्—अग्निः (ऋङ्मयो ज्ञानमूर्त्तिः)-होता
२-प्राणः—वायुः (यजुर्मयः क्रियामूर्त्तिः)-अध्वर्युः } आग्नेया देवाः
३-चक्षुः-आदित्यः (साममयोऽर्थमूर्त्तिः)-उद्गाता

४-श्रोत्रम्—दिक्सोमः
५-मनः—भास्वरसोमः } त्रयीमयः सर्वमूर्त्तिः-ब्रह्मा, } सौम्या देवा

} प्राणमयं सूक्ष्मशरीरम्

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिः—अङ्गयुक्तं—वाङ्मयं }———→स्थूलशरीरम्

व्यशेम देवहितं यदायुः———आयुयुक्तं—मनोमयं }———→कारणशरीरम्

———:o:———

त्रयीमूर्त्ति अथर्ववेद से सम्बन्ध रखनें वालीं उपनिषदों के मंगल का विचार समाप्त हुआ। अब ऋग्वेद की उपनिषदों के मंगल का विचार प्रस्तुत है। ऋग्वेद अग्निप्रधान होता हुआ अर्थ-मूर्त्ति है, यही स्थूलशरीर का स्वरूप समर्पक है, जैसा कि पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा-चुका है। इस से यह मान लेना पड़ता है कि ऋग्वेद की जितनीं भी उपनिषदें हैं, उन सब के अध्ययन से प्रधानरूप शे स्थूलशरीर पर ही आघात होता है। इस आघात से बचने के लिए ऋगुपनिषदों के आद्यन्त में मंगलद्वारा स्थूलशरीर की ही मङ्गल कामना की जाती है। ऐतरेय, कौषीतकि, नादविन्दु, आत्मप्रबोध, निर्वाण, मङ्गल, अक्षमालिका, त्रिपुरा, सौभाग्य नामों से प्रसिद्ध ऋग्वेद के १० सों उपनिषदों के मंगल का निम्न लिखित स्वरूप हमारे सामने आता है।

"वाङ्मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम् ।
आविरावीर्म एधि ॥
वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः ।
अनेनाधीतेनाऽहोरात्रान् संदधामि ॥
ऋतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि, तन्मामवतु ।
तद्वक्तारमवतु, अवतु मां, अवतु वक्तारं, अवतु वक्तारम् ।
ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्ति !!!"

"(मेरी) वाक् मेरे मन में प्रतिष्ठित रहै, (मेरा) मन मेरी वाक् में प्रतिष्ठित रहे। यह दोनों ही (मनो वाक्) तत्व (उत्तरोत्तर) प्रकट रहते हुए मेरे लिए समृद्धि का कारण बनें। वेद के सम्बन्ध में मन वाक् आणी स्थानीय बनें। मेरा सुना हुआ (यह औषनिषद) विषय मुझे न छोड़ै। इस अपने पढ़े हुए विषय से मैं अहोरात्रों को (परस्पर में) संहित करता रहूं (मिलाता रहूं)। मैं ऋत (अकुटिल-प्रिय) बोलूंगा। (इस प्रिय सत्य भाषण के बल से) वह देवता मेरी रक्षा करैं, वक्ता की रक्षा करैं, रक्षा करैं मेरी, रक्षा करैं वक्ता की, रक्षा करैं वक्ता की" यह है मन्त्र का अक्षरार्थ।

इस मन्त्र के उपक्रम में एव उपसंहार में वाग्व्यापार को प्रधानता दी गई है। यह पूर्व में विस्तार के साथ बतलाया जा चुका है कि स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा वाक्तत्व ही है। वाक् और मन दोनों आ परस्पर में घनिष्ठ सम्बन्ध है। बिना मन के वाक् अपना व्यापार कर ने में असमर्थ है, साथ ही में बिना वाक् को द्वार बनाए मन भी अपने भावों को प्रकट करने असमर्थ ही रहता है। इस प्रकार मन और वाक् दोनों एक दूसरे में प्रतिष्ठित होकर ही अध्ययनकर्म्म सम्पादन करते हैं। अध्ययनकर्म्म प्राणप्रधान है। प्राण मनोवाक् की वर्त्तनी में प्रतिष्ठित होकर ही विकसित होता है। श्रुत विषय प्राणप्रधान है। इस प्रकार यद्यपि मन्त्र **वाक्-मन-श्रुत** इन तीन शब्दों से

मन प्राण-वाक् तीनों की ही मंगल कामना करता हुआ प्रतीत होता है। तथापि मन्त्र के आरम्भ में भी **"वाङ्मे०"** इत्यादि रूप से वाक् की ही प्रधानता है, एवं **"अवतु वक्तारम्"** इत्यादि रूप से उपसंहार में भी वाक् को ही प्रधानता दी गई है। मध्य में भी **"अहोरात्रान्सन्दधामि"** इत्यादिरूप से वाक् को ही मुख्य माना गया है। वाक् के परिप्लव को ही अहोरात्र कहा जाता है। अहोरात्र का वषट्कार के साथ ही सम्बन्ध है, एवं वाङ्मय मण्डल का ही नाम वषट्कार है। **"वाग्वै वषट्कारः"** (शत०१।७।२।२१)-**"वाग्रेतः, ऋतवो वै षट्, तदृतुष्वेवैतद्रेतः सिच्यते"** (श०१।७।२।२१) **"एते ह वै संवत्सरस्य चक्रे यदहोरात्रे"** (ऐ०ब्रा०५।३०) इत्यादि श्रुतिएं संवत्सर के अवयव-रूप अहोरात्रों को वाग्रेतोमय ही बतला रहीं हैं। वैदिक विज्ञान हमें प्राप्त करना है। यह एक प्रकार का रथ है। जिस प्रकार रथ पर चढ़ने के लिए *"**आणी**" का आश्रय लेना पड़ता है, एवमेव वैदिक विज्ञान को प्राप्त करने के लिए मन एवं वाक् का आश्रय लेना पड़ता है। इसीलिए **"वेदस्य म आणीस्थः"** इत्यादि रूप से मन वाक् को वेद का आणी कहा गया है। **"जैसा बोलो वैसा करो"** इस कर्मसत्य को **"ऋत"** कहा जाता है। एवं **"जैसा करो वैसा बोलो"** इस वाणी-सत्य को **"सत्य"** कहा जाता है। कर्मसत्य का मन से सम्बन्ध है, वाणीसत्य का वाक् से सम्बन्ध है। चूंकि वेदाध्ययन में मन वाक् दोनों अपेक्षित हैं, अतएव–**"ऋतं वदिष्यामि-सत्यं वदिष्यामि"** यह कहा है। दोनों में **"वदिष्यामि"** रूप से प्रधानता वाग्व्यापार की ही रक्खी गई है। क्योंकि प्रकृतमन्त्र का मुख्य लक्ष्य वाङ्मय स्थूलशरीर ही है। वाक्प्रधान ऋगुपनिषदों के अध्ययन से वाक् (स्थूलशरीर) पर आघात होता है। अतः सर्वान्त में श्रोता और वक्ता के वाक् भाव की ही मंगल कामना की है। श्रोता की अपेक्षा वक्ता का वाक्भाग ही अधिक खर्च होता है। अतएव उपसंहार में एवं उपक्रम में वक्ता की विशेषरूप से मंगल कामना की गई है। वाक्व्यापार का स्थूलशरीर से सम्बन्ध है, इस में प्रत्यक्ष प्रमाण शब्दोत्पत्तिविज्ञान ही है।

आत्मा बुद्ध्यासमेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहत्य स प्रेरयति मारुतम् ॥ (पा०शि०)

---

*रथ के दोनों पहियों की धुरी के कीलक में दोनों ओर जो एक धनुषाकार लकड़ी लगी रहती है, जिस पर पैर रख कर रथ पर चढ़ा जाता है, उसी का नाम **"आणी"** है।

इत्यादि **शिक्षाविज्ञान** के अनुसार हृदयस्थ मन की प्रेरणा से शारीराग्नि पर आघात होता है। आहत अग्नि ही वायुद्वारा धक्का खाकर मुख से निकलता हुआ शब्दरूप में परिणत होता है। इसी आधार पर "**अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्**" यह सिद्धान्त प्रतिष्ठित है। अग्नि ऋङ्मय है, यही स्थूलशरीर की प्रतिष्ठा है, यही वाक् है। फलतः वाक्-प्रपञ्च की मङ्गल कामना से स्थूलशरीर की मङ्गल कामना गतार्थ हो जाती है।

ईशावास्य, बृहदारण्यक, जाबाल, हंस, परमहंस, सुबाल, मन्त्रिका आदि **शुक्ल-यजुर्वेदीय** जितनीं भी उपनिषदें हैं, उन सब के अध्ययन से यजुःप्राणमय प्राणमात्रा प्रधान "**सूक्ष्मशरीर**" के ऊपर आघात होता है। इस आघात से रजोगुणप्रधान सूक्ष्मशरीर को बचाने के लिए इन यजुर्वेदीय उपनिषदों के आद्यन्त में निम्न लिखित मङ्गलपाठ का विधान है।

"ओं पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥"

मनोमय कारण शरीर पर **अव्ययपुरुष** का अनुग्रह है, प्राणमय सूक्ष्मशरीर पर **अक्षर पुरुष** का, एवं वाङ्मय स्थूलशरीर पर **क्षरपुरुष** का अनुग्रह है। दूसरे शब्दों में ज्ञानघन अव्ययपुरुषावच्छिन्न **मन** कारणशरीर की, प्राणघन अक्षरपुरुषावच्छिन्न प्राण सूक्ष्मशरीर की, एवं अर्थघन क्षरपुरुषावच्छिन्ना **वाक्** स्थूलशरीर की मूलप्रतिष्ठा है। उस ओर मन है, इस ओर वाक् है, मध्य में प्राण है। उस ओर अव्यय है, इस ओर क्षर है, मध्य में अक्षर है। उस ओर ज्ञान है, इस ओर अर्थ है, मध्य में क्रिया है। उस ओर आदित्य है, इस ओर अग्नि है, मध्य में वायु है। उस ओर साम है, इस ओर ऋक् है, मध्य में यजु है। "**ऋक्सामे यजुरपीतः**"। उस ओर कारणशरीर है, इस ओर स्थूल शरीर है, मध्य में सूक्ष्मशरीर है। ज्ञानमय अव्यय, मन, आदित्य, साम, कारणशरीर सब निष्क्रिय हैं। अर्थमयी वाक्, अग्नि, ऋक्, स्थूलशरीर सब जड़ हैं। मध्य-पतित क्रियामय प्राण, वायु, यजु, कारणशरीर ही सर्वज्ञ-सर्ववित्, सर्वशक्ति बनते हुए सर्वमूर्त्ति

हैं, पूर्णमूर्त्ति हैं। मध्यस्थ अक्षर उस ओर से अव्यय के ज्ञान को लेकर सर्वज्ञ बनता है, इस ओर से क्षर के अर्थ को लेकर सर्ववित् बनता है, एवं अपने प्रातिस्विक रूप से वह सर्वशक्तिमान् है। इस प्रकार मध्यस्थ अक्षर दोनों से सम्बन्ध करने के कारण त्रिपुरुषविभूतियुक्त बनता हुआ सचमुच पूर्णमूर्त्ति बना हुआ है। अक्षरग्रहण से सब कुछ ग्रहीत है। अक्षर की इसी पूर्णता को लक्ष्य में रख कर कठश्रुति कहती है—

*एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म[1] एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत ॥ (कठोपनिषत्)

अव्ययपुरुषः ——→	अक्षरपुरुषः	←—— क्षरपुरुषः
मनः ——→	प्राणः	←—— वाक्
ज्ञानम ——→	क्रिया	←—— अर्थः
आदित्यः ——→	वायुः	←—— अग्निः
सामवेदः ——→	यजुर्वदः	←—— ऋग्वेदः
कारणशरीरम ——→	सूक्ष्मशरीरम	←—— स्थूलशरीरम

उक्त परिलेख से पाठकों को यह मान लेना पड़ेगा कि मध्यपतित प्राणमूर्त्ति सूक्ष्मशरीर इधर उधर की दोनों सम्पत्तियों से संश्लिष्ट रहने के कारण अवश्य ही कारण-स्थूलशरीरों की अपेक्षा सर्वमूर्त्ति बनता हुआ पूर्णमूर्त्ति है। इस पूर्णरूप सूक्ष्मशरीर को आघात से बचाने के

*इस विषय का विशद विवेचन कठविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

१—"ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्" के अनुसार ब्रह्मशब्द क्षर का वाचक है, पर शब्द अव्यय का वाचक है। अक्षर क्षर सम्बन्ध से ब्रह्म है, अव्यय सम्बन्ध से पर है। दोनों के कारण अक्षर ज्ञानाक्रियार्थमूर्त्त बनता हुआ सर्वमूर्त्ति बन रहा है, यही तात्पर्य है।

लिए ऋषि प्रार्थना करते हैं कि—"वह (ईश्वरीयप्रपञ्च) पूर्ण है, यह (जीवप्रपञ्च) पूर्ण है। उस पूर्ण से यह पूर्ण उदक्त हुआ है। उस पूर्ण की पूर्ण विभूति को लेने से पूर्ण ही बचजाता है।" मंगल का तात्पर्य यही है कि सूक्ष्मशरीर उस पूर्ण की विभूति है। भला उस पूर्ण की इस पूर्ण विभूति का भी कभी अमंगल हुआ है। वह यदि पूर्ण होने से नित्य मंगलमूर्त्ति है तो यह भी पूर्ण होने से मङ्गलमूर्त्ति ही बना रहे।

आकाश गत वायुतत्व का ही नाम यजु है। यह वायुतत्व अदिति-दिति भेद से दो भागों में विभक्त है। पृथिवी का वह अर्द्धभाग जो कि सूर्य्य की ओर रहता है, अदिति है। यह ज्योतिर्म्मय है। सूर्य्यविरोधी तमोमय पार्थिव अर्द्धमण्डल दितिमण्डल है। अदितिमण्डल में व्याप्त वायुमूर्त्ति यजु शुक्ल आदित्य के सम्बन्ध से 'शुक्लयजुर्वेद' है। इसी के साथ सौम्यत्रिलोकी का सम्बन्ध है। अर्थ-क्रिया-ज्ञानमूर्त्ति अग्नि-वायु-आदित्य की पूर्णविभूतियों का इसी के साथ सम्बन्ध है। अतएव इस के सम्बन्ध में पूर्व प्रतिपादित-पूर्णतालक्षण मङ्गलपाठ किया जाता है। दितिमण्डल में व्याप्त वायुमूर्त्तियजु कृष्णा दिति के सम्बन्ध से "कृष्णयजुर्वेद" है, जैसा कि "क्या उपनिषत् वेद है"? इस प्रश्न की मीमांसा में विस्तार के साथ बतलाया जानेवाला है। यह वेद अपूर्ण है। कठ, तैत्तिरीय, ब्रह्म, कैवल्य, श्वेताश्वतर, गर्भ, अमृतविन्दु इत्यादि कृष्णयजुर्वेदीय उपनिषदों के आद्यन्त में तमोगुणप्रधान सूक्ष्मशरीर की मंगल कामना के लिए निम्न लिखित मङ्गलमन्त्र का विधान है।

"ओं सहनाववतु, सहनौ भुनक्तु, सह वीर्यं करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै॥
ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!

शरीर भोगायतन है, सूक्ष्मशरीर भोक्ता है। जिसके सूक्ष्मशरीर में पार्थिव तमोगुण की प्रधानता रहती है, उस का यह शरीर भोगलिप्सा में रत रहता है। ऋषि-आदेश करते हैं कि भोग-भोगना हानिकर नहीं है, परन्तु स्वार्थपरायणता नाश का

कारण है तुम मिलजुज कर एक दूसरे का हितसाधन करते हुए भोग भोगो। एक दूसरे की रक्षा करो। संगठन द्वारा वीर्य्य का आधान करो। तेजस्वी बनो। आपस में द्वेष मत करो। ऐसा करने से तुम्हारा सूक्ष्मशरीर (अन्तःकरण) पवित्र होगा, सबल बनेगा। फलतः कृष्णोपनिषत् के अध्ययन से होने वाले अमङ्गल से तुम्हारी रक्षा होगी।

केन, छान्दोग्य, मैत्रायणी, योगचूड़ामणि, जाबाल आदि सामवेदीय उपनिषदों के अध्ययन से साममय कारणशरीर पर आघात होता है। इस आघात से बचने के लिए उक्त उपनिषदों के आद्यन्त में निम्न लिखित मङ्गलमन्त्र का स्मरण नितान्त अपेक्षित है—

"ओं आप्याययन्तु ममाङ्गानि-वाक्प्राणश्चक्षुःश्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च
सर्वाणि सर्वं, ब्रह्मोपनिषदं, माहं ब्रह्म निराकुर्याम्।
मा मा ब्रह्म निराकरोत्।
अनिराकरणं मेऽस्तु, अनिराकरणं मेऽस्तु।
तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्म्मास्ते मयि सन्तु, ते मयि सन्तु।
ओं शान्तिः! शान्तिः!! शान्ति!!!"

"मेरे अंग परिपूर्ण हों। वाक्, प्राण, चक्षुः, श्रोत्ररूप ज्ञानप्रधान इन्द्रियाँ मुख्य-प्राण सम्बन्धी बल, हस्तपादादि कर्म्मेन्द्रियाँ सब परिपूर्ण हों। ब्रह्म की सभी उपनिषदें परिपूर्ण हों। मैं ब्रह्मविभूति को न निकालदूं। ब्रह्म मुझे न छोड़ बैठे। मेरे लिए उक्त सब विभूतियों का अनिराकरण हो, अनिराकरण हो। आत्मचिन्तन करने में उपनिषदों में जो धर्म्म हैं, वे मुझ में प्रतिष्ठित हों, प्रतिष्ठित हों"।

आयु की रक्षा उक्त सभी पर्वों की रक्षा पर निर्भर है। स्थूलशरीर-सूक्ष्मशरीर दोनों जब पूर्ण-रूप से सुरक्षित रहते हैं, तभी आयुर्लक्षण कारणशरीर स्व-स्वरूप से सुरक्षित रहता है। इसी

अभिप्राय से अङ्गात्मक स्थूलशरीर, एवं इन्द्रियात्मक सूक्ष्मशरीर की भी मङ्गलकामना की गई है। प्रधान लक्ष्य ज्ञानमूर्त्ति ब्रह्म ही है। "ब्रह्म (कारणशरीररूप आयुर्म्मय आत्मा) मुझे न छोड़ बैठे" इत्यादिरूप से कारणशरीर की ही मंगलकामना की गई है।

— —*— —

आत्मज्ञानोपयिक उपनिषत्–पाठ से सांसारिक विभूति पर आघात होता है। एक गृहस्थी के लिए अमङ्गल का यह पहिला, एवं मुख्य कारण है। इसके अतिरिक्त प्रकरण के आरम्भ में बतलाए गए **"श्रेयांसि बहु विघ्नानि"** इस स्वतः सिद्ध आसुरभावप्रधान अमङ्गल का आक्रमण होना दूसरा कारण है। इसप्रकार इतर शास्त्रों की अपेक्षा औपनिषद ज्ञान के सम्बन्ध में दो दो अमङ्गलों का आक्रमण सिद्ध होजाता है। इस अमङ्गलद्वयी के निराकरण के लिए ही उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गल का विधान हुआ है। पूर्व में जो माङ्गलिक मन्त्र उद्धृत हुए हैं, उनका विशद वैज्ञानिक अर्थ तत्तदुपनिषदों के भाष्य में ही देखना चाहिए। **"उपनिषदों के आद्यन्त में मङ्गल क्यों किया जाता है ?,** इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

❀ इति-मंगलरहस्यम् ❀

१

———*———

* श्रीः *

तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्म्मास्ते मयि सन्तु
ते मयि सन्तु



"हमें अमुक विषय नवीन प्रतीत होता है, हमनें तो आज तक ऐसा सुना ही नहीं था। हमनें सभी शास्त्र देखे हैं। आप्त ग्रन्थों पर आचार्यों नें जो भाष्य किए हैं, वे भी हमारे दृष्टिपथ में आए हैं। परन्तु हमनें आज तक इस प्रकार के वैज्ञानिक अर्थों का अवलोकन न किया। ऐसी स्थिति में इस नवीन शैली से किए गए वेदार्थ को कैसे प्रामाणिक माना जा सकता है" यह है उन महापुरुषों के उद्गार, जो आज हमारे धार्मिक समाज के नेता बननें का दम भरते हैं। "हमनें नहीं सुना, एवं हमनें नहीं देखा"—हमारे इस वैज्ञानिक साहित्य की अप्रामाणिकता में उन पुरुषपुङ्गवों का एकमात्र यही हेत्वाभास है। ऐसा होना कोई नवीन घटना नहीं है। कालदोष से समय-समय पर जनता सत्य साहित्य से विमुख होती ही रहती है, एवं साथ ही में समय समय पर विलुप्त सत्यविद्या का प्रकाश भी होता ही रहता है। यह भी सच है कि जब जब सत्यविद्या का विकास होता है, तब तब ही अन्धप्रणाली के अनुगामी महानुभावों के अन्तस्तल में क्षोभ उत्पन्न होता है, एवं वे अपनें इस क्षोभ को अप्रत्यक्षरूप से अपनें अन्धभक्तों पर प्रकट कर उस सत्यविद्या का परिहास करके किसी अंश में अपना क्षोभ शान्त हुआ समझलेने की विफल चेष्टा करते रहते हैं।

मनोविज्ञान (Cyclogie) का यह एक स्वाभाविक नियम है कि अर्द्धदग्ध मनुष्य जिस विषय का ज्ञान नहीं रखता, उस विषय का प्रकाश यदि कोई अन्य व्यक्ति करता है तो उसे स्वीकार कर लेने में वह अपनी मानहानि समझता है। फलतः विषय की उपादेयता पर तो उस का लक्ष्य नहीं जाता, अपितु वह छिद्रान्वेषण में प्रवृत्त होजाता है। फिर उसे इस जघन्य कर्म्म में सफलता मिले, अथवा न मिले, यह दूसरा प्रश्न है। मनोविज्ञान का यह व्यापक सिद्धान्त अपवादरूप से

आप्तपुरुषों में भी यत्र तत्र चरितार्थ होता हुआ देखा गया है। महाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि, एवं सुप्रसिद्ध वार्तिककार भगवान् वररुचि के सम्बन्ध में भी उक्त घटना घटित हुई है। यह घटना हमारे विलुप्तप्राय इस वैदिक साहित्य से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है, अतः अप्रासङ्गिक होते हुए भी हम इसे प्रकृत में उद्धृत करना आवश्यक समझते हैं।

महामुनि पतञ्जलि ने **महाभाष्य** के आरम्भ में (१।१।१।म०भा०) शब्दनित्यत्वानित्यत्व की मीमांसा की है। इसी सम्बन्ध में आगे जाकर **"शक्तिग्राहकशिरोमणेर्लोकव्यवहारस्य"** (व्याकरण-उपमान-कोश-आप्तवाक्य-व्यवहार इन शक्तिग्राहक पांच उपायों में से लोकव्यवहार ही शक्तिग्राहकों में मुख्य है) इस सर्वसम्मत सिद्धान्त को लक्ष्य में रखते हुए—**"लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः"**(पा०म०भा०१।१।१) इत्यादि रूप से पतञ्जलि ने लोक में प्रयुक्त सार्थ शब्दप्रयोग को आधार मानते हुए ही शास्त्र को धर्म्मनिर्णय में प्रमाण माना है। इसी प्रसङ्ग में आगे जाकर **वररुचि** का आक्षेप चलता है कि **"ऊष-तेर-चक्र-पेच-इत्यादि शब्द लोक में अप्रयुक्त हैं। लौकिक व्यवहार में उक्त शब्दों का प्रयोग नहीं देखा जाता"**। इस आक्षेप का समाधान करते हुए **पतञ्जलि** कहते हैं—**"अच्छा न सही उक्त शब्दों का प्रयोग लोक में, इस से बिगड़ क्या गया"**। वररुचि कहते हैं—**"प्रयोग के आधार पर ही तो आप शब्दों की साधुता व्यवस्थित करते हैं। ऐसी अवस्था में (प्रयोगवादी आप के मतानुसार) जो शब्द अप्रयुक्त होंगे, वे साधु शब्द नहीं मानें जायंगे"**। वररुचि के इस आक्षेप को असंगत बताते हुए पतञ्जलि कहते हैं—**"यह आप सर्वथा उलटा कह रहे हैं। आप कहते हैं—"अप्रयुक्त शब्द हैं"। इस पर हमारा यह कहना है कि यदि शब्द हैं, तब तो इन के सम्बन्ध में "अप्रयुक्ताः" कहना ठीक नहीं, यदि यह शब्द अप्रयुक्त हैं तो फिर यह हैं हीं नहीं। "हैं और अप्रयुक्त" यह कहना विरुद्ध है। आप स्वयं अपनें मुख से ("ऊष-तेर" इत्यादि रूप से) इन शब्दों का प्रयोग कर रहे हैं, एवं साथ ही में यह भी कहते जाते हैं कि यह शब्द अप्रयुक्त हैं। भला आप जैसा विद्वान् इन शब्दों का प्रयोग करता हुआ इन की साधुता व्यवस्थित करनें वाला अन्य कौन होगा?"**

पतञ्जलि के इस उत्तर पर पुनः अपने आक्षेप को सुरक्षित रखते हुए वररुचि कहते हैं—आपनें हमारे आक्षेप के प्रति जो "विप्रतिषिद्धम्" कहा, यह ठीक नहीं हैं। शब्द हैं अवश्य, जब कि शास्त्रज्ञ लोग शास्त्रद्वारा इन का संस्कार करते हैं। हमारा तो कहना केवल यही है कि लोक में यह शब्द अप्रयुक्त हैं। आपनें जो यह कहा कि "इन शब्दों के प्रयोग में तुमसे अधिक श्रेष्ठ और कौन होगा"। इस के उत्तर में हमें यह कहना है कि "हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि उक्त शब्द हम से अप्रयुक्त हैं, अपितु लोक में यह शब्द अप्रयुक्त है"। यदि आप यह कहें कि हम भी तो लोक में हीं हैं," इस के उत्तर में हम यह कहेंगे कि हम लोक में अवश्य हैं, परन्तु हम ही तो लोक नहीं हैं। केवल एक व्यक्ति के प्रयोग से ही तो वह लौकिक प्रयोग नहीं माना जा सकता"।

आगे जाकर वार्त्तिककार कहते हैं कि "ऊष-तेर" इत्यादि शब्दों का अप्रयोग ही न्याय प्राप्त है। कारण स्पष्ट है। जब कि इन्हीं शब्दों के स्थान में इन्हीं के शब्दान्तर (विशेषरूप से अर्थ को स्पष्ट करनें वाले) उपलब्ध होते हैं तो फिर उन्मुग्ध भाव से अर्थ प्रकट करनें वाले ऊष-तेर इत्यादि शब्दों के प्रयोग की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। देखिए 'ऊष' के स्थान में "क्व यूयमुषिताः", 'तेर' के स्थान में "क्व यूयं तीर्णाः" "चक्र" के स्थान में "क्व यूयं कृतवन्तः", 'पेच' के स्थान में 'क्व यूयं पक्वन्तः' इत्यादि प्रयोग देखे जाते हैं।"

अन्त में स्वपक्ष का पूर्ण समर्थन करते हुए भाष्यकार कहते हैं—"पूर्वोक्त सारे शब्द देशान्तरों में प्रयुक्त होते देखे जाते हैं"। आप कहैं कि—हमें तो उपलब्ध नहीं होते, हमनें तो इनका प्रयोग नहीं सुना" तो इस के उत्तर में हम यही कहेंगे कि "आप उपलब्धि के लिए प्रयत्न कीजिए! शब्दशास्त्र महागम्भीर है। सातद्वीप वाली पृथिवी, तीनों लोक, चार वेद, अङ्गग्रन्थ-रहस्यग्रन्थयुक्त १०१ यजुर्वेद की शाखाएं, १००० सामशाखाएं, २१ ऋग्वेद शाखाएं, ९ अथर्व शाखाएं, वाकोवाक्य, इतिहास, पुराण, वैद्यक आदि महाशब्द-

शास्त्र प्रयोग के स्थल हैं। इतने महाविशाल प्रयोग स्थल का अन्वेषण किए बिना ही "सन्त्यप्रयुक्ताः" (अमुक शब्द अप्रयुक्त हैं) यह कह देना साहसमात्र है"।

अपिच "जिन ऊष-तेर आदि शब्दों को आप अप्रयुक्त समझते हैं, उनका भी प्रयोग देखा जाता है। कहां? वेद में। सुनिए! "सप्तास्ये रेवतीरेवदूष" "यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष" "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र" "यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्" * इति।

---

* (आक्षेपवार्त्तिकम्)—"अस्त्यप्रयुक्तः"। (भाष्यम्) "सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः। तद्यथा ऊष, तेर, चक्र, पेचेति। किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः? प्रयोगाद्धि भवाञ्छब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः"। (आक्षेपासंगतिभाष्यम्)–"इदंतावद्विप्रतिषिद्धम्–यदुच्यते–'सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता' इति। यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ता न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात्?"। (आक्षेपासंगतिबाधकभाष्यम्)–"नैतद्विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद्ब्रूमः। यदेताञ्छास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते। अप्रयुक्ता इति ब्रूमः। यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति। यदप्युच्यते- कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति। न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति। किं तर्हि?। लोकेऽप्रयुक्ता इति"। (आक्षेपभाष्यम्)—"ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके"। (समाधान भाष्यम्)—"अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः"।

(आक्षेपबाधक वार्त्तिकम्)—"अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्द प्रयोगात्"।

(भाष्यम्)—"अस्त्यप्रयुक्त इति चेत्। तन्न। किं कारणम?। अर्थे शब्द प्रयोगात्। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते"।

(आक्षेपसाधक वार्त्तिकम्)—"अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्"। (भाष्यम) "अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः। कुतः?। प्रयोगान्यत्वात्। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्छब्दान् प्रयुञ्जते। तद्यथा-ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे-क यूयमूषिताः, तेरेत्यस्यार्थे-क यूयं तीर्णाः चक्रेत्यस्यार्थे-क यूयं कृतवन्तः। पेचेत्यस्यार्थे क यूयं पक्ववन्त इति।"।

उपर्युक्त निदर्शन से विज्ञ पाठकों को विदित हुआ होगा कि **वररुचि** जैसे महाविद्वान् को भी यह पता न था कि ऊष-तेर-आदि शब्दों का प्रयोग वेद में होता है। साधारण लौकिक दृष्टि को लेकर ही उन्होंने यह हठ किया था कि उक्त शब्द अप्रयुक्त हैं। अन्त में जब भगवान् पतञ्जलिने वेद में **ऊष-तेर** आदि का प्रयोग दिखलाया, तब कहीं उनका सन्देह दूर हुआ।

इधर हमारे नौसिखिया विद्वान् कहते हैं कि हमने अमुक विषय उपलब्ध नहीं किया, इस लिए हम नहीं मानते। इस के उत्तर में हम **'उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्'**। यही कहेंगे। हम जिन विषयों का निरूपण कर रहे हैं, उन की प्रामाणिकता स्वयं वेद पर निर्भर है। अब **"शेषं कोपेन पूरयेत्"** का युग नहीं है। अबतो **"बाप बता नहीं श्राद्ध कर"** के नियन्त्रण में चलना पड़ेगा। आज एक ऐसी ही जटिल समस्या हमारे सामने है। वह है–**"उपनिषत्"** शब्द। उपनिषदों के सम्बन्ध में **"उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है"**? पहिले यही प्रश्न हमारे सामनें आता है। वैदिक तत्वों से अपरिचित भारतीय विद्वानों नें उक्त प्रश्न का जो समाधान किया है, **सूचीकटाहन्याय** से हम संक्षेप से पहिले उसी की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

इति--विषयोपक्रमः

———o———

(सिद्धान्तसमाधान वार्त्तिकम्)—**"सर्वे देशान्तरे"**। (भाष्यम्) "सर्वे खल्वप्येते शब्दादेशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते"। (आक्षेपभाष्यम्)—"न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान् शब्दस्य प्रयोग विषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः, साङ्गाः सरहस्या बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं, नवधाथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यमितिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाच्छब्दस्य प्रयोग विषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य 'सन्त्यप्रयुक्ता' इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव। + + + ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क ?। वेदे। तद्यथा—"सप्तास्य रेवतोरेवदूष, यद्वो रेवती रेवत्यां तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रानश्चक्रा जरसं तनूनाम्" इति ॥

——:o:——



विध भावों से आक्रान्त स्थावर जङ्गमात्मक विश्व की ओर यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो हमें वहां तीन भाव उपलब्ध होते हैं। प्रयास करने पर भी तीन से अतिरिक्त कोई चौथा वस्तुतत्व उपलब्ध नहीं होता। उपलब्ध होने वाली उक्त तीनों वस्तुओं को न्यूनाधिक सभी जानते हैं। सर्वविदित वे तीनों पदार्थ **ज्ञान-क्रिया-अर्थ** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। **ज्ञायते, क्रियते, विद्यते** तीन से अतिरिक्त चतुर्थतत्व का वास्तव में अत्यन्ता भाव है। **जानना** पहिला भाव है, **करना** दूसरा भाव है। जो जाना जाता है, एवं जिस के आधार पर कर्म्म किया जाता है, ज्ञान-क्रिया का अधिष्ठाता वह तीसरा **अर्थतत्व** है। यह अर्थतत्व ज्ञान-क्रिया से पृथक् है, अथवा क्रिया ही क्रमशः **बल-शक्ति गुण** रूप में परिणत होती हुई **"गुणकूटो द्रव्यम्"** इस आस्तिक सिद्धान्त के अनुसार, एवं **"अर्थः क्रियाकारित्वं सत्"** इस नास्तिक सिद्धान्त के अनुसार अर्थरूप में परिणत हुई है? यह विवादास्पद विषय है। इसे इस प्रकरण में विशेषस्थान नहीं दिया जा सकता। यहां अर्थतत्व को ज्ञान एवं क्रिया से पृथक् मानकर ही कुछ कहना है।

सामान्यदृष्टि से विचार करने पर अर्थतत्व ज्ञान एवं क्रिया से सर्वथा विजातीय, अतएव भिन्नपदार्थ ही प्रतीत होता है। ज्ञानतत्व विषयरूप अर्थ को अपने उदर में लेकर ही प्रतीति का विषय बनता है। यही सविषयक ज्ञान **सविकल्पक** नाम से प्रसिद्ध है। यदि ज्ञान में से विषयों का सर्वथा बहिष्कार कर दिया जाता है तो वह ज्ञान निर्विकल्पक बनता हुआ प्रतीति जगत् से बहिर्भूत होजाता है। ऐसी अवस्था में हम अर्थरूप विषय को ज्ञान से वास्तव में पृथक्तत्व माननें के लिए तय्यार हैं।

अपिच अर्थरूप विषय **धामच्छद** (जगह रोकने वाला) है, **आवरक** है, **तमोमय** है। इधर ज्ञान प्रकाशस्वरूप है, अधामच्छद है, अनावरक है। ज्ञानप्रकाश से तमोमय विषय प्रकाशित होता है, दूसरे शब्दों में विषय को अपने गर्भ में प्रतिष्ठित कर के ही ज्ञान स्वस्वरूप से विकसित होता है। यद्यपि ज्ञान स्वत एव विकसित है, परन्तु तमोमय विषय ही ज्ञान के उदय के परिचायक माने गये हैं। इन सब कारणों से भी हम ज्ञान को विषय से पृथक्तत्व मानने के लिए तय्यार हैं।

अपिच ज्ञान **द्रष्टा** (देखने वाला) है, विषय **दृश्य** (दीखने की वस्तु) है। द्रष्टाज्ञान **एक** है, दृश्य विषय **नाना** (अनेक) हैं। द्रष्टाज्ञान **अमृत** (न बदलने वाला-एकरस) है, दृश्य विषय **मर्त्य** (बदलने वाला) है। इसलिए भी ज्ञान और अर्थ को एक वस्तु नहीं माना जासकता।

यही अवस्था कर्म्म (क्रिया) की है। **सोना-जागना-उठना-बैठना-खाना-पीना-हंसना-चलना-बोलना** आदि सब कर्म्म हैं। इन सब की आधारभूमि **अर्थतत्त्व** ही है, **अस्मत्संस्था** (अध्यात्म जगत्) में कर्म्मतत्त्व **प्रत्यगात्मकर्म्म** (जीवात्मकर्म्म), एवं **परमात्मकर्म्म** भेद से दो भागों में विभक्त है। कितनें हीं आध्यात्मिककर्म्मों में हमारी (जीवात्मा की) स्वतन्त्रता है, एवं कितनें हीं आध्यात्मिक कर्म्म हृदय में प्रतिष्ठित **ईश्वर** द्वारा सञ्चालित होते हैं। उदाहरणार्थ **बोलना-हंसना-क्रोध करना-प्रसन्न होना** आदि प्रातिस्विक कर्म्म प्रत्यगात्मा के कर्म्म हैं। "**मैं अमुक कर्म्म करना चाहता हूं, अमुक कर्म्म मैं नहीं करना चाहता**" इस प्रकार जिन कर्म्मों में इच्छास्वातन्त्र्य है, वे सब ऐच्छिक कर्म्म जीवात्मा के कर्म्म हैं। एवं **कृमि-कीट-पशु-पक्षि-मनुष्यादि** के **शिर-ग्रीवा-हस्त-उदर-नासिका-चक्षु-मुख-कर्ण-पादादि** शरीरावयवों का जिस की इच्छा से निर्माण होता है, हम से सर्वथा अविज्ञात **त्वङ्-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्रादि** शारीरधातुओं का अन्नाहुति से जिस की इच्छा से नियतरूप से निर्म्माण हुआ करता है, वही इच्छा **ईश्वरेच्छा** है। **जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति,** भेद से कर्म्म ६ भागों में विभक्त है। **षड्भावविकारयुक्त** यह कर्म्म ईश्वरेच्छा से ही सम्बन्ध रखता है। यह कर्म्म सर्वथा नियत हैं। इन में हमारी इच्छा का यत्किञ्चित् भी स्वातन्त्र्य नहीं हैं। इन्हीं नियत प्राकृतिक कर्म्मों को लक्ष्य में रख कर **स्मृति** कहती है—

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यतेह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥ (गी० ३।५।)।
ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥ (गी० १८।६१।)।

उक्त उभयविध कर्म्म **नास्ति-अस्ति-नास्ति-लक्षण** बनते हुए **असल्लक्षण** हैं, **नास्ति-**

सार हैं। इधर हमारा अर्थ सल्लक्षण है। क्रियालक्षण कर्म्म प्रतिक्षण-विलक्षण है, अर्थ चिरस्थायी है। नास्तिसार कर्म्म क्षणिक है, धारावलावच्छिन्न अर्थ अक्षण है। घट-पटादि पदार्थों के कर्म्म परिवर्त्तनशील हैं, घट-पटादि अर्थ कल भी थे, आज भी हैं, एवं चिरकाल पर्य्यन्त रहेंगे। त्रिक्षण कर्म्म का स्वरूप अनिरुक्त है, बहुक्षण अर्थ का स्वरूप निरुक्त है। कर्म्म को स्वप्रतिष्ठा के लिए अर्थ की अपेक्षा होती है, अर्थ स्वयं सत्तायुक्त है। इन्हीं सब कारणों से हम इस अर्थतत्व को भी ज्ञानवत्, क्रियातत्व से पृथक्तत्व मानने के लिए तय्यार हैं। ऐसी दशा में प्रकरण के आरम्भ में प्रतिज्ञात ज्ञान-क्रिया-अर्थ भेद भिन्न हमारा त्रित्ववाद सर्वथा अक्षुण्ण रह जाता है।

विश्व में अनन्त ज्ञानधाराएं हैं, अनन्त कर्म्मधाराएं हैं, एवं अनन्त ही अर्थधाराएं है। इन अनन्त ज्ञान–क्रिया–अर्थों की समष्टिरूप विश्व भी अनन्त ही है। विश्व में जितनें भी जड़ चेतनात्मक पदार्थ हैं, उन सब का ज्ञान परिमित एवं भिन्न २ है। सब के कर्म्म पृथक् पृथक् हैं। सब का स्वरूप (अर्थ) भिन्न २ है। उदाहरण के लिए मनुष्यजाति को ही लीजिए। मनुष्यों के ज्ञान–कर्म्म–अर्थ परस्पर में सर्वथा भिन्न हैं। जाति को छोड़िए, केवल व्यक्ति को लीजिए। इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान–क्रिया-अर्थ परस्पर में भिन्न हैं। चक्षुरिन्द्रिय का ज्ञान-कर्म्म-अर्थ भिन्न है, घ्राण का भिन्न है, रसना का भिन्न है। इन सम्पूर्ण ज्ञानों का, सम्पूर्ण क्रियाओं का, सम्पूर्ण अर्थों का जो कोई एक मूलस्रोत है, उसे ही दार्शनिकों नें "ईश्वर" नाम से व्यवहृत किया है। अपने २ वैयक्तिक आयतन के अनुसार सब प्राणी उसी की ज्ञान–कर्म्म–अर्थमात्रा को लेकर अपनी २ स्वरूपसत्ता को सुरक्षित रखने में समर्थ हो रहे हैं। वह सर्वज्ञानमय है, इसी लिए उसे सर्वज्ञ कहा जाता है। वह सर्वकर्म्ममय है, अतएव उसे सर्वशक्तिमान् कहा जाता है, वह सर्वार्थमय है, अतएव उसे सर्ववित् कहा जाता है। विविधभावापन्न, एवं परस्पर में अत्यन्त विरुद्ध यच्चयावत् ज्ञानमात्राओं का उस में समावेश है, अतएव वह सर्वज्ञ है। शक्तिरूप विविधभावापन्न सम्पूर्ण कर्म्ममात्राओं का वह आगार है, अतएव वह सर्वशक्तिमान् है। जगदीश्वर के इसी विश्वव्यापक ज्ञान–क्रिया–अर्थमय स्वरूप का निरूपण करती हुई उपनिषच्छ्रुति कहती है—

*यः सर्वज्ञः सर्ववित्–यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म, नामरूप, मन्नं च जायते ॥ (मुण्डक० १।१।९।)

१—"अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके" ।
(शा० सू० २।३।४३।)।

२—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः" (गी० १५।७)।

३—"यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह" (कठ० २।४)

४—"पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते" (ई०उ० १।)

इत्यादि श्रौतस्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार प्राणिमात्र (जड़चेतनात्मक उभयविधपदार्थ)
ज्ञान-क्रिया-अर्थघन उसी ईश्वर के अंश हैं। फलतः प्राणिमात्र में ज्ञान क्रिया अर्थ की सत्ता सिद्ध हो
जाती है। उस व्यापक ज्ञानक्रियार्थघन ईश्वर के अंशभूत प्राणी अल्पज्ञ हैं, अल्पशक्तियुक्त हैं,
नियतार्थ हैं, नियतेन्द्रिय हैं। ×धातुजीव नाम से प्रसिद्ध रत्नादि में ईश्वर की अर्थशक्ति की
प्रधानता है, अत एव यह जीवविभाग असंज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। मूलजीव नाम से प्रसिद्ध ओषधि-
वनस्पत्यादि में अर्थ के साथ ही क्रियाशक्ति की भी प्रधानता है। अतएव यह जीवविभाग अन्तः-
संज्ञ नाम से व्यवहृत होता है। जीव नाम से प्रसिद्ध कृमि-कीट-पशु-पक्षि-मनुष्य भेदभिन्न
तिर्यक् नाम से प्रसिद्ध यह पांचों प्रजाएं "ससंज्ञ" नाम से प्रसिद्ध हैं। इन में अर्थ-क्रिया के साथ
साथ ज्ञानशक्ति का भी विकास है। अतएव यह जीववर्ग ससंज्ञ नाम से प्रसिद्ध है। इन पांचों

"*ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा" (शत० १०।२।२।६।) के अनुसार प्रतिष्ठा तत्व ही ब्रह्म है। यज्ञतत्व ही
अन्न है। नामरूप की समष्टि ही ज्योति है। प्रतिष्ठा-ज्योति-यज्ञरूप से वह प्रविष्टब्रह्मसृष्टरूप
में परिणत होकर सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। इस विषय का विशदविवेचन "मुण्डकविज्ञानभाष्य" में
देखना चाहिए।

× इस चतुर्दशविधा जीव सृष्टि का निरूपण शतपथविज्ञानभाष्य १ वर्ष ११-१२ अङ्क में विस्तार से
किया जा चुका है। विशेष जिज्ञासा रखने वालों को वही प्रकरण देखना चाहिए।

ससंज्ञ प्रजाओं में भी मनुष्य में ज्ञानशक्ति का पूर्ण विकास है, अतएव अर्वाचीन इतर जीवों की अपेक्षा पुरुष को ईश्वरप्रजापति के अतिसन्निकट माना जाता है। जैसा कि **वाजसनेयश्रुति** कहती है—

"प्रजापतिर्ह वा इदमग्र एक एवास। स ऐक्षत-कथं नु-
प्रजायेय-इति। सोऽश्राम्यत्। स तपोऽतप्यत। स प्रजा-
असृजत। पुरुषो वै प्रजापतेर्नेदिष्ठम्" (शत०२।५।१।१।) इति

यही कारण है कि मनुष्य प्रजा के द्वारा ही संसार में ज्ञान का प्रसार होता है। मनुष्य ही उस प्रजापति से साक्षात् रूप से सम्बन्ध करने में समर्थ होता है। अतएव शास्त्रोपदेश को सुनकर तदनुकूल चलने का अधिकार एकमात्र अधिकार मनुष्य को ही है। ज्ञानमात्रा की अल्पता, किंवा अपूर्णता के कारण **पशु-पक्षि** आदि शास्त्रमार्ग में सर्वथा अनधिकृत हैं। इस प्रकार पुरुष ईश्वर प्रजापति के समकक्ष है, समकक्ष ही क्यों वही है, उसी का अंश है। इतनी समता होनेपर भी इसके एवं उस प्रजापति के मध्य में कुछ एक ऐसे प्रतिबन्धक आरहे हैं, जिनके कारण यह अपने उस व्यापक स्वरूप को भूलता हुआ इतस्ततः भटक रहा है। वे प्रतिबन्धक **अविद्या** (अज्ञानावृतज्ञान), **अस्मिता** (विकासाभाव), **रागद्वेष** (आशक्ति), **अभिनिवेश** (दुराग्रह) इन नामों से प्रसिद्ध हैं। जीव और ईश्वर में यदि अन्तर है तो यही। वह प्रजापति—**"क्लेशकर्म्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः"** (पा०यो०सूत्र०) के अनुसार क्लेशादि से रहित है, असंस्पृष्ट है। इधर जीवात्मा इन क्लेशादि से युक्त है। बस सम्पूर्ण **उपनिषदें** जीवात्मा को सम्पूर्ण **क्लेशादि** दोषों से विमुक्त कर उस ईश्वर प्रजापति के साथ अभिन्नभाव प्राप्त कर लेने का ही उपाय बतलाती हैं। **"उपनिषदों में क्या है ?"** इस प्रश्न का यदि कोई सामान्य एवं संक्षिप्त उत्तर हो सकता है तो यही कि—**"जीवात्मा अमुक अमुक निर्दिष्ट उपायों से अपने अन्तःकरण में आए हुए अविद्या अस्मितादि दोषों को हटाकर—**

यथोदकं शुद्धे शुद्धं तादृगेव भवति।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गोतम ॥ (कठ० २।४।) के अनुसार

शुद्ध बनकर उस परतत्त्व के साथ सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य-सायुज्यभाव को प्राप्त कर संसार बंधन से विमुक्त होजाने का अन्यतम उपाय बतलाने वाला शास्त्रही उपनिषच्छास्त्र है,, ।

उपनिषत् वेदशास्त्र का एक अङ्ग है। वेद के अन्तिम भाग का ही नाम उपनिषत् है। उपनिषत् शब्दार्थ परिज्ञान के लिए एक बार सम्पूर्ण वेदराशि का अवलोकन करना आवश्यक होगा। ऋक्-यजुः-साम-अथर्व-भेद से वेद संहिता चार भागों में विभक्त है। आजकल प्रमादवश कुछ एक वेदभक्तोंमें यह भ्रम चलपड़ा है कि "वेद केवल उपलब्ध चार संहिताओं का ही नाम है। शेष वेदशाखाएं इस मूल एवं वास्तविक वेद के ऋषिप्रणीत व्याख्यानग्रन्थमात्र हैं" कहना नहीं होगा कि इस कल्पना में यत्किञ्चित् भी तथ्यांश नहीं है। वेद वास्तव में चार ही हैं, इस में सन्देह नहीं है। इन चारों में से प्रत्येक की अवान्तर अनेक शाखाएं हैं। ऋग्वेद की २१ शाखाएं हैं, सामवेद की १००० , यजुर्वेद की १०१, अथर्ववेद की ९ शाखाएं हैं इस प्रकार सम्भूय मूलवेद ११३१ (ग्यारहसौ इकतीस) शाखाओं में विभक्त है। यह आर्य-साहित्य का साथ ही में आर्यजाति का दुर्भाग्य है कि इन शाखाओं में से वर्तमान में ७-८ शाखाएं हीं उपलब्ध हैं। शेष शाखाएं स्मृतिगर्भ में विलीन हैं। अस्तु "उपलब्ध (वैदिकप्रस अजमेर में मुद्रित) चार संहिताए हीं वेद हैं, इतर शाखाएं, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषद्-ग्रन्थ वेद नहीं हैं,, इस कल्पित सिद्धान्त की आलोचना हम "क्या उपनिषत् वेद है" ? इस प्रश्न के समाधान में आगे विस्तार से करनें वाले हैं। अतः इस विवाद को यहां न उठाकर इस सम्बन्ध में प्रकृत में केवल यही बतला देना चाहते हैं कि "सभी शाखाएं, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत् यह सब मिलकर वेदशास्त्र है"। निगमशास्त्र (वेद) ब्रह्म-ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त है। ब्रह्म वै मन्त्रः "(शत० ७।१।१ ५।) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार ब्रह्म ही मन्त्र है। इसी आधार पर—"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" (कात्यायन) यह कहा जाता है। मन्त्र-ब्रह्म-विद्या यह तीनों शब्द अभिन्नार्थ के प्रतिपादक हैं, जैसा कि उपनिषद् भाष्यों में तत्तत् स्थलों में स्पष्ट कर दिया गया है।

"बिभर्त्ति सर्वम्" इस निर्वचन के अनुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपने ऊपर धारण करने वाला तत्व ही **ब्रह्म** है। ऐसा तत्व उपादान कारण ही हो सकता है। क्योंकि उपादान कारण ही स्वकार्य की प्रतिष्ठा बनता है। **षोडशीपुरुष** का **अव्यय** भाग सृष्टि का **आलम्बन है, अक्षर** भाग **निमित्तकारण** है, एवं **आत्मक्षर** भाग **उपादान कारण**, दूसरे शब्दों में **समवायिकारण** है। उपादान कारण ही अपने कार्य का **प्रभव-प्रतिष्ठा परायण** बनता है। सम्पूर्ण वैकारिक कार्य विश्व का उपादान यही क्षरभाग है। अतः उक्त व्युत्पत्ति के अनुसार इसे हम अवश्य ही विश्व का "**ब्रह्म**" कह सकते हैं। **बिभर्त्ति सर्वं** के अनुसार यह क्षरतत्व "**भर्म्मन्**" है। निरुक्त विद्या के अनुसार भर्म्म शब्द में "**ब्-ह्-अ र्-म्-अ-**" इन वर्णों का समावेश है। **प्रातिशाख्य** सिद्धान्त के अनुसार **हकार-रकार** का विपर्य्यय हो जाता है। हकार रकार के स्थान में आजाता है, रकार हकार के स्थान में आजाता है। इस विपर्यास से पूर्व वर्णस्थिति– '**ब्-र्-अ-ह्-म्-अ**" इस रूप में परिणत हो जाती है। पूर्व वर्णों का सम्मिलित रूप"**भर्म्म**" था, इस दूसरी परिस्थिति का रूप "**ब्रह्म**" है। "**ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्**" (गी० ३।१५।) के अनुसार इस **क्षरब्रह्म** का विकासस्थान अव्ययानुगृहीत **अक्षर** ही है। इस से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि ब्रह्म शब्द कुछ एक विशेष स्थलों को छोड़ कर सर्वत्र उपादान कारणता से ही सम्बन्ध रखता है।

उपर्युक्त क्षर-ब्रह्म की **प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद** यह पांच कलाएं सुप्रसिद्ध हैं। इन में **प्राण** नाम की सर्वमुख्या पहिली कला ही सृष्ट्युन्मुख बनती हुई वेदस्वरूप में परिणत होती है। यही क्षररूपा **वेदकला** सृष्टि का पहिला उपादान है। संसार में जो वस्तु जन्म लेती है, पहिले उसका वेद उत्पन्न होता है। **प्राधानिक दर्शन** (सांख्य) के अनुसार **शब्दादि पंच तन्मात्राएं हीं** विश्व की **प्रभव-प्रतिष्ठा-परायणरूपा** हैं। इन पांचों तन्मात्राओं में भी **प्रथमज**, अत एव मुख्य तन्मात्रा **शब्दतन्मात्रा** ही है। यही शब्दतन्मात्रा **अनादिनिधना, प्राणमूर्त्तिस्वयम्भू** मुख से विनिर्गता, **नित्या वेदवाक्** है। यही ब्रह्म है। इसी के लिए—"**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रथमजम्**" (शत० ६।१।१।६।) "**ब्रह्म वै सर्वस्य प्रतिष्ठा**" (शत० ६।१।१।७।) यह

कहा गया है। अमृत-मर्त्य भेद से वाक्तत्व दो भागों में विभक्त है। अमृतावाक् आलम्बन है, मर्त्यावाक् उपादान है। मर्त्यावाक् ही शब्दतन्मात्रा है, यही वेदवाक् है, इसी से सृष्टि होती है। इसी विज्ञान को लक्ष्य में रख कर भगवान् **मनु** कहते हैं।

सर्वेषां तु सनामानि कर्म्माणि च पृथक् पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे ॥ (मनुः १।२१।४१)।

शब्दतन्मात्रारूप वेदब्रह्म है क्या वस्तु? इस प्रश्न का उत्तर है **अग्नि-सोम**। अग्नि एवं सोम का मिथुनभाव ही विश्व का उपादान है। दोनों मिलकर एक ब्रह्म है। यही संसार का उत्पादक **शुक्र है,** जैसा कि "**ईशोपनिषत् हिन्दीविज्ञानभाष्य**" के "**स पर्यगाच्छुक्रम्**" (ई०उ०८मं०) इत्यादि मन्त्र व्याख्यान में स्पष्ट कर दिया गया है। पूर्व में हमनें क्षरब्रह्म की **प्राण-कला** को **वेदब्रह्म** कहा था, एवं यहां **अग्नि-सोम** की समष्टि को वेद बतलाया जारहा है। इस में विरोध नहीं समझना चाहिए। कारण यही है कि वेदत्रयी का जो **यजुर्भाग है,** वह अग्नि है। एवं यजुर्वेद के स्थिति प्रकृतिक जू भाग से उत्पन्न होने वाला **अपूतत्व** ही सोम है। इसी का नाम **अथर्व है। ब्रह्माग्निवेद, वृषाप्राणप्रधान** होता हुआ **पुरुष है,** एवं **सोमवेद, योषाप्राणप्रधान** बनता हुआ **स्त्री है**। सृष्टिकामुक प्रजापति के **काम-तप-श्रम** से वेदमूर्त्ति वह एक ही प्रजापति पूर्वोक्त दो स्वरूपों में परिणत होजाता है। दोनों के मिथुन से, दूसरे शब्दों में ब्रह्माग्नि में सोम की आहुति होने से यज्ञ का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं इसी अग्नीषोमात्मक यज्ञ से सम्पूर्ण सृष्टिएं होतीं हैं। आज भी इस **यज्ञविद्या** द्वारा हम अभिलषित पदार्थ प्राप्त कर सकते हैं। यज्ञ हमारे लिए **इष्टकामधुक्** (यथेच्छ-अभिलषित फल देने वाला) है। सृष्टिमूलक, अग्नीषोमात्मक इसी यज्ञ-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर भगवान् कहते हैं—

सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेषवस्त्विष्टकामधुक् ॥ (गी०३।१०)।

पूर्वोक्त ब्रह्माग्नि की **घन--तरल--विरल** यह तीन अवस्थाएं हैं। यही तीन अवस्थाएं क्रमशः **अग्नि-वायु-आदित्य** नाम से प्रसिद्ध हैं। यही तीनों क्रमशः **ऋङ्मय-यजुर्मय-साममय**

हैं। संसार में जितनीं भी **मूर्त्तिएं** हैं, उन सब का निर्म्माण अग्निमय **ऋग्वेद** से होता है। गति-तत्व का विकास गतिधर्म्मा वायुरूप **यजुर्वेद** से होता है, एवं **वषट्कार** नाम से प्रसिद्ध **महिमारूप तेजोमण्डल** का सम्बन्ध आदित्यात्मक **सामवेद** के साथ है। इन तीनों भावों को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखने वाला, अतएव सर्वप्रभव चौथा **ब्रह्मवेद** (अथर्ववेद) है। इसी वेदविज्ञान को लक्ष्य में रख कर कृष्णश्रुति कहती है—

चत्वारो वेदाः—

१—ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्त्तिमाहुः ——→ ऋक्
२—सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत ——→ यजुः
३—सर्वं तेजः सामरूप्यं ह शश्वत ——→ साम
(ऋक्, यजुः, साम) ——→ अग्नित्रयी-वृषा

४—सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ——→ अथर्व ——→ सोमः-योषा

(तै० ब्रा० १२।८।२-३।) इति।

"द्वयं वा इदं न तृतीयमस्ति, अत्ता चैवाद्यं च। तद्यदोभयं समागच्छति-अत्तैवा-ख्यायते नाद्यम्" (शत० १०।६।२।२।) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार **अत्ता** जब **अन्न** को अपनें गर्भ में प्रविष्ट कर लेता है तो अन्न की स्वतन्त्रसत्ता उच्छिन्न होजाती है। केवल अत्ता की सत्ता ही अवशिष्ट रह जाती है। बात यथार्थ है। जब तक हम (भोक्तात्मा) अन्न नहीं खाते, तभी तक वह अन्न **अन्न** नाम से व्यवहृत होता है। उदर में भुक्त होने के अनन्तर आत्मसात् बना हुआ वही अन्न अपने अन्न नाम को छोड़ता हुआ अत्ता (भोक्ता) स्वरूप में ही परिणत होजाता है। इसी सामान्य सिद्धान्त के अनुसार अथर्वासोमरूप अन्न अग्नित्रयीरूप अन्नाद के गर्भ में प्रविष्ट होता हुआ अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो देता है। अग्नि **अत्ता** है, इसी का विकास **त्रयीवेद** है। सोम **आद्य** है। इसी का विकास अथर्ववेद है। वह वेदसोम वेदाग्निगर्भ में जाकर वास्तव में अपने स्वातन्त्र्य से च्युत होजाता है। अतएव वेदशब्द से विद्वत्समाज में प्रायः **वेदत्रयी** ही प्रसिद्ध है। अन्न-अन्नाद की विभक्त मर्यादा को लक्ष्य में रख कर जहां **"चत्वारो वेदाः"** यह कहा जाता है,

वहीं उक्त अन्न-अन्नाद की अभिन्नमर्यादा को लक्ष्य में रख कर—**"त्रयं ब्रह्म सनातनम्" "त्रयी वा एषा विद्या तपति" "सैषा त्रयीविद्या यज्ञः"** इत्यादि व्यवहार प्रचलित हैं। ऐसी स्थिति में अन्न-अन्नादरहस्यानभिज्ञ जिन कुछ एक कल्पनारसिक पश्चिमी विद्वानों ने उक्त चारों वेदों के सम्बन्ध में जो अपनें—**"पहिले तीन वेद बने थे इसलिए त्रयीवेद व्यवहार स्वतन्त्र रहा, तीनों वेदों के पीछे अथर्ववेद बना था, इसलिए इसकी त्रयीवेद से पृथक् गणना की गई"** यह विचार प्रकट करते हैं, उन के इन विचारों की निःसारता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। पूर्व में वेदशास्त्र के **ब्रह्म-ब्राह्मण** नाम के जिन दो विभागों का उल्लेख किया था, उन में से पहिले **ब्रह्म**-भाग का यही संक्षिप्त परिचय है। **अथर्व** गर्भिता वेदत्रयी, किंवा **ऋक्-यजुः-साम-अथर्व** की समष्टि ही ब्रह्म है।

इस ब्रह्म का उपबृंहित रूप ही **ब्राह्मण** है। ब्रह्म का ऋङ्मय अग्निभाग **अर्थप्रधान** है, यजुर्मय वायुभाग **क्रियाप्रधान** है, एवं साममय आदित्यभाग ज्ञानप्रधान है, जैसा कि पूर्व के **'मङ्गलरहस्य,** में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अर्थतत्व **स्थूल** है, क्रियातत्व **स्थूलसूक्ष्म** है, ज्ञानतत्व **सुसूक्ष्म** है। स्थूलजगत **कर्म्मप्रधान** है, स्थूलसूक्ष्मजगत् **ज्ञानकर्ममय** है, सूक्ष्म-जगत् **ज्ञानप्रधान** है। तीनों क्रमशः **कर्म्मयोग-भक्तियोग-ज्ञानयोग** की मूलप्रतिष्ठा हैं। **कर्म्म भक्ति (उपासना)-ज्ञान** तीनों परस्पर में ओतप्रोत हैं। केवल प्रधानता अप्रधानता का तारतम्य है।

जैसे ब्रह्म भाग **ऋक्-यजुः-साम** नामों से प्रसिद्ध हैं, एवमेव ब्रह्म का विवर्त्तभूत पूर्वोक्त ब्राह्मणभाग **विधि-आरण्यक-उपनिषत्** नामों से व्यवहृत हुआ है। ब्राह्मण का **विधिभाग** ब्रह्म के अर्थप्रधान स्थूजलगन्मूर्त्ति **कर्म्मकाण्ड** से सम्बन्ध रखता है। **आरण्यकभाग** ब्रह्म के क्रिया प्रधान स्थूलसूक्ष्मजगन्मूर्ति **उपासनाकाण्ड** से सम्बन्ध रखता है। एवं **उपनिषद्भाग** ब्रह्म के ज्ञानप्रधान सूक्ष्मजगन्मूर्त्ति **ज्ञानकाण्ड** से सम्बन्ध रखता है। **अर्थतत्व** का उपबृंहितरूप **विधिभाग** है, **क्रियातत्व** का उपबृंहितरूप **आरण्यकभाग** है, एवं **ज्ञानतत्व** का उपबृंहित-रूप **उपनिषद् भाग** है। विधिभाग **अर्थमूर्त्ति** है, आरण्यकभाग **क्रियामूर्त्ति** है, उपनिषद्भाग ज्ञानमूर्त्ति है। जिस प्रकार **अग्नि-वायु-आदित्यात्मक ऋक्-यजुः-साम** रूप ब्रह्मभाग सर्वथा

अपौरुषेय है, एवमेव इसी ब्रह्म का उपबृंहणरूप अर्थ-क्रियाज्ञान-ज्ञान स्वरूप विधि-आरण्यक उपनिषद् रूप ब्राह्मणभाग भी सर्वथा अपौरुषेय ही है। ब्रह्म-ब्राह्मण की समष्टि ही अपौरुषेय नित्य वेद है। सम्पूर्ण विश्व में इसी का साम्राज्य है, दूसरे शब्दों में सम्पूर्ण विश्व यही है। सामान्य पुरुष तो क्या, स्वयं ईश्वर पुरुष भी इस के निर्म्माण में असमर्थ है। वह स्वयं भी इसी मौलिक वेद के आधार पर ही सृष्टि करनें में समर्थ होता है।

उपर्युक्त ब्रह्म-ब्राह्मणात्मक इस मौलिक अपौरुषेय वेदतत्व का रहस्य समझाने के लिए ऋषियों नें जो ग्रन्थ बनाए हैं, वे भी "तातस्थ्यात्ताच्छब्द्यम्" इस न्याय से इन्हीं नामों से प्रसिद्ध हैं। यहां भी वह विभाग ज्यों का त्यों विद्यमान है, जैसा कि "क्या उपनिषद् वेद है ? इस प्रकरण में विस्तार से बतलाया जानेंवाला है। अग्नित्रयीमयी मौलिक वेदत्रयी के निरूपण करने वाले शब्दराशिभूत त्रयीवेद का अग्नि से ही आरम्भ हुआ है।

अग्नि नाम से प्रसिद्ध पार्थिवाग्नि ऋग्वेदमूर्त्ति है। हम पार्थिव मनुष्यों के लिए वह अतिसन्निकट है, सामने ही अवस्थित है। अतएव इस पार्थिव अग्नि को हम "पुरोहित" कह सकते हैं। पार्थिव अग्नि के इसी पौरोहित्य धर्म्म को समझाने के लिए, ऋक्तत्व प्रतिपादिका पार्थिवाग्निमयी ऋक्संहिता का आरम्भ—"अग्निमीळे पुरोहितम्" इस रूप से हुआ है। वायु नाम से प्रसिद्ध आन्तरिक्ष्य अग्नि यजुर्वेदमूर्ति है। इसी के आधार पर हम अपनें व्रतों को (नियमित संकल्पों को) पूर्ण करने में समर्थ बनते हैं। जब तक शरीर में रक्तादि का सञ्चार होता है, तभी तक शरीर स्वस्थ एवं सुदृढ़ रहता है। स्वस्थ मनुष्य ही कर्म्म में सफलता से प्रवृत्त हो सकता है, एवं कर्म्म को यथावत् पूर्ण करने में समर्थ होता है। यह स्वस्थता शरीरगत धातु-सञ्चार पर ही निर्भर है। यह धातु सञ्चार आन्तरिक्ष्य वायुरूप यजुरग्नि के ही आधीन है। याज्ञिक परिभाषानुसार *'व्रत' नाम से प्रसिद्ध गतिधर्म्मा सारे कर्म्म "सर्वागतिर्याजुषी हैव शश्वत्"

---

*"अथा वयमादित्य व्रते तव"। व्रतमिति कर्म्म नाम, वृणोतीति सतः।" (या० नि० नै० का०२।१३।८।) इति। "अपः व्रतम्०" इति षड्विंशतिः कर्म्म नामाने" (या०नि०१।३।२।२।)।

इस पूर्वोक्त सिद्धान्त के अनुसार इसी यजु अग्निपर निर्भर है। सम्पूर्ण व्रतों (कर्म्मों) का
पति यही है। ऐसी दशा में हम इस आन्तरिक्ष्य तत्व को अवश्य ही **"व्रतपति"** कह सकते हैं।
इसी रहस्य को समझाने के लिए आन्तरिक्ष्याग्निमयी, यजुस्तत्वप्रतिपादिका **यजुःसंहिता** का
आरम्भ—**"अग्ने व्रतपेत व्रतं चरिष्यामि"** इत्यादि रूप से हुआ है। **आदित्य** नाम से प्रसिद्ध
द्युलोकस्थ अग्नि **सामवेदमूर्ति** है। द्युलोक पृथिवी से बहुत दूर है इस दिव्याग्नि का पार्थिव-अग्नि
प्रधान यजमान के आध्यात्मिक अग्नि में समिन्धन करके ही आहुति दी जाती है। **होता** नाम का
ऋत्विक् ही मन्त्र द्वारा इस दिव्याग्नि का वैध पार्थिव **अग्नि** के साथ सम्बन्ध कराता है। जो हमारे
से विप्रकृष्ट (दूर) होता है, उसी के लिए **"आयाहि"** (आओ) पद प्रयुक्त होता है। इसी विज्ञान
को समझाने के लिए दिव्याग्निमयी, सामतत्वप्रतिपादिका **सामसंहिता** का आरम्भ—**"अग्न
आयाहि वीतये"** इत्यादि रूप हुआ है।

यद्यपि प्रस्तुत यजुर्वेद संहिता के आरम्भ में **"इषे त्वोर्जेत्वा"** यह मन्त्र देखा जाता है।
परन्तु वास्तव में संहिता का आरम्भ—**"अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि"** इसी मन्त्र से समझना
चाहिए। **दर्शपूर्णमास** में इन्द्र के लिए **सान्नाय्य** (दधि) संपादन किया जाता है। सान्नाय्य सम्पाद-
नार्थ **इष्टि** के पूर्वदिन **"इषेत्वोर्जेत्वा"** इत्यादि मन्त्रप्रयोग करते हुए गोदोहन होता है। इस विशेष
कर्म्म के सम्बन्ध बतलाने के लिए ही आरम्भ में **"इषेत्वोर्जेत्वा"** इत्यादि मन्त्र का सन्निवेश कर
दिया गया **है**। वस्तुतः संहिता का आरम्भमन्त्र **"अग्ने व्रतपते०"** इत्यादि मन्त्र ही है। इस के लिए
सब से बड़ा प्रमाण **शतपथ ब्राह्मण है**। यह ब्राह्मण उक्त शुक्लयजुर्वेद संहिता का मानागया है।
ठीक संहिता मन्त्रों के अनुसार **शतपथ** का कर्म्मकलाप आगे चलता है। शतपथ का आरम्भ—
"व्रतमुपैष्यन्नन्तरेण गार्हपत्यं चाहवनीयं च प्राङ् तिष्ठन्नप उपस्पृशति" इस रूप से हुआ है।

"दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते०"-"दक्षस्य वादिते जन्मनि व्रते-कर्म्मणि" (या०नि० ११।२३-१)
"अस्नो अभि रक्षति व्रतम्"-"प्रत्नः पुराणोऽभिरक्षति, व्रतं कर्म्म" (या० नि १२।३२।१)।
इत्यादि स्थलों में व्रत शब्द को **कर्म्म** परक ही माना गया है।

अस्तु इस विषय को अधिक बढ़ाना प्रकृत से दूर जाना है। **ऋग्वेद की २१ शाखाएं ही क्यों होतीं हैं? यजु-साम-अथर्व के क्रमशः १०१, १०००, ९, इतनें ही अवान्तर भेद क्यों मानें गए हैं?** इत्यादि प्रश्नों के समाधान में निगूढतत्त्व छिपाहुआ है। प्राकृतिक नित्य वेद का जैसा स्वरूप है, ठीक वैसा ही स्वरूप इस शब्दात्मक पौरुषेयवेद का है। इन सब विषयों का विशदीकरण यथासम्भव अगले प्रकरण में करने की चेष्टा की जायगी। अभी हमें अपने पाठकों को ग्रन्थ-विभाग, एवं तत्प्रतिपादित विषयों की ओर ही लेजाना है।

"अथर्वब्रह्म गर्भित त्रयीब्रह्म ब्रह्म है" यह पूर्व में बतलाया जाचुका है। इस ब्रह्म विभाग में **विज्ञान-स्तुति-इतिहास** इन तीन विषयों का निरूपण हुआ है। प्रत्येक संहिता के कुछ एक मन्त्र **विज्ञानतत्व** का निरूपण करते हैं। कुछ एक मन्त्र तत्तद्देवताओं की **स्तुति** करते हुए उन का स्वरूप परिचय कराते हैं। एवं कुछ एक सूक्त **इतिहास** (मनुष्य चरित्र) की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। इन तीनों हीं निरूपणीय विषयों में परस्पर सङ्करता है। **वैज्ञानिकमन्त्र** गौणरूप से स्तुति-इतिहासमर्यादा का, **स्तुतिपरकमन्त्र** गौणरूप से विज्ञान-इतिहास का, एवं **ऐतिह्यमन्त्र** गौणरूप से विज्ञान स्तुतिमर्यादा संरक्षण करते हुए ही आगे चलते हैं।

वैदिकज्ञान को अनादिज्ञान माननें वाले श्रद्धालु **इतिहास** शब्द से भयभीत होजाते हैं। उन का विश्वास है कि यदि वेदों में इतिहास मानलिया जायगा तो वेदों का अनादित्व नष्ट होजायगा। थोड़ी देर के लिए अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए हम भी यह मान लेते हैं कि वेदों में इतिहास नहीं है। परन्तु एतावता भी वैदिकज्ञान का अनादित्व आप कथमपि सिद्ध नहीं कर सकते। वेदों में **सूर्य्य-चन्द्र-पृथिवी-विद्युत-अग्नि-वायु-इन्द्र-वरुण-मरुत्**-आदि प्राकृतिक देवताओं (पदार्थों) का इतिहास तो आप भी मानते ही हैं। इन सब की उत्पत्ति-स्थिति आदि का क्रम वेदसंहिताओं में बड़े विस्तार के साथ सुनिरूपित है, यह निर्विवाद एवं सर्वसम्मत पक्ष है। आप को यह मानना पड़ेगा कि अनादि ईश्वरीय ज्ञान की अपेक्षा **सूर्य्य-चन्द्रादि** सभी देवता **सादि** हैं। ऐसी अवस्था में यदि इन सादि पदार्थतत्वों के निरूपण से वेद का अनादित्व नष्ट नहीं होता तो मनुष्यचरित्र से ही यह आपत्ति कैसे उठाई जा सकती है। **त्रैकालज्ञ ईश्वर** के लिए सब कुछ

पहिले से ही विदित है। इसी आधार पर आप का **"धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** यह वचन चरितार्थ होता है। यदि ईश्वरीय ज्ञान भविष्य में होने वाले सूर्य्य-चन्द्रादि का इतिहास बतलासकता है तो भविष्य में उत्पन्न होने वाले मनुष्यों का इतिहास बतलादेना भी उस के लिए कठिन नहीं है। **भृगुसंहिता-रुद्रसंहिता-सत्यसहिता** तीन ग्रन्थ फलित सम्बन्ध में अपूर्व माने जाते हैं। भविष्य में होने वाले मनुष्यों के तीन तीन जन्मों का इतिहास पहिले से ही इन संहिताओं में उद्धृत रहता है। क्या वेदशास्त्र इन संहिताओं से कम महत्व रखता है? क्या **"भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति"** इस मानव सिद्धान्त का कोई मूल्य नहीं है? फलतः उक्त आशङ्का का हमारी दृष्टि में इतिहास मानलेने पर भी कोई महत्व नहीं रह जाता।

वस्तुतस्तु आज के विद्वानों ने जिस ग्रन्थ को अपौरुषेय नित्य वेद मान रक्खा है, विज्ञान दृष्टि में वह वेद नहीं, अपितु वेदतत्वप्रतिपादक पौरुषेय ग्रन्थ है, उस में अवश्य ही इतिहास है। हां मौलिक सर्वजगन्मूलभूत अग्नीषोममय अपौरुषेय वेद में अवश्य ही इतिहासमर्य्यादा का कोई सम्बन्ध नहीं है। अस्तु प्रकृत में कहना यही है कि **निगमशास्त्र** के **ब्रह्मभाग** में **विज्ञान-स्तुति-इतिहास** इन तीन विषयों का ही प्रधानरूप से निरूपण हुआ है।

यह तो हुई ब्रह्मभाग के विषयों की चर्चा। शेष रहता है **ब्राह्मणभाग**। पूर्व में कहा जा-चुका है कि सम्पूर्ण **उपनिषदें** अविद्यादिदोषों से जीवात्मा को पृथक् कर उसे निर्धूतपाप्मा बनाते हुए **ईश्वर** के साथ उस का योग करवा देतीं हैं। ईश्वरतत्व **ज्ञान-कर्म्म-अर्थमय** है। इधर तदंशभूत जीव भी ज्ञानकर्म्मार्थमय ही है। ऐसी दशा में इस का उसके साथ ज्ञान क्रिया-अर्थ इन तीन द्वारों से ही योग कराया जासकता है। अर्थद्वारा उसके साथ योग होना **कर्म्मयोग** है। इस कर्म्मतत्व का प्रतिपादन करने वाला ब्राह्मणभाग **विधि** नाम से प्रसिद्ध है। ज्ञानगर्भिता क्रिया द्वारा योग होना **उपासनायोग** है। यही **भक्तियोग** है। **मन्त्र-राज-लय-हठ** इन चारों योगों का इसी भक्तियोग में अन्तर्भाव है। इस उपासनायोग का प्रतिपादन करने वाला ब्राह्मणभाग **आरण्यक** नाम से प्रसिद्ध है। एवं अपने **आध्यात्मिक ज्ञान** का उस **ईश्वरीय ज्ञान** के साथ योग कराना **ज्ञानयोग** है। इस का स्वरूप बतलाने वाला ब्राह्मणभाग **उपनिषत्** नाम से प्रसिद्ध है।

प्रकारान्तर से देखिए। ईश्वर की अर्थकला **आधिभौतिकविश्व** की जननी है, क्रियाकला **आध्यात्मिकजगत्** की प्रतिष्ठा है। एवं ज्ञानकला **आधिदैविकविश्व** की सञ्चालिका है। आधिभौतिक पदार्थों को साधन बना कर अपने आत्मा को आधिभौतिकफल का भागी बनाना **कर्म्मयोग** है। आधिभौतिक पदार्थ साधनों द्वारा आधिदैविक फल प्राप्त करना **उपासनायोग** है। एवं आधिदैविक साधनों द्वारा आधिदैविक ही फल प्राप्त करना **ज्ञानयोग** है। इन तीनों में कर्म्मप्रधान ब्राह्मण (विधि) भाग **पूर्वकाण्ड** है, ज्ञानप्रधान उपनिषद्विभाग **उत्तरकाण्ड** है, एवं मध्यपतित ज्ञानकर्म्ममय आरण्यक विभाग **मध्यमकाण्ड** है। अर्थतत्व शुद्ध कर्म्मरूप होने से कर्म्मयोग है, मध्यपतिता, अतएव उभयात्मिका क्रिया भक्तियोग है। ज्ञानतत्व शुद्ध ज्ञानरूप होने से ज्ञानयोग है। **गीताविज्ञान** से पहिले दो ही निष्ठाएं (ज्ञाननिष्ठा एवं कर्म्मनिष्ठा) **भारतवर्ष** में प्रचलित थीं। इन्हीं के लिए गीता ने **सांख्यनिष्ठा, योगनिष्ठा** यह शब्द व्यवहृत किए हैं। जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट होजाता है—

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्म्मयोगेन योगिनाम् ॥ (गी० ३।३)।

मध्यपतिता **उपासना** में **ज्ञान-कर्म्म** दोनों का समावेश है। अत एव उपासनाकर्म्म में **मनोयोग** रूप ज्ञानयोग को भी अपनाना पड़ता है, एवं कर्म्मरूप **षोडशोपचार** आदि का भी समावेश करना पड़ता है। वस्तुतस्तु उभयस्वरूप उपासनातत्वप्रतिपादक इस आरण्यक भाग का **उपनिषत्** में ही अन्तर्भाव मान लिया जाता है, जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट हो जायगा।

उक्त तीनों काण्डों की मीमांसा करने वाले स्वनामधन्य प्रातःस्मरणीय **जैमिनि-शाण्डिल्य वेदव्यास** नाम के आचार्य हैं। पूर्वकाण्डरूप विधिभाग की मीमांसा करने वाला भाग **पूर्वमीमांसा** नाम से प्रसिद्ध है। **जैमिनि** इस के प्रवर्त्तक हैं। अत एव यह पूर्वमीमांसा दर्शन **जैमिनिदर्शन** नाम से भी प्रसिद्ध है। मध्यस्थ आरण्यक भाग की मीमांसा करने वाला दर्शन आचार्य नाम की प्रधानता से **शाण्डिल्यदर्शन** नाम से प्रसिद्ध है। एवं उत्तरकाण्डरूप उपनिषत् भाग की मीमांसा करने वाला भाग **उत्तरमीमांसा** नाम से प्रसिद्ध है। महामुनि **व्यास** इस के प्रवर्त्तक हैं। अत

एवं यह दर्शन **व्यासदर्शन** नाम से भी व्यवहृत किया जाता है। उपनिषत् वेद का अन्तिम भाग है, अतएव उपनिषत् शास्त्र को **वेदान्त** कहा जाता है। अतएव तत्प्रतिपादक व्यासदर्शन को **वेदान्तदर्शन** नाम से व्यवहृत किया गया है।

ज्ञान-क्रिया-अर्थ इन तीनों का अध्यात्मसंस्था की **मन-प्राण-वाक्** इन तीन कलाओं के साथ क्रमिक सम्बन्ध है। मन **ज्ञानशक्तिमय है**, प्राण **क्रियाशक्तिमय** है, एवं वाक्तत्व **अर्थशक्तिमय** है। मन **उक्थ** (प्रभवस्थान) है, प्राण इस उक्थ के **अर्क** (रश्मिएं) हैं, वाक् **अशिति** (अन्न) है। हृदयस्थित मन प्राणात्मिका रश्मियों के द्वारा वाङ्मय अन्न का भोग किया करता है। **तन्त्रशास्त्र** में यही तीनों **नैगमिक** कलाएं क्रमशः **पशुपति-पाश-पशु** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। पशुपति **ज्ञानमय** है, **मनोमय** है। पाश **क्रियामय** है, **प्राणमय** है. पशु **अर्थमय** है, **वाङ्मय** है। तीनों की समष्टि **"सर्वम्"** है। वाक्भाग **भूतप्रधान** है, प्राणभाग **देवप्रधान** है, मनोभाग **आत्मप्रधान** है। भूतमय वाग्भाग **भूतमात्राप्रधान** पाञ्चमहाभौतिक **स्थूलशरीर** की अधिष्ठानभूमि है, देवमय प्राणभाग **प्राणमात्राप्रधान सूक्ष्मशरीर** का प्रवर्त्तक है, एवं आत्ममय मनोभाग **प्रज्ञामात्राप्रधान कारणशरीर** का आलम्बन है। इस प्रकार आत्मा-देवता-भूतमय, मन-प्राण-वाक् ही **"सर्वम्"** है। इन तीनों में मनप्रधान आत्मा **अध्यात्मसंस्था** है, प्राणप्रधान देवमण्डल **अधिदैवतसंस्था** है, एवं वाक्प्रधान भूतमण्डल **अधिभूतसंस्था** है। अधिभूतसंस्था का कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक **विधिभाग** से सम्बन्ध है, कर्म्मभाग का भूत से ही नेदिष्ठ सम्बन्ध है। अधिदैवतसंस्था का उपासनाकाण्डप्रतिपादक **आरण्यकभाग** से सम्बन्ध है, उपासना देवता की ही हो सकती है। आत्मा का केवल ज्ञान ही होसकता है। एवं अध्यात्मसंस्था का ज्ञानकाण्डप्रतिपादक **उपनिषद् भाग** से सम्बन्ध है।

इसी पूर्वोक्त स्थितिक्रम का समादर करते हुए प्राचीनों ने **विधि-आरण्यक-उपनिषत्** इन तीनों के क्रमशः **कर्म्मयोगत्व-भक्तियोगत्व-अध्यात्मविद्यात्व** यह अवच्छेदक मान रक्खे हैं। कर्म्म-एवं उपासना से जीवात्मा ईश्वर के साथ अभिन्न बनने में असमर्थ ही रहता है। उपासना से केवल **सामीप्यभाव** की प्राप्ति होसकती है। **सायुज्य**, किंवा **निर्वाणभाव** तो ज्ञानयोगापर-

पर्य्यायक **औपनिषदूज्ञान** पर ही निर्भर है। इसी सायुज्यभाव को प्रकट करने के लिए वेद के इस अन्तिमभाग का नाम **"उपनिषत्"** रक्खा गया है। उपासना में केवल **"उप-आसन"** (समीप बैठना-ईश्वर के समीप पहुंचना) है। इधर उपनिषत् में **"नि"** और विशेष है। 'उप' का अर्थ है "समीप", **"नि"** का अर्थ है **"नितराम्"**। "षत्" का अर्थ है **"बैठना"**। जिस (आत्म-औपनिषत्) विद्या के द्वारा जीवात्मा अपने प्रभव ईश्वर में सर्वात्मना (अभिन्नभाव से) प्रतिष्ठित होजाता है, दूसरे शब्दों में **तादात्म्यभावापन्न** होजाता है, वही विद्याविभाग **"उपनिषीदन्ति यया"** इस निर्वचन के अनुसार **"उपनिषत्"** नाम से प्रसिद्ध होता है। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों नें उक्त विभाग प्रदर्शन द्वारा उपनिषत् शब्द से वेद के चौथे भाग का ही ग्रहण किया है। उन का विश्वास है कि अध्यात्मविद्याप्रतिपादक **ईश केन-कठ-प्रश्न** आदि नामों से प्रसिद्ध वेद के अन्तिम भागों के लिए ही **उपनिषत्** शब्द प्रयुक्त हुआ है **उपनिषत्** शब्द एकमात्र सुप्रसिद्ध **ईश-केनादि** उपनिषदों के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। यह है उपनिषत् शब्द सम्बन्धिनी प्राचीन मत मीमांसा। इस मीमांसा के सम्बन्ध में जिन **ज्ञान-क्रिया-अर्थ**विवर्तों का दिग्दर्शन कराया गया है, निम्नलिखित परिलेखों से उन सब का स्पष्टीकरण होजाता है।

१—

१—ऋग्वेदः ——→ २१—शाखाभेदभिन्नः	}	—→ ब्रह्मवेदः
२—यजुर्वेदः ——→ १०१—शाखाभेदभिन्नः		
३—सामवेदः ——→ १०००—शाखाभेदभिन्नः		
४—अथर्ववेदः ——→ ९—शाखाभेदभिन्नः		

११३१-वेदशाखाविभागः

२— अथर्व—वेदः {
ऋग्वेदः—→अर्थप्रधानः (अर्थः)—→अग्निमयः
यजुर्वेदः—→क्रियाप्रधानः (क्रिया)—→वायुमयः
सामवेदः—→ज्ञानप्रधानः (ज्ञानम्)—→आदित्यमयः
} —→त्रयीवेदः

———o———

३—
१—विधिभागः——→अर्थप्रधानः——→कर्मकाण्डम्
२—आरण्यकभागः→क्रियाप्रधानः—→उपासनाकाण्डम्
३—उपनिषद्भागः—→ज्ञानप्रधानः——→ज्ञानकाण्डम्
} —→ब्राह्मणवेदः

———o———

१—१—विज्ञानकाण्डम्
२—२—स्तुतिकाण्डम्
३—३—इतिहासकाण्डम्
} —→ब्रह्मवेदस्य निरूपणीयविषयाः

४—
४—१—कर्मकाण्डम्
५—२—उपासनाकाण्डम्
६—३—ज्ञानकाण्डम्
} —→ब्राह्मणवेदस्य निरूपणीयविषयाः

———o———

५—
१—मनः——ज्ञानम्—उक्थम्——पशुपतिः—आत्मग्रामः
२—प्राणः—क्रिया—अर्काः——पाशः——देवग्रामः
३—वाक्——अर्थः—अशितयः—पशुः——भूतग्रामः
} —→"सर्वम्"

———:o:———



पनिषच्छब्दार्थ के सम्बन्ध में प्राचीन व्याख्याताओं के जो विचार हैं, उन का हम विरोध नहीं करते। साधारण मनुष्यों के लिए यह प्राचीनदृष्टि आदरणीया होसकती है। परन्तु एक वैज्ञानिक मनुष्य इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होसकता। उस की दृष्टि में उपनिषत् शब्द का वाच्यार्थ कुछ और ही है। **उपनिषत्** शब्द का सम्बन्ध एकमात्र **ज्ञानकाण्ड** प्रधान **अध्यात्मविद्याशास्त्र** के साथ ही नहीं है। अपितु **ज्ञान-कर्म्म-उपासना** तीनों के साथ उपनिषत् शब्द का घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारा तो यह भी विश्वास है कि उपनिषत् शब्द की व्याप्ति (दौड़) शास्त्रमर्य्यादा तक ही सीमित नहीं है, अपितु सांसारिक लौकिक कर्म्मों में भी उक्त शब्द की पूर्ण व्याप्ति है। जैसा कि आगे जाकर स्पष्ट होजायगा।

प्रत्येक शब्द का एक **अवच्छेदक** हुआ करता है। अन्य धर्म्मों से उस पदार्थ को पृथक् करके बतलाने वाला, एवं साथ ही में उस पदार्थ को स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित रखने वाला जो धर्म्म है, वही **कथाशास्त्र** (न्यायशास्त्र) में **अवच्छेदक** नाम से व्यवहृत हुआ है। घट पदार्थ पटादि इतर यच्च यावत् पदार्थों से पट पदार्थ घटादि इतर यच्चयावत् पदार्थों से भिन्न है। इसी प्रकार **मनुष्य, पशु, पक्षि, कृमि, कीट, ओषधि,** वनस्पति आदि सब पदार्थ परस्पर में एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। सब के **नाम-रूप-कर्म्म** पृथक् पृथक् हैं। यह पार्थक्य एकमात्र उस अवच्छेदक तत्व पर ही निर्भर है। "**एकं वा इदं विबभूव सर्वम्**" (ऋक्०८।४।२८।) के अनुसार सम्पूर्ण प्रपञ्च का मूल कोई एक ही तत्व है। इस प्रकार एक ही तत्व से उत्पन्न होने पर भी केवल अवच्छेदक भेद से ही सब पदार्थ भिन्न भिन्न स्वरूपों में परिणत हो रहे हैं। प्रत्येक शब्द की **यत्किञ्चित्पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में ही शक्ति रहती है। शब्द** किसी न किसी अर्थ का **वाचक है**। वह अवश्य ही किसी न किसी अवच्छेदकावच्छिन्न पदार्थ से सम्बन्ध रखता है। सर्वव्यापक **ईश्वरतत्व** का कोई अवच्छेदक नहीं है। अवच्छिन्न सभी पदार्थों का उस में समावेश है। सर्वधर्म्मोपपन्न उस अनवच्छिन्न का कोई धर्म्म व्यावर्त्तक नहीं बन सकता। ऐसी अवस्था में अवच्छेदकावच्छिन्न पदार्थ के वाचक किसी भी शब्द की वहां दौड़ संभव नहीं है। इसी आधार पर उस के लिए श्रुति कहती है —

संविदन्ति न यं वेदा विष्णुर्वेद न वा विधिः।
यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ॥

परन्तु सर्वधर्म्मोपपन्न उस एक तत्व को छोड़कर उस के उदररूप विश्व में और जितने भी पदार्थ हैं, उन सब का कोई न कोई व्यावर्त्तक अवश्य ही रहता है। उसी व्यावर्त्तक को न्यायभाषा में अवच्छेदक कहा जाता है। यह अवच्छेदक उस पदार्थ को इतर पदार्थों से भिन्न करवाता है, अतएव इसे "**भेदक**" भी कहा जाता है। **अवच्छेदक** द्वारा इतर पदार्थों से पृथग्भूत पदार्थ **अवच्छिन्न** कहलाता है। भेदक द्वारा **भिद्यमान** पदार्थ ही **अवच्छिन्न** है। इसी अवच्छेदक, किंवा भेदक तत्व को **याज्ञिक** परिभाषा में *"छन्द" कहा जाता है। प्रत्येक वस्तु अवच्छेदक से अवच्छिन्न रहती है, इस वाक्य का हम "**प्रत्येक वस्तु छन्द से छन्दित** रहती है" इस रूप से अभिनय कर सकते हैं। यही छन्द, किंवा अवच्छेदक **विज्ञान** भाषा में "**वयोनाध**" नाम से व्यवहृत हुआ है। "**वय**" पदार्थ का वाचक है। वयरूप पदार्थ को सीमित बना कर उसे इतर पदार्थों से पृथक् करनें वाला तत्व ही "**वयोनाध**" है। एक ही अग्नि वयोनाधापरपर्य्यायक इस छन्दोभेद से ही **अग्नि-वायु इन्द्र-वसु-रुद्र-आदित्यादि** भेद से ३३ रूप धारण करलेता है। एक ही **अपतत्व** (पानी) केवल इस छन्द की कृपा से ही **समुद्र-सरोवर-नद-नदी वापी-कूप-आदि** अनेक नाम धारण कर लेता है। संसार में जितनें प्रकार के छन्द हैं, उन सब की गणना संग्रहरूप से **यजुर्वेद संहिता** में कर दी गई है। **पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्यौ दिक्** इन चार विभागों में सब कुछ समाविष्ट है। इसी आधार पर—'**चतुष्टयं वा इदं सर्वम्**' (कौ०ब्रा०२।१।) यह वचन प्रसिद्ध है। पृथिवी का छन्द "**मा**" है, अन्तरिक्ष का "**प्रमाछन्द**" है द्युलोक का "**प्रतिमाछन्द**" है, दिक् का '**अस्रीविछन्द**' है। आयतन का नाम ही छन्द है। सीमाभाव ही छन्द है। आकृति ही छन्द है। यही अवच्छेद किंवा भेदक है। **अवच्छेदक परिमाण-आयतन-भेदक-सीमाभाव-वयोनाध-छंद**-आदि सब शब्द प्रायः समानार्थक है। एवमेव

*इस विषय का विशद विवेचन **शतपथ हिन्दी-विज्ञानभाष्य** प्रथम वर्ष ६-७ अंकों में देखना चाहिए।

अवच्छिन्न-परिमित-भिन्न-सीमित-वय-छन्न-आदि सब शब्द प्रायः समानार्थक हैं। अवच्छिन्न स्वरूप सम्पादन करने वाला अवच्छेदक तत्व **संस्कृतसाहित्य** में **'त्व'** नाम से व्यवहृत हुआ है। जिसे लोक भाषा में (अपना)–**'पना'** कहते हैं, उसी के लिए **भारतीभाषा** में त्व शब्द प्रयुक्त हुआ है। **घट** पदार्थ में **कम्बुग्रीवादिमत्व** रूप जो एक **घटपना** है–(जिस घटपने से घट पदार्थ स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित हो रहा है) वही पना घट का **घटत्व** है। घटत्व ही घट का अवच्छेदक है। घटत्वावच्छेदकावच्छिन्नतया घट इतर पदार्थों से पृथक् हो रहा है।

संसार में जितनें भी पदार्थ हैं, उन सब में यह सामान्य व्यवस्था समझनी चाहिए। यही अवच्छेदक **दार्शनिकभाषा** में **जाति** नाम से प्रसिद्ध है। घटमात्र में (सम्पूर्ण घड़ों में) घटत्व अवच्छेदक समानरूप से विद्यमान है। अत एव जाति को **सामान्य** कहा जाता है। **"जातिर्जातं च सामान्यं व्यक्तिस्तु पृथगात्मता"** के अनुसार जाति सामान्या है। व्यक्तिका सम्बन्ध **पृथगात्मता** से है। इस प्रकार जब यह सिद्ध होजाता है कि प्रत्येक शब्द की यत्-किञ्चित् पदार्थतावच्छेदकावच्छिन्न में शक्ति है तो प्रकृतस्थल के **ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत्** इन तीनों शब्दों के सम्बन्ध में भी वही न्याय घटित होना चाहिए।

उक्त तीनों शब्दों के अवच्छेदक कौन ? इस प्रश्न का उत्तर प्राचीनों की ओर से **कर्म्मयोगत्व-उपासनायोगत्व-**आत्मविद्यात्व इन अवच्छेदकों द्वारा मिलता है, जैसा कि पूर्वकी प्राचीनदृष्टि में विस्तार से बतलाया जाचुका है। ब्राह्मण एवं आरण्यक के अवच्छेदकों के विषय में प्रकृत में विशेष वक्तव्य नहीं है। कहना है केवल उपनिषत् शब्द सम्बन्धी अवच्छेदक के विषय में। हमारे विचार से **"अध्यात्मविद्यात्व,,** ही उपनिषत्शास्त्र का अवच्छेदक नहीं होसकता। यदि उपनिषत् द्वारा केवल आत्मविद्या का ही निरूपण होता, तब तो प्राचीनों का मत ठीक था, परन्तु ऐसा नहीं है। कर्म्मप्रतिपादक **ब्राह्मणग्रन्थों** में, एवं उपासना प्रतिपादक **आरण्यकग्रन्थों** में भी उपनिषत् शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है, जब कि प्राचीनों के मतानुसार **ब्रा० आर०** दोनों ही ग्रन्थ अध्यात्मविद्या की मर्यादा से सर्वथा बहिर्भूत है। ऐसी स्थिति में अध्यात्मविद्यात्व

कथमपि उपनिषत् पदार्थ का अवच्छेदक नहीं बन सकता। उपनिषत् पदार्थ के यथार्थ स्वरूप परिचय के लिए ही निम्न लिखित लक्षण को ही अपनाना पड़ेगा।

"तत्तत् कर्म्मकलापेतिकर्त्तव्यताप्रकारविशेषोपपादकत्त्वेन-
व्यवस्थितो यो विज्ञान सिद्धान्तः—सा तत्तत् कर्म्मण उपनिषत्"
(श्रीगुरुप्रणीत-ब्रह्मविज्ञान) इति।

"उन उन कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यताओं की उपपत्ति के आधार पर व्यवस्थित जो (मौलिक) विज्ञानसिद्धान्त है, वही उस उस कर्म्म की उपनिषत् है" इस लक्षण की प्रामाणिकता पर विश्वास करने से ही उपनिषत् पदार्थ के अवच्छेदक की सङ्गति हो सकती है।



ज्ञानकाण्डवत् कर्म्म-एवं उपासनाकाण्ड में भी उपनिषत् शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है। उदाहरणार्थ पहिले कर्म्मकाण्ड सम्बन्धी दो एक निदर्शन पाठकों के सम्मुख उपस्थित किए जाते हैं। सम्पूर्ण कर्म्मकलाप **पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ** भेद से दो भागों में विभक्त है। जिन कर्म्मों के फलों का **पुरुष** (कर्म्मकर्त्ता व्यक्ति) के साथ साक्षात् सम्बन्ध है, वे कर्म्म पुरुष की प्रातिस्विक सम्पत्ति बनते हुए, दूसरे शब्दों में पुरुष के लिए नियत बनते हुए—"**पुरुषार्थकर्म्म**" नाम से प्रसिद्ध होते हैं। [1]**अग्निष्टोम**, [2]**अत्यग्निष्टोम**, [3]**उक्थ्यस्तोम**, [4]**षोडशीस्तोम**, [5]**वाजपेयस्तोम**, [6]**अतिरात्रस्तोम**, [7]**अप्तोर्यामस्तोम** भेदभिन्न सप्तसंस्थ **ज्योतिष्टोमयाग** (सोमयाग), **राजसूय--वाजपेय-अश्वमेध--चयन--शिरोयाग-गवामयन--अङ्गिरसामयन--आदित्यानामयन** आदि यज्ञकर्म्म स्वतन्त्र रूप से स्वर्गादि फल प्राप्ति के साधन बनते हुए—"**पुरुषार्थ**" कर्म्म हैं। इन कर्म्मों से यज्ञकर्त्ता पुरुष की अर्थसिद्धि (अभीष्टफलावाप्ति) होती है। एवं **अग्न्याधान, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध विष्णुक्रम, वात्सप्र, वसिष्ठयाग, पिण्डपितृयज्ञ** आदि अवान्तरकर्म्म **क्रत्वर्थकर्म्म** हैं। पुरुषार्थ कर्म्म को "**क्रतु**" कहा जाता है। उक्त अवान्तर अङ्गकर्म्मों से इन पुरुषार्थरूप क्रतुओं का स्वरूपसंपन्न होता है, दूसरे शब्दों में अग्न्याधानादि अङ्गकर्म्म क्रतु के लिए हैं, इन का साक्षात् सम्बन्ध यज्ञकर्त्ता पुरुष के साथ न होकर क्रतु के साथ होता है, अतएव इन अङ्गकर्म्मों को **क्रत्वर्थ कर्म्म** (क्रतुरूप पुरुषार्थ कर्म्म के स्वरूप संपादन करने वाले कर्म्म) कहना न्याय संगत होता है।

पुरुषार्थ कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता भिन्न है, **क्रत्वर्थ** कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता पृथक् है। दर्शपूर्णमास एक क्रत्वर्थ कर्म्म है। इस की स्वरूपनिष्पत्ति के लिए भी **व्रतग्रहण, अपांप्रणयन, इध्मसंनहन, पुरोडाशसम्पादन पात्रासादन, पात्रप्रतपन, पात्रप्रोक्षण, हविर्ग्रहण, ब्रह्मवरण**, आदि अवान्तर अनेक कर्म्म करने पड़ते हैं। इन अवान्तर अनेक कर्म्मों से एक **क्रत्वर्थ-कर्म्म** का स्वरूप निष्पन्न होता है। एवं ऐसे ऐसे अनेक क्रत्वर्थकर्म्मों से एक **पुरुषार्थकर्म्म** की सिद्धि होती है। इन सब कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता का पार्थक्य तो इन कर्म्मों के भेद से ही सिद्ध है। इस भिन्नता का कारण वही **उपनिषत्** है। नियत विज्ञान-सिद्धान्त की भित्ति पर ही तत्तत्

कर्म्मकलाप की इतिकर्त्तव्यता प्रतिष्ठित है। "अमुककर्म्म अमुक प्रकार से क्यों किया जाता है?" उत्तर वही विज्ञानसिद्धान्त है। वही तत्तत्कर्म्मों की उपनिषत् है।

"तिष्ठद्धोमा वषट्कारप्रदाना याज्यापुरोऽनुवाक्यावन्तो यजतयः"
(का० श्रौ० १।२।६।)

"उपविष्टहोमा स्वाहाकारप्रदाना जुहोतयः" (का० श्रौ० १।२।७।)।

इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार खड़े खड़े वषट्कार पूर्वक (इन्द्राय वौषट्-इत्यादिरूप से) आहुतिदेना यागकर्म्म है, एवं बैठकर स्वाहापूर्वक आहुतिदेना होमकर्म्म है। इस भेद का क्या मूल? क्या उपपत्ति? उत्तर वही औपनिषद विज्ञानसिद्धान्त। अग्न्यादि देवताओं के लिए स्वाहा पूर्वक, अग्निष्वात्तादि पितरों के लिए स्वधा पूर्वक, इन्द्र के लिए वौषट् पूर्वक, मनुष्यों के लिए नमः पूर्वक ही आहुति क्यों दी जाती है? उत्तर वही उपनिषत्। अमुक कर्म्म अमुक रूप से ही करना चाहिए, तभी वह फलप्रद हो सकता है, अन्यथा नहीं। क्यों? इत्यादि सब जिज्ञासाओं को शान्त करने वाला, हमारे अन्तरात्मा से स्वभावतः निकलने वाले क्यों? का एकमात्र समाधान वही विज्ञानसिद्धान्तरूप उपनिषत् है। तत्तद् विज्ञान सिद्धान्त के आधार पर ही तत्तद् कर्म्मकलाप सुप्रतिष्ठित हैं। जिस कर्म्म का जो मूलभूत सिद्धान्त है, वही उस कर्म्म की उपनिषद् है। यज्ञकर्म्म में दीक्षित यजमान को सत्यभाषण ही करना चाहिए, पयोव्रती ही रहना चाहिए, शकट से ही हविर्ग्रहण करना चाहिए, अग्निष्टोम नाम की ज्योतिष्टोमसंस्था में आग्नेय वार्ध्रीनस अज पशु का ही आलम्भन (संज्ञपन-मारण) करना चाहिए, यज्ञशाला प्राक्प्रवणा, अथवा उदक्प्रवणा भूमि में ही होनी चाहिए, यज्ञकर्त्ता द्विजाति को शूद्र से सम्भाषण नहीं करना चाहिए, इत्यादि विषयों का समुचित समाधान करने वाला प्रकृतिसिद्ध, अतएव सुव्यवस्थित नित्यविज्ञान सिद्धान्तरूप उपनिषत् ही है। उपनिषत् शब्द इसी अर्थ में निरूढ है। स्वयं उपनिषत् शब्द भी इसी अर्थ को प्रकट कर रहा है। "उप[1]-नि[2]-षत्[3]" इन तीनों विभागों का क्रमशः "उपपत्ति[1]-निश्चय[2]-स्थिति[3]" यह अर्थ है। उपपत्तिज्ञान से उस कर्म्म में निश्चयभाव (दृढविश्वास)

उत्पन्न होजाता है। तदनन्तर उस कर्म में स्थितिभाव (तत्परता-कर्मप्रवणता) का उदय होता है। उपनिषत् ज्ञान का उसे फल मिल जाता है। निष्कर्ष यही हुआ कि **जिस उपपत्ति ज्ञान के प्रभाव से जो कर्त्तव्य कर्म्म कर्त्तव्यत्वेन मनुष्य के हृदय में दृढमूल होजाता है, वह उपपत्तिज्ञान ही उस कर्त्तव्यकर्म्म की उपनिषत् है।**

"अर्थलोलुप पश्चिमीराष्ट्रों के प्रबल वेग से बढते हुए शस्त्रास्त्रीकरण से निकट भविष्य में ही महासमर छिड़ने वाला है, इस लिए अभी से सस्ते भाव में वस्तुएं खरीदलो" इस उपनिषत् के आधार पर एक उपनिषद्वेत्ता व्यापारी वस्तुक्रय करलेता है। एवं समर के समय उसे आशातीत सफलता मिलजाती है। **"युद्ध के कारण तत्तद्राष्ट्रों के साथ होने वाला वस्तुओं का क्रय-विक्रय अवरुद्ध होजाता है, फलतः देशों का व्यापार शिथिल हो जाता है। इसी लिए वस्तुओं की महर्घता (महगांई) अवश्यंभाविनी है। अतएव लाभ होना स्वाभाविक है।"** युद्ध के समय क्यों लाभ होगा? इस की यही उपनिषत् है। इस उपपत्ति से दृढनिश्चयी बन कर व्यापारी उस कर्म्म में स्थित होजाता है। इस औपनिषत् ज्ञान का फल उसे मिल जाता है। जिस के कि प्रत्यक्ष उदाहरण हमारे शेखावाटी के कलकत्ता-बम्बई निवासी मारवाड़ी श्रेष्ठ (सेठ) ही पर्य्याप्त हैं।

उपपत्ति द्वारा जो विषय निश्चितरूप से आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाता है। उपपत्ति (उप) पूर्विका वह निश्चित (नि) प्रतिपत्ति (षत्), चित्त का **"इदं कर्त्तव्यमेव"** यह विश्वास ही उपनिषत् है। **'उप (उपपत्तिद्वारा) नि (नितरां निश्चयेन वा) सीदति (तत्र कर्म्मणि तत्परभावेन प्रतिष्ठितोभवति"** बस उपनिषत् शब्द की यही यथार्थ व्युत्पत्ति है। उपनिषद्ज्ञानपूर्वक, विज्ञानानुमोदित निश्चयज्ञानपूर्वक जो कर्म किया जाता है, उस में अधिक बल रहता है। ऐसे मनुष्य को विश्वास रहता है कि मैं अमुक कर्म्म व्यर्थ नहीं कर रहा, अपितु उपनिषत् से कर रहा हूं। ऐसे दृढनिश्चयी का यह कर्म्म अवश्य ही बलवत्तर हो जाता है। उपनिषत् शब्द के इसी उक्तार्थ-विज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"नाना तु विद्या चाविद्या च। स यदेव विद्यया करोति,
श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति"
(छा०उप० १।१।१०) इति ।

तत्तत् कर्म्मविषयक पूर्णज्ञान "विद्या है। कर्म्म में प्रवृत्ति का मुख्य एवं पहिला साधन विद्या ही है। कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता का ज्ञान ही प्रकृत में विद्या शब्द से अभिप्रेत है। एवं उस कर्म्म में श्रद्धाभाव की उत्पत्ति के लिए उपनिषद्ज्ञान (उपपत्तिज्ञान अपेक्षित है। "यदि **विद्या-श्रद्धा-उपनिषत्** इन तीनों का एक कर्म्म में समन्वय हो जाता है, दूसरे शब्दों में जो व्यक्ति **विद्या** (कर्म्मेतिकर्त्तव्यता सम्पादक कर्म्म विषयक ज्ञान), **श्रद्धा** मनोयोग) **उपनिषत्** (उपपत्तिज्ञान) पूर्वक कर्म्म करता है तो उस का वह कर्म्म निःसन्देह बलवत्तर होता हुआ यथावत् संपन्न हो जाता है।" उक्त छान्दोग्य श्रुति का यही तात्पर्य्य है। अध्यात्मविद्यात्व को ही उपनिषत् का अवच्छेदक मानने वाले, दूसरे शब्दों में ईश-केन-कठादि उपनिषदों को ही उपनिषत् शब्द का वाचक मानने वाले महानुभावों से क्या हम यह पूछ सकते हैं कि पूर्व की छान्दोग्य श्रुति में उपात्त उपनिषत् शब्द का क्या भवदभिमत अर्थ है? क्या वहां का उपनिषत् शब्द ईश-केनादि का वाचक है? नहीं तो फिर किस आधार पर, एवं क्यों आपके मत का आदर किया जाय। अस्तु विषय आवश्यकता से अधिक विस्तृत होता जारहा है, अतः दो एक उदाहरण बतला कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

"यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म्म" (शत० १।७।१।५) के अनुसार यज्ञकाण्ड का ही नाम विद्यासापेक्षप्रवृत्तिसत्कर्म्म है। दान एवं तप का भी इसी प्रवृत्तिकर्म्म में अन्तर्भाव है। प्राण-आप-वाक्-अन्न-अन्नाद भेद भिन्न पंचप्रकृतिविशिष्ट यज्ञप्रजापति के पञ्चावयव सर्वहुतयज्ञ के आधार पर वितत हमारा वैधयज्ञ (मनुष्यों के द्वारा कियाजाने वाला यज्ञ) भी "पाङ्क्तो वै यज्ञः" इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार अग्निहोत्र[1], दर्शपूर्णमास[2], चातुर्मास्य[3], पशुबंध[4], ज्योतिष्टोम[5] भेद से पांच ही भागों में विभक्त है। हमारा वैधयज्ञ पाङ्क्त (पञ्चावयव) ही क्यों है? इस

प्रश्न की उपनिषत् वही **प्राकृतिक नित्य यज्ञ** है। **संवत्सराग्नि** में **पारमेष्ठ्य ऋतसोम** की आहुति होती है। इसी से **संवत्सरयज्ञ** का स्वरूप निष्पन्न होता है। **अहोरात्र-पक्ष ऋतु-अयन संवत्सर** भेद से उस अग्नीषोमात्मक यज्ञ के पांच पर्व हो जाते हैं। अहोरात्रयज्ञ ही **"अग्निहोत्र"** है। पक्षयज्ञ ही **दर्शपूर्णमास** है। ऋतुयज्ञ ही **चातुर्मास्य** है। अयनयज्ञ ही **पशुबन्ध** है। एवं संवत्सरयज्ञ ही **ज्योतिष्टोम** किंवा **सोमयाग** है। प्राकृतिक आधिदैविक नित्य यज्ञ की यही पांच विधा है। **"देवाननु विधा वै मनुष्याः, यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"** इत्यादि निगम सिद्धान्त के अनुसार उसी प्राकृतिक नित्ययज्ञ की प्रतिकृति (नकल) हमारा यह वैधयज्ञ है। अतएव प्रकृतिवत् यह भी पाङ्क्तमर्यादा से ही सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार हम क्यों पांच विधाओं का अनुगमन करें ? इस प्रश्न की निवृत्ति उक्त नित्य यज्ञ की पाङ्क्तता से भलीभांति हो जाती है।

पूर्वोक्त पांचों यज्ञों में संवत्सरयज्ञ ही प्रधान है। **सूर्य्य**भगवान् ही इस यज्ञ के प्रवर्त्तक हैं। **मनोता**विभाग के अनुसार सूर्य्य में **ज्योति-गौ-आयु** यह तीन **मनोता** हैं। तीनों से क्रमशः **देवता, भूत-आत्मा** का विकास होता है। सूर्य्य का ज्योतिर्भाग **देवगण** की प्रतिष्ठा है, गौभाग **भूततत्व** की प्रतिष्ठा है, एवं आयुभाग **आत्मा** की आलम्बनभूमि है। इन्हीं तीनों सौर मनोताओं से क्रमशः **ज्योतिष्टोम-गोष्टोम-आयुष्टोम** इन स्तोमयज्ञों की प्रवृत्ति होती है। इन तीनों में से प्रकृत में ज्योतिष्टोम की ओर ही पाठकों का ध्यान आकर्षित किया जाता है। सूर्य्य में प्रधानरूप से सातरश्मियों का सम्बन्ध माना जाता है, जैसा कि निम्नलिखित श्रौत वचनों से स्पष्ट है।

१—"यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्त्तवे सप्तसिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः॥"

(ऋक्सं० २।१२।१२)।

२—"यस्सप्तरश्मिरिति—सप्त ह्येत आदित्यस्य रश्मयः" (जै०उ० १।२६।८)।

३—"स एष (आदित्यः) सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मान्" (जै०उ० १।२८।२)।

आत्मगतिविद्या के अनुसार इन्हीं सात रश्मियों के कारण शनिकक्षा से सम्बन्ध रखने वाले **यमलोक** के सात भेद हो जाते हैं। यही सात **नरक** हैं। इन्हीं के लिए भगवान् बादरायण

ने—"अपि च सप्त" (शा०८०३।१।१५।) यह कहा है। आगे जाकर २८ नक्षत्रों के सम्बन्ध
से ७ के २८ नरक होजाते हैं*। प्रकृत में इस प्रपञ्च से यही बतलाना है कि सप्तरश्मियों के कारण
सौरज्योतिर्भाग भी सात ही भागों में विभक्त होजाता है। ऐसी स्थिति में नित्य सौर ज्योतिष्टोम यज्ञ
सप्तसंस्थ बन जाता है। वैध सप्तसंस्थ ज्योतिष्टोम की उपनिषत् यही सप्तसंस्थ नित्य ज्योतिष्टोम यज्ञ
है। इन सातों ही अग्निज्योतियों में पारमेष्ठ्य सोम की आहुति होती रहती है, अतएव इन सातों
की समष्टिरूप ज्योतिष्टोम को **सोमयाग** कहा जाता है।

पुरुषार्थकर्म्म रूप सोमयज्ञ के अङ्गभूत **अग्निहोत्र-दर्शपूर्णमास-चातुर्मास्य** में **अन्न-**
सोम की आहुति होती है। यज्ञपरिभाषा में यज्ञियआहुतिद्रव्यरूप अन्न को "**हवि**" कहा जाता
है। अत एव उक्त तीनों यज्ञों की समष्टि को '**हविर्यज्ञ**" नाम से व्यवहृत किया जाता है।
इसी को क्षुद्र (छोटा) यज्ञ होने से, एवं क्रत्वर्थकर्म्म होने से "**इष्टि**" शब्द से भी सम्बोधित किया
जाता है। पशु की हृन्मेदरूपा **वपा** भी सोममयी ही है। अतः तत्प्रधान **पशुबन्ध** को भी हम
सोमयाग में अन्तर्भूत मान सकते हैं। एवं शुद्धरूप से उपलब्ध **सोमवल्ली** का सोमरस तो
साक्षात् सोम ही है। इसी से **ग्रहयज्ञा**परपर्यायक **सोमयाग** निष्पन्न होता है। इस प्रकार
अन्नरस-वपा-वल्लीसोम भेद से एक ही सोमयज्ञ **इष्टि-पशु-सोम** भेद से तीन भागों में विभक्त हो
जाता है। इसी आधार पर वैधयज्ञ के भी यही तीन विभाग मानलिए जाते हैं। इन तीनों वैधयज्ञों
की उपनिषत् वेही तीनों प्राकृतिक यज्ञ हैं। इन तीनों वैधयज्ञों के लिए भिन्न भिन्न वेदिएं बनाईं
जातीं हैं। वे तीनों वेदिएं क्रमशः **हविर्वेदि-पाशुकवेदि-महावेदि** इन नामों से प्रसिद्ध हैं। इन
में मध्य की पाशुकवेदि में **विहृताग्नि** और होता है। इस की प्रतिष्ठा **शामित्रशाला** है। इसी
में पशु का परिपाक होता है। पाशुकवेदि को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए, हविर्वेदि एवं महावेदि
के स्वरूप पर दृष्टि डालिए।

हविर्यज्ञ में यज्ञस्वरूपसंपादक **वेदि, आहवनीय, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि, आहव-**
नीयागार, पत्नीशाला, गार्हपत्यागार, यजमान, यजमानपत्नी, होता, अध्वर्यु, उद्गाता,

*इस विषय का विशदविवेचन **श्राद्धविज्ञाना**न्तर्गत "**आत्मगतिविज्ञानोपनिषत्**" में देखना चाहिए।

ब्रह्मा, इध्म, बर्हि, पुरोडाश, ध्रुवा, जुहू, उपभृत् इत्यादि सामग्रिएं होती हैं। इन्हीं सब के समन्वय से हविर्यज्ञ की इतिकर्त्तव्यता पूरी की जाती है। इन सब की उपनिषत् (मौलिक उपपत्ति) के लिए तो एक स्वतन्त्र ग्रन्थ अपेक्षित है। अतः प्रकृत में **स्थालीपुलाकन्याय से** एक दो विषयों की उपनिषदों पर ही प्रकाश डालना पर्याप्त होगा। वैध हविर्वेदि की उपनिषत् क्या है? इस प्रश्न के समाधान से पहिले वेदिका स्वरूप समझलेना आवश्यक होगा। हविर्वेदिका संक्षिप्त स्वरूप निम्न लिखित परिलेख से स्पष्ट हो जाता है।

परिलेख से यह स्पष्ट होरहा है कि वेदि का अंस (स्कन्ध) रूप अग्रभाग संकुचित है, एवं श्रोणिस्थानीय पश्चिमभाग विस्तृत है। वेदि के पूर्वभाग में प्रतिष्ठित आहवनीयकुण्ड **चतुष्कोण** (चौकोर) है। पश्चिमभागस्थ गार्हपत्यकुण्ड **गोलाकार है**। दक्षिणभागस्थ दक्षिणाग्निकुण्ड **अर्द्ध-चन्द्राकार है**। प्रश्न उपस्थित होता है कि हविर्यज्ञसंस्था का ऐसा स्वरूप क्यों? इस का उत्तर है **"पुरुषयज्ञ"**। पार्थिव नित्य हविर्यज्ञ से **पुरुषसृष्टि** (पार्थिवप्रजासृष्टि) होती है। पुरुष साक्षात् यज्ञ है। अन्नाहुति से **रेत** उत्पन्न हुआ है, **रेत** की आहुति से पुरुष उत्पन्न हुआ है—(देखिए तै० उपनिषत्)। इधर इस वैधयज्ञ द्वारा प्राकृतिक नित्ययज्ञवत् नवीन **दिव्यपुरुष** (दैवात्मा) उत्पन्न किया जाता है। नवीन दिव्यपुरुष ठीक पुरुष यज्ञ की प्रतिकृति है। अतएव जैसा स्वरूप इस यज्ञमूर्त्ति पुरुष का है, ठीक वैसा ही स्वरूप इस वैधयज्ञ का बनाया जाता है। पुरुषयज्ञसंस्था में शिरोभाग (मस्तक) **आहवनीयकुण्ड है**। सम्पूर्ण आध्यात्मिक प्राणदेवताओं के लिए इसी आहवनीयाग्नि में सायं-प्रातः अन्नाहुति दी जाती है। दूसरे शब्दों में **वाक्-प्राण-चक्षु-श्रोत्रादि** इन्द्रिय सौर देवताओं के लिए शिरोरूप आहवनीयकुण्डस्थ मुखरूप आहवनीयाग्नि में ही अन्नरूप हवि की आहुति दी जाती है। आहुतिस्थान होने से ही पुरुष का शिरोभाग **"आहूयते यत्रसोमः-(अन्नं)"** इस निर्वचन के अनुसार **आहवनीय** नाम से प्रसिद्ध है, जैसा कि श्रुति कहती है—

> **"शिरो वै यज्ञस्याहवनीयः। पूर्वोऽर्धो वै शिरः।**
> **पूर्वार्धमेवैतद्यज्ञस्य कल्पयति"** (शत० १।३।३।१२।)
>
> **"मुखमेवास्य (वैधयज्ञस्य) आहवनीयः (अग्निः)"** (शत० ३।५।३।३)।

आहवनीयस्थानीय पुरुष का शिरोभाग वास्तव में चतुष्कोण है। **ललाटपटल** सामने का भाग है। दोनों कर्णपटिएं (कनपटिएं) पार्श्व के दो भाग हैं। एक पटल पृष्ठभाग में है। इस प्रकार मस्तक की चतुष्कोणता भलीभांति संपन्न होजाती हैं। यहां दिव्यसौरअग्नि (प्राणाग्नि) प्रतिष्ठित है। इसी उपनिषत् के आधार पर वैधयज्ञ में भी आहवनीयकुण्ड शरीर (धड़) रूप वेदि के पूर्वभाग में चतुष्कोण ही बनाया जाता है।

पार्थिवअग्नि की मूलप्रतिष्ठा **मूलाधार** (मूलग्रन्थि-ब्रह्मग्रन्थि) है। यह **कुण्डलिनी** के सम्बन्ध से गोलाकार है। इसी में मलाधिष्ठाता पार्थिव **अपानाग्नि** प्रतिष्ठित है। यह अग्निकुंड शरीर के पश्चिम भाग में प्रतिष्ठित है। इसी उपनिषत के आधार पर पुरुषयज्ञ के प्रतिकृतिस्वरूप इस वैधयज्ञ में भी शरीररूप वेदि के पश्चिम भाग में गोलाकार ही **गार्हपत्यकुण्ड** बनाया जाता है।

पुरुष के दक्षिणपार्श्व में चतुर्विध अन्नों का परिपाक करने वाला **वैश्वानर** अग्नि प्रतिष्ठित है। यही स्थान आयुर्वेद में **"आमाशय"** नाम से प्रसिद्ध है। यहां प्रतिष्ठित रहने वाला अग्नि ही **"जाठराग्नि"** कहलाता है। यह अर्द्धभाग में, अर्द्धचन्द्राकाराकारित स्थान में ही प्रतिष्ठित है। दक्षिणाग्नि कुण्ड की यही उपनिषत् है। पुरुषप्रतिष्ठित जाठराग्निकुण्डवत् वैधयज्ञ में भी दक्षिणाग्निकुण्ड अर्द्धचन्द्राकार ही बनाया जाता है। पुरुषसंस्था में इस से अन्न का परिपाक होता है, अत एव तत् स्थानीय इस दक्षिणाग्नि में ही अन्नस्थानीय हविर्द्रव्य का परिपाक किया जाता है। इसी परिपाक सम्बन्ध से यह दक्षिणाग्नि **"अपणाग्नि"** नाम से भी प्रसिद्ध है।

इस वैधयज्ञ से दैवात्मा की उत्पत्ति के लिए **प्रजनन** कर्म्म ही किया जाता है, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। प्रजननकर्म्म **योषा-वृषा** के दाम्पत्यलक्षण मिथुनभाव पर निर्भर है। इसी मिथुनसंपत्ति के लिए **वेदि** को **योषा** की प्रतिकृति मानागया है, एवं अग्नि को **वृषा** की प्रतिकृति माना गया है। योषाप्राणप्रधाना **स्त्री** वही उत्तम मानी जाती है, जिस का पश्चिमार्द्ध (श्रोणी प्रदेश-नितम्बप्रदेश) विपुल हो, एवं पूर्वार्द्धभाग संकुचित हो। क्योंकि वेदि योषात्मिका स्त्री की प्रतिकृति है, अतएव वेदि का श्रोणिस्थानीय पश्चिम प्रदेश विपुल बनाया जाता है, पूर्वप्रदेश

संकुचित बनाया जाता है। वेदि स्वरूप की इसी उपनिषत् का प्रतिपादन करती हुई ब्राह्मण-श्रुति कहती है—

> "योषा वै वेदिर्वृषाग्निः। परिगृह्य वै योषा वृषाणं शेते। मिथुनमेवैतत्प्रजननं क्रियते। तस्मादभितोऽग्निमंसाऽउन्नयति। सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्, मध्ये संह्वारिता, पुनः पुरस्तादुर्वी। एवमिव हि योषां प्रशंसन्ति-पृथुश्रोणिर्विमृष्टान्तरांसा, मध्य सङ्ग्राह्या-इति" (शत० १।२।३।१५-१६-)।

हमारे इस वैधयज्ञ की मूलभित्ति जहां पुरुष है, वहां पुरुषयज्ञ की उपनिषत् आधिदैविकयज्ञ है। आधिदैविक यज्ञ में भूपिण्ड गार्हपत्यकुण्ड है, इस में रहने वाला आङ्गिरस अग्नि ही गृहपति कहलाता है। दूसरे शब्दों में इस गृहपति अग्नि के सम्बन्ध से ही भूलोक गार्हपत्य कहलाता है। पुरुष की मूलग्रन्थि का इसी भूलोक से सम्बन्ध है। भूलोक वर्त्तुलवृत्तवत् है। अतएव मूलाधार संस्था भी वर्त्तुलवृत्तवत् ही है। पुरुष का मूलाधार क्यों गार्हपत्य कहलाता है? एवं वह वर्त्तुलवृत्तवत् क्यों है? इस की उपनिषत् यही भूलोक है।

आन्तरिक्ष्य ऋताग्नि दक्षिणदिक् में प्रतिष्ठित है। यह अर्द्धभागावच्छिन्न होने से अर्द्ध-चन्द्राकाराकारित है। पार्थिव ओषधि-वनस्पति का परिपाक इसी ऋतात्मक दक्षिणाग्नि से होता है। पुरुष के दक्षिणभाग में उदररूप अन्तरिक्षलोक में यही अग्नि प्रतिष्ठित होता है। पुरुष का दक्षिणपार्श्वस्थ जाठराग्नि क्यों अर्द्धचन्द्राकाराकारित है? इसे श्रपणाग्नि क्यों कहा जाता है? इस की उपनिषत् यही आन्तरिक्ष्य दक्षिणाग्नि है।

द्युलोक आहवनीय है। खगोलीय ४ स्वस्तिकों के सम्बन्ध से यह चतुष्कोण है। इस में सौरसावित्राग्नि प्रतिष्ठित है। पारमेष्ठ्य सोम की इस में निरन्तर आहुति होती रहती है, अतएव इसे आहवनीयाग्नि कहा जाता है। पुरुष का शिरोभाग स्वस्वस्तिकभावयुक्त द्युलोक की प्रतिकृति होने से चतुष्कोण है, एवं इस में प्रतिष्ठित वही सौर अग्नि आहवनीयाग्नि है। पुरुष का मस्तक आहवनीयकुण्ड क्यों कहलाता है? इस की उपनिषत् यही द्युलोक है।

मस्तक में चार कपाल प्रधान हैं। प्रत्येक में दो दो कपाल हैं। इस प्रकार सम्भूय आठ कपाल होजाते हैं। इन आठों कपालों के मध्य में **मस्तिष्क** (भेजा) रूप पुरोडाश प्रतिष्ठित रहता है। शिरोऽवस्थित प्राणदेवताओं में इस अष्टाकपाल पुरोडाश की निरन्तर आहुति रहती है। इसी उपनिषत् के आधार पर इस वैधयज्ञ में भी मृण्मय (मिट्टी के) आठकपालों में ही पुरोडाश का परि-पाक किया जाता है, एवं शिरःस्थानीय आहवनीय में ही प्राकृतिक प्राणदेवताओं के लिए समन्त्रक स्वाहा पूर्वक इस पुरोडाश की अध्वर्युद्वारा आहुति दी जाती है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

"शिरो ह वाऽएतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाशः। स यान्येवेमानि शीर्ष्णः-
कपालानि, एतान्येवास्य कपालानि। मस्तिष्क एव पिष्टानि।
तद्वाऽएतदेकमङ्गम्। एकं सह करवाव, समानं करवावेति।
तस्माद्वाऽएतदुभयं सह क्रियते" (शत० १।२।१।२।) इति ॥

इस प्रकार **आधिदैविक** (प्राकृतिक) यज्ञ आध्यात्मिक यज्ञ (पुरुषयज्ञ) की उपनिषत है, एवं **आध्यात्मिक** यज्ञ **आधिभौतिकयज्ञ** (मनुष्य कृत वैधयज्ञ) की उपनिषत् है। वैधयज्ञ का अमुक स्वरूप क्यों है ? इस का उत्तर **पुरुष है,** पुरुष का अमुक स्वरूप क्यों है ? इस का उत्तर **आधिदैविकयज्ञ है।** इस यज्ञ, एवं पुरुष यज्ञ की समता को लक्ष्य में रखकर ही-**"पुरुषो वै यज्ञः"** (शत० १०।२।१।२।) **"पुरुषसम्मितो यज्ञः"** (शत० ३।१।४।२३।) इत्यादि कहा जाता है।

आहवनीय चतुष्कोण ही क्यों होता है ? वेदि के **पूर्वभाग** में ही वह क्यों प्रतिष्ठित किया जाता है ? **गार्हपत्य** गोलाकार क्यों होता है ? वेदि के **पश्चिमभाग** में ही इस का निर्म्माण क्यों होता है ? इन सब प्रश्नों का उत्तर वही पूर्वोक्त **पुरुषयज्ञोपनिषत्** है। प्राकृतिक यज्ञविज्ञान हमें सिखलाता है कि आहवनीय पूर्व में ही बनाना चाहिए, एवं उसे चतुष्कोण ही रखना चाहिए। यदि इस से विपरीत किया जायगा तो यज्ञसंपत्ति विच्छिन्न होजायगी। इस प्रकार जब हम उपपत्ति द्वारा आध्यात्मिक एवं आधिदैविक यज्ञसंस्थाओं के वास्तविक रहस्य को जान लेते हैं तो यज्ञेति-

कर्त्तव्यता प्रतिपादक तत्तद् विशेष धर्म्मों पर हमारी दृढ आस्था होजाती है। प्राकृतिक नियमों के आधार पर व्यवस्थित विज्ञान सिद्धान्त हमें इन कर्म्मकलापेतिकर्त्तव्यता सम्बन्धी प्रकार विशेषों को नतमस्तक बनाकर माननें के लिए बाध्य कर देता है। जब हमें उपपत्ति ज्ञान होजाता है तो—**"ऐसा ही क्यों करें, हम भी मनुष्य हैं, ईश्वर ने हमें भी बुद्धि प्रदान की है ? हम क्यों नहीं स्वबुध्यनुसार कर्म्म करें"** इस प्रकार की प्रतिनिवेशरूपा बुद्धि का स्वत एव निराकरण होजाता है, एवं पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ हम उस कर्त्तव्य कर्म्म में जुट जाते हैं। यह तो हुआ हविर्वेदिका संक्षिप्त विवेचन। अब चलिए **सोमयाग** सम्पादिका **महावेदि** की ओर।

"प्रकृतिसिद्ध नित्य हविर्यज्ञ से पुरुषयज्ञ का स्वरूप संपन्न हुआ है। एवं इस यज्ञमूर्ति पुरुष की प्रतिकृति (नकल) हमारा यह वैधयज्ञ है" यह कहा जाचुका है। इस प्रकृतिसिद्ध नित्य हविर्यज्ञ का भूपिण्ड से सम्बन्ध है। **याम्योत्तर** (ध्रुवप्रोत दक्षिणोत्तर) रेखा को मध्यस्थ बना कर भूपिण्ड के ठीक मध्य में से भूपिण्ड के दो विभाग कर डालिए। इस विभाजन से भूपिण्ड का सूर्य्याभिमुख अर्द्धभाग सौरतेज से अनुगृहीत हो जायगा, एवं विरुद्धदिक्स्थ आधाभाग तमः प्रधान रह जायगा। भूपिण्ड का जो अर्द्धभाग सूर्य्य की ओर रहता है, उस में सूर्य्य से आने वाला प्रवृक्त (उच्छिष्ट) सौरतेज प्रतिष्ठित हो जाता है। बलवत् सौरतेज के आगमन से तद्देशावच्छिन्न पार्थिवआग्नेय तेज अपना स्वातन्त्र्य खो बैठता है। पृथिवी के प्रातिस्विक आग्नेयप्राण की स्वतन्त्र सत्ता तो सूर्य्य से विरुद्ध दिक् में रहने वाले अर्द्ध भूपिण्ड में ही रहती है। भूपिण्ड के दक्षिण भाग में आन्तरिक्ष्य वायव्य **ऋताग्नि** प्रतिष्ठित रहता है, जैसा कि पूर्व में कहा जाचुका है। इसी ऋताग्नि में उत्तरदिक्स्थ **ऋतसोम** की आहुति होनें से **ऋतु** का स्वरूप संपन्न होता है। इसी से **ओषधि-वनस्पत्यादि अन्नों** का परिपाक होता है। इस प्रकार भूपिण्ड भुक्त **सौरप्राण**, पार्थिव प्रातिस्विक **आग्नेयप्राण**, तिर्य्यक् बहने वाला दक्षिणस्थ **याम्यप्राण** इस रूप से एक ही भूपिण्ड में तीन स्थितिएं हो जाती हैं। सम्पूर्ण भूपिण्ड **हविर्वेदि है**। सूर्य्याभिमुख रहनें वाला सौरतेजोमय अर्द्धभूपिण्ड आहवनीयकुण्ड है। स्वस्तिक भावयुक्त सौरतेज के सम्बन्ध से इसे भी चतुष्कोण ही माना गया है। इस में प्रतिष्ठित सौर

अग्नि आहवनीयाग्नि है। सूर्य्यविरुद्धदिक् में प्रतिष्ठित अर्द्धभूपिण्ड गार्हपत्यकुण्ड है। प्रातिस्विक भू तत्व की प्रधानता से इसे वर्त्तुल वृत्त माना गया है। इस में प्रतिष्ठित पार्थिव प्रातिस्विक अग्नि गार्हपत्याग्नि है। दक्षिणस्थ याम्याग्निमण्डल दक्षिणाग्निकुण्ड है, तत्र प्रतिष्ठित ऋताग्नि दक्षिणाग्नि, किंवा अपराग्नि है। यह है हविर्यज्ञसंस्था का संक्षिप्त निदर्शन, एवं हविर्वेदिका स्वरूप निदर्शन। इसी की प्रतिकृति पुरुष है। पुरुष का सर्वाङ्ग शरीर हविर्वेदि है। उधर सम्पूर्ण भूपिण्ड हविर्वेदि है। दोनों में आहवनीय-गार्हपत्य-दक्षिणाग्नि आदि की व्यवस्था समान है, जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जा चुका है।

"अग्निर्भूस्थानः" (या०निरुक्त......) के अनुसार भूपिण्ड **अग्निमय है, अग्निप्रधान** है। यह अग्निपदार्थ भूत एवं **प्राण** भेद से दो प्रकार का माना गया है। इन दोनों में भूताग्नि **मरणधर्म्मा है,** प्राणाग्नि **अमृतभावापन्न** है। भूताग्नि से **भूपिण्ड** का निर्म्माण हुआ है, एवं प्राणाग्नि से **भूमहिमा** का स्वरूप निष्पन्न हुआ है। भूपिण्ड के केन्द्र में प्रतिष्ठित रहने वाला प्राणाग्नि ही भूपिण्ड से बाहर निकल कर अपने विशकलन स्वभाव से भूपिण्ड से बड़ी दूर तक, भूपिण्ड के चारों ओर एक विस्तृत मण्डलरूप में परिणत होता है। जहां तक इस पार्थिव अमृताग्निरूपप्राणमण्डल की व्याप्ति रहती है, वहां तक **महिमामय पृथिवीलोक** की सत्ता मानी जाती है। **सामरूप** प्राणमण्डल की समाप्ति ही ऋग्रूपा भूपिण्ड की समाप्ति है। अत एव उक्त साममण्डल की अन्तिम सीमा को **उद्दचसाम** एवं **निधनसाम** नामों से व्यवहृत किया गया है। वैज्ञानिक **महर्षियों** का यह पूर्णपरीक्षित सिद्धान्त है कि भूगर्भ से निकला हुआ पार्थिव प्राणाग्नि पृथिवी के २१ वें अहर्गण पर स्थित सूर्य्य पर्य्यन्त अपनी व्याप्ति रखता है। वहीं तक अग्निप्रधाना पृथिवी की सत्ता मानी गई है। **सूर्य्य** देवता इस महिमामण्डल से संसृष्ट है। दूसरे शब्दों में **पृथिवी** (प्राणमयी अमृतापृथिवी) सूर्य्य के साथ संलग्न है। **सप्तद्वीप** विभाग क्रम के अनुसार महिमापृथिवी का अन्तिम भाग पारमेष्ठ्य आपोमय **पुष्करपर्ण** के सम्बन्ध से **"पुष्करद्वीप"** नाम से प्रसिद्ध है। ***पुराण** के मतानुसार पृथिवी के इसी पुष्करद्वीप में सूर्य्य

* पृथिवी के सात द्वीप, सात लोक, सात पाताल, सात समुद्र, सात वायु, सात आकाश

भगवान् प्रतिष्ठित हैं। **'अत्र ह वा (पृथिव्यां असावग्र आदित्यआस"** (शत० ४।२।४।५।८।) यह श्रौत सिद्धान्त ही उक्त पुराणसिद्धान्त का मूल आधार है।

पूर्व कथन से यह सिद्ध होजाता है कि पृथिवीविवर्त्त **भूपिण्ड** एवं **भूमण्डल** भेद से दो भागों में विभक्त है। भूपिण्ड जहां हविर्वेदि है, वहां महिमामय भूमण्डल **महावेदि** है। पृथिवी वेदि है, महापृथिवी महावेदि है। हविर्वेदि में आहुति द्रव्य अन्नरूप हवि है, इस से **हविर्यज्ञ** संपन्न होता है। महावेदि में आहुति द्रव्य **सोमतत्त्व** है, इस से **सोमयाग** निष्पन्न होता है। यही महावेदि **स्तौम्यत्रिलोकी, उरुयात्रिलोकी, पुष्करपर्ण**, आदि विविध नामों से व्यवहृत हुई है। इसी के लिए–**"यावती वै वेदिस्तावतीपृथिवी"** (शत० ३।७।२।१।) यह कहा गया है। इस महावेदिरूपा महापृथिवी में **वषट्कारविज्ञान** के अनुसार ३३ **अहर्गण** माने गये हैं। इन में आरम्भ के १६ अहर्गणपर्यन्त **प्राणाग्नि** की प्रधानता है, एवं १७ से ऊपर ३३ वें अहर्गणपर्यन्त **अमृतसोम** का साम्राज्य है। मध्य के १७ वें अहर्गण में **अग्नि-सोम** दोनों का समन्वय होता है। दूसरे शब्दों में सत्रहवें अहर्गण में स्थित पार्थिव अमृताग्नि में १७ से ऊपर रहने वाला सोम निरन्तर आहुत होता रहता है। इसी सोमाहुति के सम्बन्ध से यह **सप्तदशस्थान–"आहवनीय"** नाम से प्रसिद्ध है। इस दाह्यसोमाहुति के प्रभाव से ही दाहक पार्थिव अग्नि प्रज्ज्वलित होकर २१ वें अहर्गणपर्यन्त व्याप्त होजाता है। यही यज्ञमूर्त्ति **वामनविष्णु** का **त्रिविक्रम** है। जैसा कि **शतपथविज्ञानभाष्यादि** में स्पष्ट कर दिया गया है। २१ वें अहर्गणपर्यन्त वितत उस महावेदि के गर्भ में १५ वें अहर्गण से आरम्भ कर २१ वें अहर्गणपर्यन्त एक स्वतन्त्र स्थान माना गया है। इसी प्रदेश को **"उत्तरावेदि"** कहा जाता है। महावेद्यन्तर्गत इस उत्तरावेदि का १७ हवां स्थान ही **आहवनीयकुण्ड** है। वेदि की अन्तिम सीमा पर प्रतिष्ठित **अथर्ववेदीयस्कम्भ** की प्रतिष्ठा रूप सूर्य्य इस प्राकृतिक सोमयाग का **"यूप"** है। यही सूर्य्यरूप यूप प्राकृतिकयज्ञ **पुरुष** की **शिखा** है। इसी उपनिषत् के आधार पर यज्ञप्रभव **द्विजातिमात्र** को अपने आप को यज्ञपुरुषरूप समझने की भावना दृढ करने के लिए **शिखा** रखने का आदेश है।

कौन से हैं? वे इस भूपिण्ड पर ही हैं, अथवा अन्य किसी लोक में? इत्यादि प्रश्नों के समाधान के लिए— **"पुराणरहस्य"** नामक ग्रन्थ देखना चाहिए।

सप्तदशस्तोमावच्छिन्न आहवनीय से नीचे की ओर आठ प्रकार का आन्तरिक्ष्यधिष्ण्याग्नि (नाक्षत्रिकाग्नि) प्रतिष्ठित है। १७ से ऊपर के आकाशायतनरूप **कलश** में सोमरस भरा हुआ है। यही इस नित्ययज्ञ का **हविर्द्धानमण्डप है**। १५ वें अहर्गण से नीचे, एवं ९ वें अहर्गण से ऊपर के प्रदेश में बलप्रद वायुमूर्त्ति **ऊर्क्रस** भरा हुआ है। उक्त धिष्ण्याग्नि की प्रतिष्ठा यही स्थान है। यही स्थान इस प्राकृतिक यज्ञ का **सदोमण्डप** है। पूर्वोक्त सोमाहुति के अधिष्ठाता क्रमशः **अग्नि-वायु-आदित्य-बृहस्पति** नामक चार प्राणदेवता हैं। पार्थिवाग्नि के द्वारा ही दिव्यदेवताओं का (सौर प्राण का) आहवनीय से सम्बन्ध होता है। अत एव **अग्नि** को देवताओं का **आह्वाता** (आह्वान-कर्त्ता-बुलाने वाला) माना गया है। आह्वाता अग्नि ही इस यज्ञ के **होता** नाम के **ऋत्विक् है।** गतिधर्म्मा **वायु** के द्वारा ही सोमाहुति से प्राणदेवताओं का यजन होता है, वायु की प्रेरणा से ही सोम आहवनीय में आहुत होता है। इसीलिए वायुदेवता इस नित्ययज्ञ के (आहुति देनें वाले) **अध्वर्यु** हैं। **आदित्य** (इन्द्रनाम से प्रसिद्ध सौर दिव्यप्राण) द्वारा आहवनीय में आहुतिसोम **ज्योति-रूप** में परिणत होकर इस ज्योतिर्भाग का संपूर्ण त्रैलोक्य में वितान होता है। वितान ही **गान** है। इसी आधार पर सामगान के प्रवर्त्तक आदित्यदेवता इस नित्य यज्ञ के **उद्गाता** माने गये हैं। **बृहस्पति** नामक **ब्रह्म** के द्वारा उक्त सब ऋत्विजों का सञ्चालन होता है, अत एव बृहस्पति इस यज्ञ के **ब्रह्मा** माने गये हैं।

पूर्वोक्त भूपिण्ड (जिस में कि अग्नित्रयोपेता हविर्यज्ञ संस्था सर्वात्मना प्रतिष्ठित है) इस महावेदि का **गार्हपत्य** बन जाता है। दूसरे शब्दों में सूर्य्य सम्मुख रहने वाला, अतएव सौर-प्राण से युक्त भूपिण्ड का आहवनीयरूप अर्द्धभाग इस महावेदि का गार्हपत्य मान लिया जाता है। इसी महायज्ञ से सम्पूर्णविश्व (स्तौम्यत्रैलोक्य) का सञ्चालन हो रहा है। यह तो हुई आधि-दैविकयज्ञसंस्था की निरुक्ति। अब क्रम प्राप्त आध्यात्मिक महायज्ञ को भी सामने रख लीजिए।

पूर्व में बतलाया जा चुका है कि पुरुष का शिरोभाग हविर्यज्ञोपनिषत् के अनुसार **आहवनीय है**। आहवनीयरूप शिरोभाग से आरम्भ कर सूर्य्यकेन्द्रपर्य्यन्त एक नियत मार्ग में सौरप्राण की व्याप्ति रहती है। एक **निमेष** (पलक) में जितना समय लगता है, उतने समय में

पुरुष का यह विद्युन्मूर्त्ति आयुस्वरूपरक्षक सौरप्राण अपने प्रभव सूर्य्यस्थान के साथ तीन बार सम्बन्ध करता है। पुरुष के **ब्रह्मरन्ध्र से सूर्य्यरन्ध्र** पर्य्यन्त एक नियत मार्ग बना हुआ है। इसी मार्ग को उपनिषदों नें **"महापथ"** नाम से व्यवहृत किया है। प्रत्येक पुरुष के **स्वस्वस्तिक** के साथ यह महापथ नियत, एवं सर्वथा विभक्त है। इस महापथ को ही आध्यात्मिक यज्ञ की **महावेदि** समझना चाहिए। साथ ही में इस में भी वह संस्थाविभाग ठीक वैसा ही समझना चाहिए, जैसा कि महायज्ञ में था। सौरसंस्था में प्रतिष्ठित सोम इस में निरन्तर आहुत होता रहता है। इसी यज्ञ के प्रभाव से पुरुष का शिरोभागस्थित दिव्यप्राण महापथात्मिका महावेदि के द्वारा निरन्तर सूर्य्यकेन्द्र से बद्ध रहता हुआ, सूर्य्य में रहने वाले **आयुतत्व** को प्राप्त करता हुआ जीवनधारण में समर्थ रहता है। आयुसूत्र विच्छेदक, अवसानलक्षण **याम्यवायु** के आक्रमण से जिस दिन उक्त सम्बन्ध विच्छिन्न होजाता है, उसी क्षण आयुसूत्र के टूट जाने से पुरुष का आयुर्म्मय आत्मा अध्यात्मसंस्था से उत्क्रान्त होजाता है, यही इस आध्यात्मिक यज्ञ का अवसान काल है। यह यज्ञ जीवनपर्य्यन्त निरन्तर होता रहता है, अतएव इसे **"अहरहर्यज्ञ"** कहा जाता है। इसी यज्ञ के प्रभाव से प्रत्येक पुरुष का **इन्द्रप्राण** स्वर्गोपलक्षित सूर्य्य के साथ प्रतिक्षण सम्बन्ध करता रहता है। इसी नित्य प्रतिष्ठित आयुर्मूलक अहरहर्यज्ञका स्वरूप निरूपण करती हुई **वाजिश्रुति** कहती है—

"अहरहर्वा एष यज्ञस्तायते। अहरहः सन्तिष्ठते। अहरहरेनं-
स्वर्गस्य लोकस्य गत्यै युङ्क्ते। अहरहरेनेन स्वर्गं लोकं गच्छति"

(शत० ९।४।४।१५।) इति।

उक्त प्राकृतिक **आधिदैविक**, एवं **आध्यात्मिक** यज्ञ के आधार पर ही हमारे इस **आधिभौतिक वैध ज्योतिष्टोम** का वितान होता है। यहां प्रकृतिवत् महावेदि हविर्वेदि से संलग्न ही बनाई जाती है। महावेदि के गर्भ में ही **उत्तरावेदि** का निर्म्माण होता है। वहीं **आहवनीय** बनाया जाता है। प्रकृतिवत् यहां भी हविर्वेदि के आहवनीय को इस महावेदि का गार्हपत्य माना जाता है। यही याज्ञिक परिभाषा में **"नूतनगार्हपत्य"** नाम से प्रसिद्ध है। एवं हविर्वेदिका गार्हपत्य **"पुराणगार्हपत्य"** नाम से व्यवहृत किया जाता है। उक्तस्थान में यहां **उदुम्बरी** (गूलर

की शाखा) है। धिष्ण्याग्नि के स्थान में आठ धिष्ण्याग्निएं हैं। हविर्द्धानमण्डपस्थ सोम के स्थान में **सोमांशु** (सोमवल्ली के खण्ड) हैं। सूर्य्य के स्थान में महावेदि के अन्त में (सर्वान्त में) काष्ठ का यूप है। **ऋङ्मय अग्नि, यजुर्मय वायु, साममय आदित्य, वेदत्रयीमय बृहस्पति** के स्थान में यहां भी **ऋग्वेदीहोता, यजुर्वेदीअध्वर्यु, सामवेदी उद्गाता, त्रैविद्यब्रह्मा** नाम के यज्ञस्वरूप सम्पादक चार ऋत्विक् हैं। **पार्थिवप्रजापति** के स्थान में यज्ञफलभोक्ता सपत्नीक **यजमान** है। कहने का तात्पर्य्य यही है कि जैसा वहां है, ठीक वैसा ही यहां है। हविर्वेदि का आहवनीय महावेदि संस्था में गार्हपत्य क्यों मानलिया जाता है? यूप सब के अन्त में ही क्यों प्रतिष्ठित किया जाता है? **हौत्र – आध्वर्यव – औद्गात्रादि** कर्म्म **होता–अध्वर्यु–उद्गाता** द्वारा ही क्यों कराएं जाते हैं? धिष्ण्याग्नि की प्रतिष्ठा सदोमण्डप में ही क्यों की जाती है? यहीं उदुम्बरी क्यों खड़ी की जाती है? इत्यादि सारे प्रश्नों का एकमात्र समाधान वही पूर्वप्रतिपादिता नित्ययज्ञमूला **यज्ञोपनिषत्** है। हम अपनी ओर से मनमाना कुछ नहीं करते, अपितु प्रकृतिमण्डल में होने वाले नित्य यज्ञ में नित्य प्राणदेवता जैसा कुछ कर रहे हैं, अपने वैधयज्ञ में हम ठीक वैसा ही कर रहे हैं–**"यद्वै देवा अकुर्वंस्तत् करवाणि"** (शत० ३।१।१) **"देवानां वै विधामनु मनुष्याः** (शत० ६।७।४।९)। जो महानुभाव उक्त उपनिषद्विज्ञान को समझने में असमर्थ रहते हुए, अभिनिवेश में पड़ कर पूर्वोक्त सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए **श्रुतिस्मृति** सम्मत प्राचीन पद्धतिपथ का तिरस्कार करते हुए, यज्ञ को एकमात्र **हवाफिल्टर** का ही साधक समझते हुए नवीन नवीन मनमानी पद्धतिएं गढनें का साहस कर बैठते हैं, उन उच्छृंखल पथभ्रष्ट यज्ञाभिमानियों का वह यज्ञ कर्म्म–**"व्यृद्धं वै तद्यज्ञस्य यन्मानुषम्"** (शत० १।४।१।३५) इस के अनुसार मानुषभाव के समावेश से सर्वथा समृद्धि रहित बनता हुआ **इष्टजनकता** के स्थान में अभ्युदय नाश का कारण बनजाता है। यज्ञ की प्रत्येक इतिकर्त्तव्यता की उपनिषत् सुदृढ भित्ति पर प्रतिष्ठित है। उस से विरोध करना प्रकृति से विरोध करना है। अस्तु उक्त सन्दर्भ से प्रकृत में हमें यही बतलाना है कि कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक **ब्राह्मणग्रन्थ** में तत्तत्कर्म्मों के साथ साथ ही **'विज्ञानोपनिषत्** का उल्लेख रहता है।

प्रत्येक कर्म्म सोपपत्तिक ही निरूपित हुआ है। इन्हीं सब कारणों से विज्ञानानुमोदित, अतएव सत्यप्रतिपत्ति के हेतुभूत निश्चित सिद्धान्त को ही हम उपनिषत् पदार्थ का अवच्छेदक मानने के लिए तय्यार हैं। साथ ही में इस उपनिषत् का कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक ब्राह्मण ग्रन्थ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध मानना न्यायसंगत हो जाता है।

इति–ब्राह्मणग्रन्थेषु - उपनिषच्छब्दसमन्वयः

१

—•—



ब्राह्मणभाग से सम्बन्ध रखने वाले उपनिषत्तत्व का दिग्दर्शन कराया गया। अब क्रमप्राप्त **आरण्यकग्रन्थ** के साथ रहने वाले उपनिषत्तत्व के सम्बन्ध का संक्षेप से विवेचन किया जाता है। **अध्यात्मविद्यात्व** को ही उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक माननें वाले स्वयं प्राचीनों ने भी आरण्यक के साथ उपनिषत् शब्द का सम्बन्ध माना है। भगवान् **शङ्कराचार्य** ने वेदान्त भाष्य में एक स्थान पर—"**अरण्यमियान्नपुनरेयात्-इत्युपनिषत्**" (शा०सू०शां०भाष्य..................) यह कहा है। **ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-सन्यास** भेद से **आश्रममर्यादा** चार भागों में विभक्त है। "**सम्यग्रूप से ब्रह्मचर्याश्रम के अनुष्ठानानन्तर यथाकालप्राप्त गृहस्थाश्रम का अनुष्ठान करने के पश्चात् एक गृहस्थी वानप्रस्थाश्रम के अनुष्ठान के लिए सर्वपरिग्रहों को छोड़कर जब एक बार आरण्यगामी बन जाय, (जङ्गल में चला जाय) तो फिर उसे (अरण्य से) वापस नहीं लौटना चाहिए**" पूर्व वाक्य का यही फलितार्थ है। प्राचीनों के मतानुसार ब्राह्मणभाग का गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध है, आरण्यक भाग का वानप्रस्थाश्रम से, एवं उपनिषद्भाग का संन्यासाश्रम से सम्बन्ध है। परन्तु पूर्ववाक्य आरण्यक के साथ भी ("**इत्युपनिषत्**" यह कहता हुआ) उपनिषत् का सम्बन्ध बतलाता हुआ उन के स्वीकृत मत को छिन्न भिन्न कर डालता है। "एक बार जङ्गल में जाकर वापस लौटने से आत्मसंकल्प में शिथिलता आजाती है, आश्रममर्यादा भङ्ग होजाती है। वानप्रस्थाश्रम की उपनिषत् (मौलिक सिद्धान्तभित्ति) तो यही है कि एक बार चला गया सो चला गया। यदि वह पुनः वापस लौटता है तो वानप्रस्थसम्बन्धी आरण्यकोपनिषत् के विरुद्ध जाता है।" उक्त वाक्य का यही तात्पर्य्यार्थ है। इस तात्पर्य्यार्थ से पाठकों को मान लेना पड़ैगा कि स्वयं प्राचीनों नें भी **उपनिषत्** शब्द का प्रयोग कई स्थानों में मौलिक विज्ञान सिद्धान्त के अभिप्राय से किया है।

अपिच पूर्वकथनानुसार—"**नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदो तदेव वीर्य्यवत्तरं भवति**" इत्यादि रूप से स्थान स्थान पर श्रुतियों नें कर्म्ममात्र के साथ उपनिषत् का सम्बन्ध माना है। कार्यकारणरहस्यज्ञान **विद्या है**, कार्य के साथ जिस अथर्वा-

सूत्रद्वारा आत्मा का सम्बन्ध होता है, वही **श्रद्धा** है, एवं तन्मूलभूत कार्य का फल के साथ सम्बन्ध परिज्ञान ही **उपनिषत्** है। **धारणा-ध्यान-समाधि** इन तीनों के एकत्र संयम से जैसे योगज सिद्धि प्राप्त होती है, इसी प्रकार **विद्या-श्रद्धा-उपनिषत्** इन तीनों के समन्वय से जो कर्म्म किया जाता है, वह वीर्य्यवत्तर बनता हुआ अवश्य ही सफल होता है। आप (प्राचीन) कहते हैं—"उपनिषत् शब्द अध्यात्मविद्या में ही निरूढ है"—उधर श्रुति के कथनानुसार उपनिषत् का ज्ञान साधारण के साथ सम्बन्ध है। दोनों में से किस का सिद्धान्त प्रामाणिक माना जाय, इस का निर्णयभार उन प्राचीनों पर ही छोड़ा जाता है। हम तो निःसन्दिग्धरूप से इस सम्बन्ध में यह कहने के लिए तय्यार हैं कि उपनिषत् शब्द **लोक-वेद** सम्बन्धी सम्पूर्ण भावों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध रखता है। साधारण से साधारण मनुष्य का कर्म्म भी कोई न कोई उपनिषत् रखता है। **पाश्चात्यभाषा** में जिस के लिए **'प्रिन्सिपिल'** (Principle) शब्द प्रयुक्त हुआ है, **यावनीभाषा** जिस अर्थ में **'उसूल'** शब्द प्रयुक्त करती है, **छन्दोभाषा** (वेदभाषा) में उसी अर्थ में **"उपनिषत्"** शब्द प्रयुक्त हुआ है। प्रत्येक कर्म्म का कोई न कोई प्रिन्सिपिल होता है, उसूल होता है, उपनिषत् होती है। प्रिन्सिपिल के आधार पर किया हुआ कर्म्म, किंवा उसूल के आधार पर किया हुआ कर्म्म ही सुप्रतिष्ठित बनता हुआ सफल होसकता है, यह कौन नहीं जानता।

इसप्रकार—**"यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया उपनिषदा०:"—"अरण्यमियान्न पुनरेयादित्युपनिषत्"—"तस्योपनिषदहरिति, तस्योपनिषदहमिति"** (बृ०आ०उ० ६।५।१) इत्यादि श्रौत-स्मार्त्त प्रमाणों के आधार पर प्रतिष्ठित—**"तत्तत् कर्म्मेति कर्त्तव्यताविशेषोपपादकविज्ञानसिद्धान्त में ही उपनिषत् शब्द निरूढ है"** यह सिद्धान्त पूर्व के सन्दर्भ से भलीभांति सिद्ध होजाता है। यह सब कुछ होने पर भी अभी इस सम्बन्ध में एक आक्षेप और बच जाता है। उस का निराकरण कर इस प्रकरण को समाप्त किया जाता है।

इति—आरण्यकग्रन्थेषु-उपनिषच्छब्दसमन्वयः

२



म न्त्र-ब्राह्मणात्मक निगमशास्त्र के चिरकाल से १-संहिता, २-विधि, ३-आरण्यक, ४-उपनिषत् यह चार विभाग चले आरहे हैं। विज्ञान-स्तुति-इतिहास-प्रतिपादक संहिताभाग को छोड़ कर शेष तीनों क्रमशः कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड, ज्ञान-काण्ड के प्रतिपादक माने जाते हैं। उपनिषत् शब्द सदा सर्वदा से वेद के अन्तिम भाग में ही प्रयुक्त देखा एवं सुना जाता है। इसी आधार पर औपनिषत् ज्ञान को वेदान्त दर्शन ने "वेदान्त" (वेद का अन्त भाग) नाम से व्यवहृत किया है। "सर्वे वेदान्ताः व्याख्याताः" इस सुप्रसिद्ध वाक्य का—"सर्वा उपनिषदो व्याख्याताः" यही अर्थ समझा जारहा है। व्याकरण, उपमान, कोश, आप्तवाक्य, लौकिकव्यवहार इन पांचों शक्ति-ग्राहकों में—"शक्तिग्राहक शिरोमणेर्लोकव्यवहारस्य" इस सिद्धान्त के अनुसार वृद्धव्यवहार रूप लोकव्यवहार को ही शक्तिग्राहकता में विशेष महत्त्व दिया गया है। एवं उपनिषत् शब्द के सम्बन्ध में यह लौकिक वृद्धव्यवहार ज्ञानकाण्डप्रतिपादिका अध्यात्मविद्या को ही एकमात्र उप-निषत् का अवच्छेदक बतला रहा है। ऐसी अवस्था में सर्वसम्मत, एवं सर्वमान्य उक्त लोकव्यवहार के सर्वथा विरुद्ध विज्ञानसिद्धान्त को उपनिषत् का अवच्छेदक बतलाना कैसे सङ्गत हो सकता है? फलतः उपनिषत् पदार्थ के अवच्छेदक के सम्बन्ध में बतलाया गया पूर्व का सन्दर्भ केवल कल्पना ही रह जाती है" पूर्व प्रतिपादित उपनिषदर्थ के सम्बन्ध में यही आक्षेप हमारे सामने उपस्थित होता है। आक्षेप यथार्थ है। यदि साधारण विषय होता तो ऐसी स्थूलअविद्या (मोटी भूल) को स्थान ही नहीं मिलता। "उपनिषत् वेद का चौथा भाग है, उपनिषद्ग्रन्थ वेदान्त नाम से प्रसिद्ध है। उपनिषच्छास्त्र अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक है। इस सनातन व्यवहार का न तो आज तक किसी ने विरोध किया, न इस सिद्धान्त का आज ही विरोध हो रहा, न भविष्य में ही इस सर्वसम्मत वृद्धव्यवहार का विरोध करने का कोई साहस कर सकता। हम स्वयं उपनिषद्-ग्रन्थों को अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक मान रहे हैं, जैसा कि पूर्व के मङ्गलरहस्य में विशद रूप से बतलाया जाचुका है—(देखिए उ०भा०भू०मं०र०पृ०सं० ३।..........)। साथ ही में पूर्व की विज्ञानदृष्टि में अब तक कहीं यह कहा भी नहीं है कि उपनिषद्ग्रन्थ अध्यात्मविद्या के

प्रतिपादक नहीं हैं। हैं—और अवश्य हैं। हमारा विरोध तो केवल अध्यात्मविद्यात्व को हीं उपनिषत् का पदार्थतावच्छेदक माननें के साथ है। उपनिषदों में अध्यात्मविद्या है, यह दोनों को सम्मत है। विरोध केवल आंशिकरूप से है। आप के विचारानुसार **अध्यात्मविद्या ही उपनिषत् है, हम अध्यात्मविद्या के साथ भी उपनिषत् शब्द का सम्बन्ध मानते हैं।** पूर्व कथनानुसार विज्ञानशास्त्र की सम्मति से विज्ञानसिद्धान्त को ही उपनिषत् शब्द से व्यवहृत किया जा सकता है। चाहे वह विज्ञान सिद्धान्त आत्मविद्या सम्बन्धी हो, अर्थ विद्या का मूलाधार हो, अथवा कर्म्मविद्या की प्रतिष्ठा हो। **"यदि उपनिषत् शब्द की विज्ञानसाधारण में ही प्रवृत्ति है तो फिर अध्यात्मविद्याप्रतिपादक वेद का चौथा भाग ही उपनिषत् शब्द से क्यों व्यवहृत हुआ, विज्ञान सिद्धान्त से प्रतिपद पर सम्बन्ध रखने वाला वेद का ब्राह्मणभाग, एवं आरण्यक भाग उपनिषत् शब्द से क्यों व्यवहृत नहीं हुआ"?** बस इस सम्बन्ध में अब एकमात्र यही प्रश्न शेष रह जाता है। इस के समाधान के लिए निम्न लिखित पङ्क्तियों पर ध्यान देना आवश्यक होगा।

मन्त्रब्राह्मणात्मक वेद के ब्राह्मणभाग के **विधि—आरण्यक—उपनिषत्** यह तीन प्रसिद्ध विभाग हैं, जैसा कि पूर्व की **प्राचीनदृष्टि** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। इन तीनों में जो पहिला विधि भाग है, वही आज दिन विद्वत् समाज में **'ब्राह्मण"** नाम से प्रसिद्ध है। विधि **आज्ञामात्र** है। **"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"—"वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत"** इत्यादि रूप से ब्राह्मणभाग में **अनुज्ञाधारा** प्रवाहित रहती है, अतएव इसे **"विधि"** नाम से व्यवहृत करना न्यायसङ्गत होता है। यह विधिश्रुतिएं **आरभ्याधीता, अनारभ्याधीता, सामान्या** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं।

सम्पूर्ण कर्म्मकलाप **क्रत्वर्थ** एवं **पुरुषार्थ** भेद से दो भागों में विभक्त है। **यज्ञकर्म्म** पुरुषार्थकर्म्म है, यज्ञस्वरूपसंपादक **यज्ञार्थकर्म्म** क्रत्वर्थकर्म्म हैं। क्रत्वर्थकर्म्मों से प्रधान कर्म्म सुसंपन्न होता है। प्रधान कर्म्म से स्वर्गादि फलों की प्राप्ति होती है। यह प्रधान कर्म्म यज्ञकर्त्ता यजमान पुरुष का स्वर्गादि फलों के साथ सम्बन्ध कराता है, अभीष्टार्थ को संपन्न करता है, अत

एव यह कर्म्म पुरुषार्थ कहलाता है। प्रधान कर्म्मरूप इस पुरुषार्थकर्म्म का आदेश करने वाली श्रुति ही **"अनारभ्याधीता"** नाम से व्यवहृत होती है। एवं क्रत्वर्थकर्म्म का आदेश करने वाले विधिवचन **"आरभ्याधीत"** नाम से प्रसिद्ध हैं। एक में **स्वर्ग** इष्ट है, दूसरे में **लिङर्थ** इष्ट है। किसी कर्म्म के आरम्भक्रम के (सिलसिले के) बिना जो विधि हमारे सामने आती है, वह स्वतन्त्ररूप से विहित होती हुई "अनारभ्याधीता" कहलाती है। उदाहरणार्थ—**"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"**–**"ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत"**–**"अहरहः सन्ध्यामुपासीत"** इत्यादि विधिश्रुतिएं किसी कर्म्म के अङ्गों की परम्परा से कोई सम्बन्ध नहीं रखतीं। अपितु यह **दर्शपूर्णमास–ज्योतिष्टोम–सन्ध्योपासन** आदि स्वतन्त्र (अङ्गीकर्म्म) कर्म्मों का आदेश करतीं हैं। ऐसे विधिवचन किसी अन्य कर्म्म के अङ्गभाव का प्रतिपादन नहीं करते, अपितु प्रधान कर्म्मस्वरूप पुरुषार्थ का ही निरूपण करते हैं। यजमान जिस इष्ट (अभिलषितफल) की प्राप्ति के लिए यज्ञ करता है, उक्त श्रुतियों का उसी इष्ट के साथ सम्बन्ध है।

उपर्युक्त अनारभ्याधीत विधिवाक्यों के प्रकरण में (अनारभ्याधीत विधि कर्म्मों के स्वरूप संपादक) मध्य मध्य में ओर ओर जो विधिवाक्य आजाते हैं, वे सब **'आरभ्याधीत'** नाम से प्रसिद्ध हैं। अनारभ्याधीत विधिवाक्यों के आरम्भ होजानें पर इन के मध्य मध्य में यथावसर अवान्तरकर्म्मद्योतक इन विधि वाक्यों का आरम्भ होता है, अत एव अङ्गकर्म्म सूचक यह अवान्तर मध्यपतित विधिवचन **'आरभ्याधीत'** नाम से व्यवहृत हुए हैं। दूसरे शब्दों में प्रधानकर्म्म के आरम्भ में पढ़ेजानें के कारण भी इन वचनों को आरभ्याधीत कहा जासकता है। उदाहरणार्थ **"दध्ना जुहोति"–"अपउपस्पृशति"–"अपः प्रणयति"–प्रवराय आश्रावयति"–"गार्हपत्ये हवींषि श्रपयन्ति"–"पवित्रे करोति"-"स्रुचौ सम्मार्ष्टि"-वषट्कृते जुहोति"-'सान्तपनेभ्यो मरुद्भ्यः सप्तकपालं पुरोडाशं निर्वपति"** यह सब आरभ्याधीत विधिवचन हैं। इन सब से दर्शपूर्ण मासादिरूप अनारभ्याधीत कर्म्मों का स्वरूप निष्पन्न होता है। ऐसी अवस्था में हम इन आरभ्यातीत कर्म्मों को अवश्य ही क्रत्वर्थकर्म्म कह सकते हैं। **"दर्शपूर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"** इस वाक्य में जो लिङर्थ है, उसकी इतिकर्त्तव्यता पूरी करने के लिए ही उक्त

आरम्याधीत विधिवचन प्रवृत्त होते हैं। पानी से आचमन करना, अपां प्रणयन करना, गार्हपत्य में हवि का परिपाक करना, पानी में कुशा डालना, यह सब अङ्गकर्म्म हैं। इन के संपन्न हुए बिना अङ्गीभूत दर्शपूर्णमास का स्वरूप कथमपि संपन्न नहीं हो सकता।

तीसरा विभाग है **सामान्यविधियों** का। **"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं-समाः"—"स्वाध्यायान् मा प्रमद"—"देवपितृकार्याभ्यां मा प्रमद"—"अहरहर्भूतेभ्यो बलिं दद्यात्"—"मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—"अनृतं मा ब्रूयाः"—"सत्यं वद"—"धर्म्मं चर"** इत्यादि वचन सामान्यविधि कोटि में प्रविष्ट हैं। किसी फल की आकांक्षा न करते हुए यावज्जीवन निष्काम कर्म्म करते हुए ही जीवित रहने की इच्छा करो, कभी मिथ्याभाषण न करो, इत्यादि रूप से मनुष्यमात्र से सम्बन्ध रखने वाले सामान्य कर्म्मों का उपदेश देनें वाले उक्त वचन अवश्य ही सामान्यविधि कोटि में माने जासकते हैं।

इस प्रकार **अनारभ्याधीत, आरभ्याधीत,** सामान्याधीत भेद से विधि वचनों के तीन व्यवस्थित विभाग होजाते हैं। इन तीनों ही विधियों की उपनिषत् (मौलिकविज्ञान सिद्धान्त, उपपत्ति, उसूल) भिन्न भिन्न हैं। **दर्शपूर्णमास से स्वर्ग कैसे मिलता है? सन्ध्या का क्या फल है?** इत्यादि **पुरुषार्थ कर्म्मों** की उपनिषत् भिन्न हैं। **दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए सान्नाय्य की ही आहुति क्यों दी जाती है? आचमन क्यों किया जाता है? अपां प्रणयन से क्या लाभ है? पानी में दर्भ क्यों डाले जाते हैं?** इत्यादि **क्रत्वर्थ कर्म्मों** की उपनिषत् भिन्न हैं। एवं **सत्यभाषण, अहिंसा, सर्वभूतरति, भूतयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, अतिथियज्ञ** इत्यादि सामान्य कर्म्मों की उपनिषत् पृथक् हैं। इन तीनों विधियों में **आरभ्याधीत** विधिएं असंख्य हैं। प्रत्येक का स्वरूप बतलानें वाली उपनिषदें भी अनन्त हैं। अतएव बोधसौकर्य्य के लिए उन आरम्याधीत कर्म्मों की उपनिषदों का तत्तत् क्रत्वर्थ कर्म्मों के साथ ही प्रतिपादन कर दिया जाता है। **अपांप्रणयन, आचमन, प्रोक्षण, पुरोडाशश्रपण, पवित्रीकरण, पात्रासादन, पात्रप्रतपन, हविर्ग्रहण, इध्मसन्नहन, अग्निसमिन्धन, होतृप्रवरण, पुरोडाशसम्पादन, आज्यविलापन, गोदोहन, वेदिसम्पादन, अग्निमन्थन, दक्षिणादान** आदि आदि जितनें भी क्रत्वर्थकर्म हैं, उन सब की

उपनिषदें उन उन कर्म्मों की इतिकर्त्तव्यता के साथ साथ ही (ब्राह्मणग्रन्थों में) प्रतिपादित हैं। इन सब के स्वरूपज्ञान के लिए तो ब्राह्मणग्रन्थों का पर्य्यालोडन ही अपेक्षित है। प्रकृत में उदाहरण के लिए केवल अप उपस्पर्श (आचमन) कर्म्म की इतिकर्त्तव्यता, एवं इस की उपनिषद् का संक्षेप से दिग्दर्शन करा दिया जाता है।

पूर्णिमातिथि (पूर्णिमोत्तर प्रतिपत्) में पौर्णमासेष्टि होती है, एवं अमोत्तर प्रतिपत् में दर्शेष्टि की जाती है। यह दोनों ही एक प्रकार से पुरुषार्थकर्म्म हैं। अनारभ्याधीत विधि से सम्बन्ध रखने वाले हैं। दर्शेष्टि में इन्द्र के लिए सन्नाय्य दिया जाता है। इस सन्नायद्रव्य सम्पादन के लिए प्रथम दिन में-"इषे त्वोर्जेत्वा वायवस्थ देवो वः सविताप्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्म्मणे" (यजु०सं०१।१) इत्यादि मन्त्र से पलाशशाखा द्वारा वत्स (गोवत्स) निवारण पूर्वक गोदोहन कर्म्म किया जाता है। दूसरे दिन प्रतिपत् को प्रातःकाल ही यज्ञकर्त्ता यजमान सब से पहिले व्रतोपायन कर्म्म करता है। आहवनीयकुण्ड एवं गार्हपत्यकुण्ड दोनों के मध्य में खड़ा होकर यजमान—"अग्ने! व्रतपते! व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्" (यजुःसं०१।५।) यह मन्त्र बोलता हुआ दोनों अग्नियों की साक्षी में व्रत ग्रहण करता है। गार्हपत्याग्नि पार्थिव-अग्निस्थानीय है, एवं आहवनीय अग्नि सौरदिव्याग्निस्थानीय है। इन दोनों के मध्य में खड़े होने की उपनिषत् यही है कि यज्ञद्वारा स्वर्गलोकावाप्ति साधक नया दैवात्मा उत्पन्न किया जाता है। इस के ग्रन्थिबन्धन से बद्ध यज्ञकर्त्ता यजमान का कर्म्मभोक्ता मानुषात्मा इस शरीर के छूट जाने पर सप्तदशस्थानीय नाचिकेतस्वर्ग में प्रतिष्ठित होजाता है। अभी प्राप्तआयुभोगपर्य्यन्त यजमान को पृथिवीलोक में रहना है, साथ ही में स्वर्ग्याग्निरूप आहवनीय के साथ भी सम्बन्ध जोड़ना आवश्यक है। इन दोनों फलों की सिद्धि के लिए दोनों अग्नियों के मध्य में खड़े होकर ही व्रतग्रहण करना उचित है। अपिच व्रतपति अग्नि आन्तरिक्ष्य है, जैसा कि ई०उ०भा०द्वि०-खण्ड के त्रयीवेद प्रकरण में बतलाया गया है। इस आन्तरिक्ष्य व्रतपति अग्नि की सम्पत्ति प्राप्ति के लिए भी, दूसरे शब्दों में व्रतपति अग्नि की साक्षी में व्रतग्रहण करने के अभिप्राय से भी गार्हपत्यरूप पृथिवी, आहवनीयरूप द्युलोक के मध्यरूप अन्तरिक्ष में खड़े होकर व्रतग्रहण करना

उचित होता है। उक्त मन्त्र बोलता हुआ यजमान पानी का आचमन करता है। आचमन करना ही व्रतोपायन कर्म्म है। अग्नि के मध्य में खड़े होकर क्यों अप उपस्पर्श (आचमन) रूप व्रतोपायन कर्म्म किया जाता है ? इस की उपनिषत् बतलाती हुई ब्राह्मणश्रुति कहती है—

"व्रतमुपैष्यन्—अन्तरेणाहवनीयं च गार्हपत्यं च प्राङ्तिष्ठन्नप उपस्पृशति। तद्यदप उपस्पृशति-(तदुच्यते)-अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति, तेन पूतिरन्तरतः। मेध्या वाऽआपः। मेध्यो-भूत्वा व्रतमुपायानि-इति। पवित्रं वाऽआपः पवित्रपूतो व्रत-मुपायानि-इति। तस्माद्वा अप उपस्पृशति" (इत्युपनिषत्)"
(शत० १।१।१।१।) इति ॥

"स वा एष आत्मा वाङ्मयः प्राणमयो मनोमयः" (बृ०आ०उपनिषत्) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार हमारा आत्मा मन-प्राण-वाङ्मय है। मनप्राणवाङ्मय आत्मा के काम यत्न-श्रम यह तीन धर्म्म हैं। कामना मन का व्यापार है, यत्न (कृति-चेष्टा) प्राण का व्यापार है, श्रम वाग्व्यापार है। सृष्टिसाक्षी मनप्राणवाङ्मय प्रजापति की सृष्टि के मूलाधार यही तीन व्यापार हैं। अतएव इन्हें सृष्टि के सामान्य अनुबन्ध माना जाता है। परस्पर में सर्वथा विभिन्न सभी सृष्टियों में उक्त तीनों व्यापारों का समन्वय नितान्त अपेक्षित है। अत एव सृष्टिकर्म्मप्रति-पादिका सभी श्रुतियों के आरम्भमें—"प्रजापतिर्वा इदमग्र एक एवास। सोऽकामयत बहु-स्याम्, प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत, सोऽश्राम्यत्" इत्यादिरूप से काम-तप-श्रम भावों का ही निर्देश रहता है। यही कारण है कि ईश्वर प्रजापति के अंशभूत जीवप्रजापति के सम्पूर्ण कर्म्म उक्त तीनों व्यापारों के आधार पर ही प्रतिष्ठित हैं। हम सर्वप्रथम कामना करते हैं, कामना के अनन्तर तदनुकूला चेष्टा होती है, यह चेष्टा ही प्राणव्यापार है। हस्तादि इन्द्रियों का व्यापार बहिर्व्यापार है, यही श्रम है। लकवे का रोगी उठने का यत्न करता है। उस में प्राणव्यापार होता है, परन्तु हाथ पैर काम नहीं देते। इस में श्रम का अभाव है।

उक्त तीनों व्यापारों का यदि एक ही कर्म्म से सम्बन्ध होता है, दूसरे शब्दों में कामना

का जैसा स्वरूप होता है, तदनुरूप ही यदि तप एवं श्रम होता है तो उस कर्म्म में पूर्ण सफलता मिलती है। तीनों को एक मार्ग में रखने से आत्मा का धरातल अविच्छिन्न रहता है। तीनों एकरूप से काम करते हैं, यही आत्मा का **ऋजुभाव** (सीधापना समानधरातलता) है। इन तीनों में मन प्रधान है। यदि मनोमूला कामना की अपेक्षा से प्राणमूल तप, एवं वाङ्मूल श्रम विभिन्न मार्ग में चले जाते हैं तो मन क्षुब्ध होता हुआ चञ्चल बन जाता है। चञ्चल, अतएव अस्थिर मन में सौरप्राणदेवसमष्टिरूप **विज्ञान** (बुद्धि) तत्व का प्रतिबिम्ब यथावत् प्रतिष्ठित नहीं होता। कारण-स्पष्ट है। पानी का पात्र यदि हिलता रहता है तो उस पर सूर्य्य का प्रतिबिम्ब पूर्णरूप से विकसित नहीं होता। यदि आदर्श (काच) वत् पात्र स्थिर रहता है तो उस में सूर्य्यप्रतिबिम्ब का पूर्ण विकास हो जाता है। ऐसे पूर्ण प्रतिबिम्ब भाव के लिए आधारपात्र की स्थिरता, समानधरातलता, एवं एकरूपता सर्वथा अपेक्षित है। आत्मसंस्था में ऐसा होना तभी सम्भव है, जब कि मन-प्राण-वाक् इन तीनों आत्मकलाओं को समानमार्ग की अनुगामिनिएं बनाया जाय। ऐसा अकुटिल आत्मा विज्ञान प्रतिबिम्ब की पूर्णता से पूर्ण ज्योतिर्म्मय रहता है, अत एव ऐसे पुरुषधौरेय **'महात्मा'** नाम से पुकारे जाते हैं। ठीक इस के विपरीत जो पुरुष कामना और रखते हैं, करते कुछ और हैं, कहते कुछ और ही हैं, उनके आत्मा के मन–प्राण–वाक् यह तीनों अवयव सर्वथा विरुद्ध दिशाओं में जाते हुए आत्मस्वरूप को कुटिल बनादेते हैं। तीनों अवयवों के विरुद्धगामी होजाने से मनोमय आदर्श क्षुब्ध होजाता है। ऐसे कुटिल-विषमधरातलयुक्त आत्मा पर विज्ञान का विकास नहीं होने पाता। उन का आत्मा दुष्ट है। अतएव ऐसे अन्यथागामियों को **"दुरात्मा"** कहा जाता है। इसी आत्मविज्ञान को लक्ष्य में रखकर अभियुक्त कहते हैं—

मनस्येकं वचस्येकं कर्म्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यद् वचस्यन्यद् कर्म्मण्यद् दुरात्मनाम् ॥

आत्मा में कुछ और है, कहते कुछ और हैं, करते कुछ और हैं, यही **अनृतभाव** है। ऋजु सत्यमार्ग है, सत्यभाव ही ऋत है। ऋतभावशून्य (सत्यभावशून्य) आत्मा **अनृत** है। अनृत-तत्व ही **वाक्** का मूल है। जिस प्रकार मूल (जड़) के व्यक्त हो जाने पर (उसके भूगर्भ से बाहर

निकल जाने पर) वृक्ष सूख जाता है, एवमेव अनृतरूप वाङ्मूल के व्यक्त होजाने से (अनृत-भाषण से) आत्मरस सूख जाता है। इसी अनृतविज्ञान को लक्ष्य में रखकर श्रुति कहती है—

१— "अथ योऽनृतं वदति, यथाग्निं समिद्धं तमुदकेनाभिषिञ्चेत्-एवं हैनं स जासयति। तस्य कनीयः कनीय एव तेजो भवति, श्वः श्वः पापीयान् भवति। तस्मात् सत्यमेव वदेत्" (शत० २।२।२।१९।)

२—*"समूलो वा एष परिशुष्यति, योऽनृतमभिवदति" (प्र०उ०६।)

"तदेतत् पुष्पं फलं वाचो यत् सत्यम्। स हेश्वरो यशस्वी कल्याण कीर्त्तिर्भवितोः। पुष्पं हि फलं वाचः सत्यं वदति। अथैतन्मूलं वाचो यदनृतं। तद्यथा वृक्ष आविर्मूलः शुष्यति, स उद्वर्त्तत, एवमेवानृतं वदन्नाविर्मूलमात्मानं करोति, स शुष्यति, स उद्वर्त्तते। तस्मादनृतं न वदेत्, दयेत त्वेतेन" इति। (ऐ०आ०२।३।६)।

यह अनृतभाग अविद्यारूप पाप्मा है। इस से आत्मा अपवित्र होजाता है। एवं साथ ही में विजातीय आवरण के कारण इस पर दिव्य संस्कारों का भी आधान नहीं होता। +"सत्य-संहिता वै देवाः—अनृत संहिता मनुष्याः" (शत०१।१।१।३।) इस श्रौतसिद्धान्त के अनुसार ऋततत्व का प्रथमज मनुष्य अवश्य ही अनृतसंहित है। आत्मा की सृष्ट्युन्मुख तीनों कलाओं में से मनःकला सर्वान्तरतम है। अनृतभाषण से इसी कला पर विशेष आघात होता है। मिथ्याभाषण से विचार दूषित होजाते हैं, भावना कलुषित होजाती है। इसी रहस्य को लक्ष्य में रखकर— "तेन पूतिरन्तरतः" यह कहा गया है। अनृतसंहित (झूठ बोलने का अभ्यासी) मनुष्य इसी अनृतभाव के कारण अमेध्य एवं अपवित्र बना रहता है। किसी दूसरे दिव्य संस्कार का मन के साथ संगम न होना ही मन की अमेध्यता है। एवं कलुषितभावों का समावेश होजाना ही अपवित्रता है। संस्कारग्रहणायोग्यता, एवं विचारकालुष्य ही क्रमशः अमेध्य, एवं अपवित्रभाव हैं।

---

*इस विषय का विशद वैज्ञानिक विवेचन प्रश्नोपनिषद्हिन्दीविज्ञानभाष्य में देखना चाहिए।

+इस निगमश्रुति का विशद विवेचन शतपथहिन्दीविज्ञानभाष्य में निकल चुका है।

यज्ञकर्त्ता **यजमान** वैधयज्ञद्वारा दिव्यलोकस्थ **सौर** देवताओं का अपने आत्मा के साथ सम्बन्ध कराना चाहता है। परन्तु अनृतमूलक अमेध्य एवं अपवित्र भाव के कारण उन देवताओं का संस्काराधान नहीं होता। इस दोष को हटाने के लिए ही **मन्त्रपूत** पानी का आचमन किया जाता है। पानी में दोनों गुण हैं। वस्त्र चिकना है, अतएव वह अमेध्य एवं अपवित्र है। पानी चिकनाहट को दूर कर वस्त्र को पवित्र बना देता है। वस्त्र पवित्र होगया, परन्तु अभी मेध्य नहीं बना। अभी इसमें वर्ण (रंग) संस्कारग्रहणयोग्यता का समावेश नहीं हुआ। इसके लिए भी पानी का ही आश्रय लेना पड़ेगा। वस्त्र को पानी में डाल दीजिए, उसी समय वह मेध्य (संगमनीय) होता हुआ, रंगसंस्कार का अपने ऊपर आधान कर लेगा। दोषमार्जन करने के कारण पवित्र, एवं संस्काराधानयोग्यता सम्पादन करने के कारण मेध्य गुण से युक्त पानी के आचमन से (मन्त्रशक्ति के सहयोग से) आत्मा अवश्य ही मेध्य एवं पवित्र होजायगा। ध्यान रहै, साधारण अयज्ञिय अमन्त्रक पानी में उक्त अतिशय कदापि नहीं है। है—परन्तु अत्यल्पमात्रा में। मन्त्रवाक् ही इस अतिशय को विकसित करने में समर्थ है। देवता त्रिसत्य हैं। अतएव अप उपस्पर्श भी तीन ही बार किया जाता है। **व्रतोपायन** कर्म्म की यही संक्षिप्त उपनिषत् है।

इसी प्रकार--

"अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्। तत् प्रथमेनैतत् कर्म्मणा सर्वमाप्नोति।
यद्वास्य होता वा० नाभ्यापर्याति, तदेवास्यैतेन सर्वमाप्तं भवति"
(शत० १।१।१।१७।)

"पानी से सब कुछ व्याप्त है। (अपांप्रणयन करता हुआ यजमान) इस प्रथम कर्म्म से ही सब कुछ प्राप्त करलेता है। अपि च यजमान के यज्ञस्वरूप सम्पादक होता, अध्वर्यु-आदि ऋत्विक् मनुष्यसुलभदोष से यदि किसी यज्ञफल को प्राप्त करनें में असमर्थ रहजाते हैं, तो वह भी इस अपांप्रणयन कर्म्म से सब कुछ प्राप्त होजाता है" **अपांप्रणयन** कर्म्म की यही उपनिषत् है। इसी प्रकार पूर्व में जिन कुछ एक क्रत्वर्थ कर्म्मों का

दिग्दर्शन कराया गया है, उन सब की उपनिषदें निम्नलिखितरूप से तत्तत् कर्म्मपद्धति के साथ ही निरूपित हैं।

१—"वृत्रो ह वा इदं सर्वं वृत्वा शिष्ये यदिदमन्तरेण द्यावापृथिवी०" (श० १।१।२।४)।

२—"तं श्रपयति। न वाऽएतस्य मनुष्यः श्रपयिता, देवो ह्येषः०" (शत० १।२।२।१.४)।

३—"पवित्रे करोति। अयं वै पवित्रो योऽयं पवते०" (शत० १।१।३।१-२-)।

४—"द्वन्द्वं पात्राण्युदाहरति० द्वन्द्वं वै वीर्यं, द्वन्द्वं वै मिथुनम्" (शत० १।१।१।२२)।

५—"देवा ह वै यज्ञं तन्वानाः। तेऽसुररक्षसेभ्य आसङ्गात्०" (शत० १।१।२।३)।

६—"यज्ञो वा अनः। भूमा वा अनः। ++। तस्मादनस एव०" (शत० १।१।२।७)।

७—'समिन्धे सामिधेनीभिर्होता। तस्मात् सामिधेन्यो नाम" (शत० १।३।२।१)।

८—"अथार्षेयं प्रवृणीते। परस्तादर्वाक् प्रवृणीते। परस्ताद्ध्य०" (शत० १।४।२।३-४)।

९—"स वै कपालान्येवान्यतर उपदधाति० शिरो वा एतद्यज्ञस्य०" (शत० १।२।१।१)।

१०—"यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्—तदस्या आहरन्त्याऽ०" (शत० १।६।५)।

११—"ते होचुः—हन्तेमां पृथिवीं विभजामहै। तां विभज्य०" (शत० १।२।५)।

१२—"तद्धैकेऽनुदिते० अहैवं देवाः० यशोह भवति०" (शत० २।८।४)।

१३—"स एष यज्ञो हतो न ददक्षे, तं देवा दक्षिणाभिरदक्षयन्०" (शत० २।२।२)।

उक्त उपनिषत् (मौलिक उपपत्तिएं) क्रमशः १-प्रोक्षण, २-पुरोडाशश्रपण, ३-पवित्रीकरण, ४-पात्रासादन, ५-पात्रप्रतपन, ६-हविर्ग्रहण, ७-अग्निमन्थन, ८-होतृप्रवरण, ९-पुरोडाशसम्पादन, १०-आज्यविलापन, ११-गोदोहन, १२-वेदिसम्पादन, १३-अग्निमन्थन, १४-दक्षिणादान इन कर्म्मों के साथ सम्बन्ध रखती हैं। इन सब का विशद विवेचन शतपथभाष्य में द्रष्टव्य है। पूर्व प्रकरण से बतलाना हमें यही है कि अङ्गभूत आरभ्याधीत क्रत्वर्थ कर्म्मों की उपनिषदें उन उन कर्म्मों के साथ ही उपात्त हैं। इन क्रत्वर्थकर्म्मोपनिषदों का ब्राह्मणभाग में ही अन्तर्भाव है। अतएव-"यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेनगृह्यन्ते" इस सर्वसम्मत न्याय के अनुसार इन उपनिषदों का ब्राह्मणशब्द से ही ग्रहण कर लिया जाता

है । कर्म्मकाण्ड प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थ के साथ उपनिषत् है अवश्य, परन्तु कर्म्मप्रधानता के कारण तद्वाद न्यायानुसार उन्हें–'**उपनिषत्**' शब्द से व्यवहृत करने का अवसर ही नहीं आता । ब्राह्मणभाग सम्बन्धिनी उपनिषदों का उपनिषत् शब्द से ग्रहण क्यों नहीं हुआ ? ब्राह्मणभाग इन उपनिषदों के सम्बन्ध से ब्राह्मणशब्द व्यवहार उपनिषत् शब्द से व्यवहृत क्यों नहीं हुआ ? इस का यही उक्त समाधान है ।

यह तो हुई आरभ्याधीत क्रत्वर्थ कर्म्मों की उपनिषदों की व्यवस्था। अब क्रमप्राप्त अनारभ्याधीत पुरुषार्थकर्म्मसम्बन्धिनी उपनिषदों का विचार कीजिए । **दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, ग्रहयाग, राजसूय, वाजपेय, चयन** आदि यज्ञकर्म्म पुरुषार्थ कर्म्म हैं । इन की उपनिषदें महाविज्ञान से सम्बन्ध रखतीं हैं । अतएव इनमें से कुछ एक कर्म्मों की उपनिषदों का (जिन की कि उपनिषत् प्रधान रूप से कर्म्म की ओर झुकीं हुई हैं) तो निरूपण स्वयं ब्राह्मणभाग में ही कर दिया गया है । उदाहरणार्थ **वरुणप्रघासेष्टि** नाम के पुरुषार्थ कर्म्म को ही लीजिए ।

आठ वसु (८), ग्यारह रुद्र (११), बारह आदित्य (१२), प्रजापति (१), वषट्कार (१) यह ३३ दिव्यप्रजा **हिरण्यगर्भप्रजापति** (सूर्य्य) से उत्पन्न हुई । उत्पन्न होते ही वह प्रजा **वरुण** देवता के **पाश** में बद्ध होगई । वरुण पानी के देवता हैं । पानी भूतभाग है, प्राण देवभाग है । प्राणरूप देवता भूत के साथ नित्य सम्बद्ध हैं । इन अनेक विध प्राणों में से **आप्य** प्राण (अब्भूत में रहने वाले प्राण) का ही नाम वरुण है **वर्षाऋतु** में (जब कि सम्पूर्ण भूमण्डल आपोमय पारमेष्ठ्य समुद्र के गर्भ में प्रविष्ट रहता है) सजातीय सम्बन्ध के कारण प्रकृतिमण्डल में वरुणदेवता (आप्यप्राण) का साम्राज्य रहता है । वर्षाकाल में उत्पन्न **ओषधि-वनस्पतियों** में वरुण प्राण व्याप्त रहता है । वर्षा-ऋतु में (आषाढ शुक्ल एकादशी से आरम्भ कर कार्त्तिक शुक्ल एकादशी पर्य्यन्त) भूमण्डल **वरुणगृह** (आप्यमण्डल) में निवास करता है । इतने कालतक आग्नेय इन्द्रप्रधान ज्योतिर्म्मय प्राणदेवताओं की सुषुप्ति मानी जाती है । देवता सौर हैं, सूर्य्य इन्द्र प्रधान है, इन्द्र ज्योतितत्व है । इस ज्योतिर्घनइन्द्र एवं वरुण में परस्पर में अश्वमाहिष्य (सहजवैर) है । इन्द्र पूर्व दिशा के लोकपाल हैं, वरुण पश्चिम दिशा के दिक्पाल हैं । वारुण आप्यप्राण **बलप्रद** होता हुआ **असुर**

है, ऐन्द्र ज्योतिर्म्मयप्राण बुद्धिप्रद बनता हुआ देवता है। वर्षा में वरुण की कृपा से असुरों का साम्राज्य रहता है। देवताओं का बल अभिभूत रहता है। यही देवताओं का सोना है। इस काल में प्रजा जो अन्न खाती है, वह भी वारुण आसुरप्राणप्रधान ही रहता है। इस अन्न की शरीराग्नि में आहुति होनें से अन्नरसमय पुरुष (भूतात्मा) दोषाक्रान्त हो जाता है। इन्द्रशचि नाम से प्रसिद्ध उत्साह बढ़ानें वाली ऊर्जाशक्ति (Energy) वरुण के आक्रमण से शिथिल होजाती है। इसी आधार पर "वर्षासु दोषा कुप्यन्ति" (अष्टाङ्गहृदय) यह प्रसिद्ध है। बर्साती अन्न, एवं बर्साती वायु शरीर को जकड़ देता है। यही वरुणपाश का बन्धन है। इसी को दूर करने के लिए, दूसरे शब्दों में अन्न में रहने वाले वारुणभाव को हटाने के लिए ही "वरुणप्रघासेष्टि" की जाती है। (देखिए—शत० २।५।२)। इसी प्रकार निम्न लिखित स्थलों में चातुर्मास्यादि कर्म्मों की उपनिषदों का भी ब्राह्मणभाग में ही निरूपण हुआ है।

१—"त्वष्टुर्ह वै पुत्र स्त्रिशीर्षा षडक्ष आस०+++तावेनमुपावद्रतुः। तान्नु-सेव देवाः प्रेयुः, सर्वा विद्याः, सर्वं यशः, सर्वमन्नाद्यं, सर्वा श्रीः। तेनेष्ट्वा-इन्द्र एतदभवद्-यदिदमिन्द्रः। एष उ पौर्णमासस्य बन्धुः।" (शत० १।६।३।)।

२—"इन्द्रो ह यत्र वृत्राय वज्रं प्रजहार, सोऽबलीयान् मन्यमानो नास्तृषी-तीव बिभ्यन्निलयां चक्रे। +++। तेनैतां रात्रिं सहाजगाम। +++। तद्यदेष एतांरात्रिमिहामावसति, तस्मादमावास्या नाम" (शत१।६।४।)।

३—"अक्षय्यं ह वै सुकृतं चातुर्मास्ययाजिनो भवन्ति। +++। या वै देवानां श्रीरासीत् साकमेधैरीजानानां विजिग्यानानां तच्छुनं, अथ यः संवत्सरस्य प्रजितस्य रस आसीत्, तत् सीरम्०" (शत० २।६।३।)।

४—"एष वै ग्रहो य एष तपति, येनेमाः सर्वाः प्रजा गृहीताः। तस्मादा-हुर्ग्रहान् गृह्णीम इति चरन्ति ग्रहगृहीताः सन्त इति। वागेव ग्रहः। नामैव ग्रहः। अन्नमेव ग्रहः" (शत० ४।६।५।)।

५—"देवाश्च वाऽअसुराश्च-उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे ०+++ । स वा एष ब्राह्मणस्यैव यज्ञः । बृहस्पति ब्रह्म । वाजपेयेनेष्ट्वा सम्राड् भवति । स इदं संवृङ्क्ते । तद्यथैवादो बृहस्पतिः सवितारं प्रसवायोपाधावत्" (शत० ५।१।१) ।

६—"राजा वै राजसूयेनेष्ट्वा भवति । अवरं वै राजसूयम् । (श०५।१।१।) । अरण्योरग्निसमारोह्य सेनान्यो गृहान् परेत्याग्नयेऽनीकवतेऽष्ट कपालं पुरोडाशं निर्वपति । अग्निर्वैदेवानामनीकम्०" (शत० ५।३।१

७—"अग्निरेषपुरस्ताच्चीयते संवत्सरे, उपरिष्टान्महदुक्थं शस्यते । प्रजापते विस्रस्तस्याग्रं रसोऽगच्छत् । स यः स प्रजापतिर्व्यस्रंसत, संवत्सरः सः । अथ यान्यस्य तानि पर्वाणि०"(शत०१०।१।१) ।

उक्त उपनिषदों का क्रमशः १—पूर्णमास, २—दर्श, ३—चातुर्मास्य, ४—ग्रहयाग, ५—वाजपेय, ६—राजसूय, ७—चयन इन पुरुषार्थ कर्म्मों के साथ है । इस प्रकार अनारभ्याधीत पुरुषार्थ कर्म्मों में से भी कितने ही कर्म्मों की उपनिषदें ब्राह्मणभाग में तत्तत् कर्म्मों के साथ ही निरूपित हैं । अत. पूर्वोक्त तन्मध्यपतित न्याय से इन अनारभ्याधीत पुरुषार्थ कर्म्मों की उपनिषदों का भी ब्राह्मणभाग में अन्तर्भाव मानलिया जाता है। फलतः आरभ्याधीतविध्युपनिषदों के समान ही इन उपनिषदों का भी उपनिषच्छब्द से व्यवहार करने का अवसर नहीं आता ।

अब शेष रह जाते हैं—महाविज्ञानसम्बन्धी कतिपय अनारभ्याधीत पुरुषार्थकर्म्म, एवं साधारण कर्म्म । इन उभयविधकर्म्मों की उपनिषदों को पृथक् छांट कर इन का स्वतन्त्ररूप से निरूपण किया गया है । वही स्वतन्त्रविभाग आज दिन विद्वत् समाज में "उपनिषत" नाम से प्रसिद्ध है । उदाहरणार्थ एकधनावरोध, देवस्मर आदि अनारभ्याधीत कर्म्मों की उपनिषत् का कौषीतकि उपनिषत् में निरूपण है—(देखिए कौ०उ०२।३।४।) । "सैषात्रयीविद्यायज्ञः" (श०-१।१।४।३।) के अनुसार ऋग्-यजुः साम ही क्रमशः शस्त्र-ग्रह-स्तोत्र कर्म्म के प्रवर्त्तक बनते हुए

यज्ञकर्म्म के मूलाधार हैं। नित्य मौलिक एवं अपौरुषेय त्रयीवेद का स्वरूप प्रतिपादन करने वाली मन्त्रात्मिका शब्दराशिरूपा वेदत्रयी से ही क्रमशः **हौत्र-आध्वर्यव-औद्गात्र** कर्म्मद्वारा वैधयज्ञ की स्वरूपनिष्पत्ति होती है। पूर्वकथनानुसार पुरुष अनृतसंहित है। अतएव चर्म्मचक्षुओं से सर्वथा अपरोक्ष इस दिव्यकर्म्म में अनृतसंहित मनुष्य से भूल होजाना स्वाभाविक है। **होता-अध्वर्यु-उद्गाता-ब्रह्मा**-चारों ऋत्विक् यज्ञस्वरूपनिर्म्माता हैं। होता ऋक् का प्रवर्त्तक बनता हुआ हौत्ररूप शस्त्र-कर्म्म का, अध्वर्यु यजु का प्रवर्त्तक बनता हुआ आध्वर्यवरूप ग्रहकर्म्म का, उद्गाता साम का प्रवर्त्तक बनता हुआ औद्गात्ररूप स्तोत्रकर्म्म का सम्पादन करता है। एवं त्रयीविद्या का परिज्ञाता ब्रह्मा निरीक्षण करता है। यह चारों ही ऋत्विक् यज्ञकर्त्ता यजमान के दक्षिणाक्रीत प्रतिनिधि हैं। यदि प्रमादवश इन के कर्म्म में कोई अज्ञात, अथवा ज्ञात दोष होजाता है, कोई त्रुटि रहजाती है तो वितत यज्ञसूत्र विच्छिन्न होजाता है। ऋक् अग्निमय बनता हुआ **भूर्लोक** की वस्तु है, अतएव ऋग्वेदी होता से हौत्रकर्म्म में यदि कोई त्रुटि होजाती है तो प्रायश्चित्त कर्म्म के अधिष्ठाता ब्रह्मा **"भूः स्वाहा"** यह मन्त्र बोलते हुए भूलोकस्थानीय **गार्हपत्याग्नि** में आहुति देते हैं। यजुर्वेद वायुमय होता हुआ **भुवर्लोक** की वस्तु है, अतएव यजुर्वेदी अध्वर्यु से आध्वर्यव कर्म्म में यदि कोई त्रुटि होजाती है तो ब्रह्मा—**"भुवः स्वाहा"** यह बोलते हुए भुवर्लोकस्थानीय **दक्षिणाग्नि** में आहुति देते हैं। सामवेद आदित्यमय होने से **स्वर्लोक** की वस्तु है, अतएव सामवेदी उद्गाता के औद्गात्र कर्म्म में यदि कोई त्रुटि होजाती है तो ब्रह्मा **"स्वः स्वाहा"** यह बोलते हुए स्वर्लोकस्थानीय **आहवनीयाग्नि** में आहुति देते हैं। यदि स्वयं त्रैविद्य ब्रह्मा से अपने ब्रह्मकर्म्म में कोई भूल होजाती है तो वह स्वयं अपनी त्रुटिपूर्त्ति के लिए **"भूःस्वाहा-भुवःस्वाहा-स्वःस्वाहा"** यह बोलते हुए आहुति देते हैं। इस प्रकार इन आहुतियों से त्रैविद्य ब्रह्मा **विरिष्ट** (विनष्ट-विच्छिन्न-त्रुटित) **यज्ञ** का पुनः सन्धान कर देते हैं। इसी उपनिषत् के आधार पर उक्तकर्म्म—**"यज्ञविरिष्टसन्धान"** नाम से व्यवहृत होता है। इस कर्म्म की पद्धति का निरूपण **ब्राह्मणभाग** में हुआ है, एवं उपनिषत् का प्रतिपादन **छान्दोग्यउपनिषत्** में हुआ है—(देखिए छां०उ०४।अ०१७खं०)।

अब चलिए साधारण कर्म्मों की ओर। **पुरुषार्थ-क्रत्वर्थ** भेद को छोड़ दीजिए। कर्म्म

त्वेन कर्म्मसाधारण को लीजिए। **कर्म्म किया ही क्यों जाता है? कर्म्म न करने से क्या हानि है?** इस का उत्तर **आत्मोपनिषत् है।** आत्मा **ज्ञान-कर्म्म**मय है। प्रयास करने पर भी **ज्ञायते-क्रियते** इन दो भावों के अतिरिक्त तीसरा भाव उपलब्ध नहीं होसकता। **आनन्द-विज्ञान मन** इन तीनों कलाओं की समष्टि आत्मा का **ज्ञानभाग है, विद्याभाग** है। यह **अमृतधर्म्मा है, सत् है, नित्य प्रतिष्ठित है। मन-प्राण-वाक्** इन तीनों कालाओं की समष्टि आत्मा का **कर्म्म-भाग है। यह मर्त्य है, असत् है,** अतएव **अनित्य है, नित्यअप्रतिष्ठित है, प्रतिक्षण परिव-र्त्तनशील है।**

"अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।" (गी० ९।१९)।

"अर्द्धं ह वै प्रजापतेरात्मनो मर्त्यमासीदर्द्धममृतम्" (शत०१०।४।१।१)।

"उभयमु-एतत् प्रजापतिर्निरुक्तानिरुक्तश्च" (शत०६।५।३।७।)

इत्यादि **श्रौतस्मार्त्त** वचनों के अनुसार आत्मा सचमुच ज्ञान-कर्म्म दोनों की समष्टि है। कहना यही है कि ज्ञानवत् कर्म्म भी इस आत्मा का स्वरूप धर्म्म है। **"अन्तरं मृत्योरमृतं मृत्यावमृतमाहितम्"** (शत०१०।५।२।१।)–**"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्य बाह्यतः"** (शत०ब्रा०)–**"कर्म्मण्यकर्म्म यः पश्येदकर्म्मणि च कर्म्म यः"** (गीता०.........) इत्यादि के अनुसार दोनों परस्पर में अन्तरान्तरीभावसम्बन्ध से ओतप्रोत हैं। बिना **ज्ञान** के **कर्म्म** स्वस्वरूप से प्रतिष्ठित नहीं रह सकता, एवं बिना **कर्म्म** के **ज्ञान** का विकास नहीं हो सकता। यदि कर्म्म का परित्याग कर दिया जायगा तो आत्मा का स्वरूप ही नष्ट हो जायगा। इसी लिए ज्ञानवत् कर्म्म भी सर्वात्मना उपादेय एवं आदरणीय तत्व है।

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे॥" (ई० उ० २ मं०)

"कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि न करोति न लिप्यते" (गीता०.........)।

"न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः॥" (गी०३।५।)

इत्यादि वचन कर्म्म की अवश्येतिकर्त्तव्यता को भलीभांति प्रकट कर रहे हैं। ज्ञानकर्म्ममय सम्पूर्ण वेदशास्त्र केवल अध्यात्मविद्याशास्त्र है। कर्म्म भी आत्मा का अर्द्धभाग होनें से अध्यात्मसंस्था के गर्भ में ही प्रविष्ट है। ज्ञान भी अध्यात्म क्रिया है। संदंशपतिता उपासना भी अध्यात्मक्रिया है। ज्ञानकर्म्ममय इस आत्मा के कर्म **अनारभ्याधीत, आरभ्याधीत, सामान्य** भेद से तीन भागों में विभक्त हैं जैसा कि पूर्व में विस्तार से बतलाया जाचुका है। तीनों की तीन ही जाति की उपनिषदें हैं। इन में से दोनों कर्म्मों की उपनिषदों का तो पूर्वकथनानुसार (ब्राह्मणभाग में निरूपण होने के कारण) ब्राह्मणग्रन्थ में ही अन्तर्भाव है। अतः उनका (ब्राह्मण-भाग की प्रधानता के कारण) उपनिषत् शब्द से व्यवहार नहीं किया गया। शेष बचते हैं सामान्य कर्म्म। यह सामान्य कर्म्म निष्कामबुद्धि से किए जानें पर **समत्वलयरूपा परामुक्ति** के कारण बनते हुए अध्यात्म जगत् का वास्तविक उपकार करने में समर्थ होजाते हैं। अतएव तत्प्रति-पादक केवल उपनिषद्ग्रन्थ ही **अध्यात्मविद्याशास्त्र** नाम से प्रसिद्ध हो गया है। **"यदि कर्म्म-मय ब्राह्मणभाग में भी उपनिषत् है तो क्यों नहीं ब्राह्मणग्रन्थगत उपनिषदों का उपनिषत् शब्द से व्यवहार होता?"** इस पूर्वप्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है।

अब—**"आरण्यकग्रन्थ के साथ भी यदि उपनिषत् का सम्बन्ध है तो तद्गत उपनिषदों का उपनिषत् शब्द से व्यवहार क्यों नहीं होता?"** एकमात्र यह प्रश्न बच जाता है। इस प्रश्न के सम्बन्ध में अभी हमें कुछ नहीं कहना। **क्या उपनिषत् वेद है?** इस प्रश्न की मीमांसामें उक्त प्रश्न का विशेषरूप से समाधान हो जायगा। प्रकृत में इस सम्बन्ध में केवल यही समझ लेना पर्याप्त होगा कि उपासना मूलक **आरण्यकभाग** को तो **'बृहदारण्यकोपनिषत्'** इत्यादिरूप से स्वयं प्राचीनों नें ही उपनिषत् के अन्तर्भूत मानलिया है। एवं आरण्यकग्रन्थों में स्पष्टशब्दों में—**"अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच उपनिषत्"** (ऐ० आर० ३।२।५।)—इत्यादि रूप से अनेक स्थलों में उपनिषत् शब्द की प्रवृत्ति देखी जाती है।

यदि पूर्वप्रतिपादित कर्म्मकलाप की उपनिषदों का एक ही स्थान में समावेश कर दिया जाता तो हम कर्म्मस्वरूपविज्ञान से सर्वथा वञ्चित रह जाते। उन परमकारुणिक **महर्षियों** का

यह अनुग्रह था, जिन्हों नें हमारे बोधसौकर्य्य के लिए कर्मत्रयी भेद से उपनिषदों को तीन स्थानों में विभक्त कर दिया। इन में **ब्राह्मण आरण्यकभाग** की उपनिषदों का तो ब्रा० आ० की प्रधानता से ब्राह्मण-आरण्यकशब्द से ही ग्रहण हुआ, एवं अध्यात्म के चरमलक्ष्य पर पहुंचाने वाली कर्म्मोंपनिषत् का उपनिषत् की प्रधानता से **"उपनिषत्"** शब्द से व्यवहार हुआ। इसी आधार पर वेद का यह चतुर्थभाग ही उपनिषत् नाम का अधिकारी बनगया। इस प्रकार उपनिषत के पूर्वोक्त रहस्यार्थ को न समझकर केवल जाड्य श्रद्धा के आधार पर—**"उपनिषत् शब्द केवल वेद के अन्तिमभाग में ही निरूढ है, एवं अध्यात्मविद्यात्व ही इस का अवच्छेदक है"** यह मान बैठना निरी भ्रान्ति ही है।

अपिच उपनिषत शब्द को एकमात्र **ईश-केन-कठादि** के साथ ही नित्यसम्बद्ध माननें वाले महानुभावों से हम पूछते हैं कि यदि आपका सिद्धान्त निर्दुष्ट है तो सुप्रसिद्ध **गीताशास्त्र** उपनिषत् नाम से कैसे प्रसिद्ध हुआ। **भगवद्गीता** आज सम्पूर्णविश्व में **"गीतोपनिषत्"** नाम से प्रसिद्ध है। गीता के प्रत्येक अध्याय की समाप्ति में—**"इति श्रीमद्भगवद्गीतासु-उपनिषत्सु"** यह वाक्य उद्धृत रहता है साथ ही में यह भी विश्व विदित है कि गीता स्मृति-शास्त्र है। स्वयं प्राचीन भाष्यकारों नें गीता को **स्मृति** शब्द से सम्बोधित किया है- देखिए शा० भाष्य"……")। गीता को वेद का अन्तिम भाग माननें के लिए कोई सन्नद्ध नहीं होसकता। ऐसी अवस्था में हमारा यह दृढ निश्चय है कि **विज्ञानसिद्धान्त** को उपनिषत् शब्द का अवच्छेदक माने बिना प्रयत्नसहस्रों से भी आप गीतासम्बन्धिनी उक्त आपत्ति का निराकरण नहीं कर सकते। हमारे शास्त्रसिद्ध विचारों के प्रति आक्षेप प्रकट करते हुए जिस **शक्तिग्राहक-शिरोमणिवृद्धव्यवहार** को आपनें हमारे सामनें रक्खा था, उस आक्षेप का पूर्व सन्दर्भ से भली प्रकार निराकरण करते हुए गीता सम्बन्धी उसी वृद्धव्यवहार को आज हम आपके सामने रखते हैं, एवं आप से अनुरोध करते हैं कि विज्ञानसिद्धान्त को उपनिषत् पदार्थ का अवच्छेदक न मानते हुए आप अपने इस वृद्धव्यवहार एवं प्राचीनमर्यादा को सुरक्षित रखने वाले मार्ग का पहिले स्वयं अन्वेषण करें, यदि अवसर मिले तो हमें भी उस शशशृङ्गतुल्य पथ से सूचित करनें का कष्ट करें।

ब्राह्मणग्रन्थों में आरण्यक ग्रन्थों में स्थान स्थान पर "उपनिषत्" शब्द प्रयुक्त हुआ है। फिर समझ में न आया कि उपनिषत् का अवच्छेदक अध्यात्मविद्यात्व ही किस आधार पर मान लिया गया। यद्यपि पूर्व में उन वचनों का उल्लेख कर दिया है, परन्तु प्रकरण संगति के लिए यहां भी उन का संग्रह कर दिया।

१—"तस्य वा एतस्याग्नेर्वागेव—"उपानिषत्"(शत०ब्रा०१०।४।५।१।)।

२—"अथादेशा "उपानिषदाम्" (शत०ब्रा०१०।४।५।१।)।

३—"अथ खल्वियं सर्वस्यै वाच "उपनिषत्" (ऐ०आर०३।२।५)।

अपिच उपनिषत्—आरण्यक—ब्राह्मण तीनों विभाग एकमात्र आध्यात्मिक संस्था का ही निरूपण करते हुए समान विषयक हैं। अत एव एक भाग के सम्यक् परिज्ञान के लिए इतर दोनों भागों का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होजाता है। तीनों की इसी अभिन्नविषयता के कारण **सुप्रसिद्ध शतपथब्राह्मण** में तीनों का समावेश देखा जाता है। १०० अध्यायों में विभक्त अतएव **शतपथ** नाम से प्रसिद्ध इस ब्राह्मणग्रन्थ में १४ **काण्ड हैं**। इन में १३ काण्डों में तो यज्ञकर्म्मों का निरूपण हुआ है। यही वास्तव में ब्राह्मणभाग है। चौदहवें काण्ड में आरण्यक एवं उपनिषत् का समावेश है। शतपथ ब्राह्मण का १४ वां काण्ड ही पृथक्रूप से **बृहदारण्यकोपनिषत्** नाम से प्रसिद्ध है। बस इन्हीं सब कारणों से हमनें विज्ञानसिद्धान्त को उपनिषत् का अवच्छेदक माना है।

महाभारत के सुप्रसिद्ध व्याख्याता सर्वश्री **नीलकण्ठ** ने भी **"एषा तेऽभिहिता सांख्ये"** (गीता० २।३९) इस श्लोक की व्याख्या में **उपनिषत्** शब्द के उक्त विज्ञानसम्मत अर्थ में ही अपनी सम्मति प्रकट की है। जैसा कि निम्नलिखित व्याख्या वचन से स्पष्ट होजाता है।

"सांख्ये सम्यक् ख्यायते प्रकथ्यते वस्तुतत्त्वमनयेति संख्या उपनिषत्। तत्र विदिते सांख्ये औपनिषदे ब्रह्मणि विषये"

(गीताव्याख्या नीलकण्ठी २।३९)

भगवान् **व्यास**ने तो एक स्थान पर स्पष्ट ही हमारी विज्ञानदृष्टि का पूर्णरूप से समर्थन कर डाला है। जैसा कि निम्नलिखित व्यास वचनों से स्पष्ट है—

वेदस्योपनिषत् सत्यं, सत्यस्योपनिषद्दमः ॥
दमस्योपनिषद्दानं, दानस्योपनिषत्तपः ॥१॥
तपसोपनिषत्त्याग, स्त्यागस्योपनिषत सुखम् ॥
सुखस्योपनिषत् स्वर्गः, स्वर्गस्योपनिषच्छमः ॥२॥
(महाभारत शान्ति०मोक्ष०२५१अ०११-१२श्लो०)

व्यासदेव सत्य, दम, दान, तप, त्याग, सुख, स्वग, शम भावों को उपनिषत् शब्द से व्यवहृत करते हैं । यदि प्राचीनों के मतानुसार उपनिषत् शब्द को केवल ईश-केनादि का ही वाचक मान लिया जाय तो उक्त व्यासवचन का कोई मूल्य ही न रहै ।

ईश-केन-कठ-प्रश्नादि उपनिषदों में कर्म्मज्ञान का मौलिक रहस्य ही प्रधानतया निरूपित है। अतएव यह वेदान्तराशि उपनिषत् शब्द से व्यवहृत हुई है। औपनिषत् ज्ञान से हम ज्ञान-कर्म्म का मौलिक स्वरूप यथावत् समझते हुए ऐहलौकिक अभ्युदय के साथ साथ निष्काम कर्म्मयोगद्वारा पारलौकिक निःश्रेय सफल प्राप्ति में समर्थ होते हुए जीवन को कृतकृत्य बना सकते हैं। उपनिषत् शब्द का क्या अर्थ है ? इस प्रश्न का यही संक्षिप्त उत्तर है ।

इति—उपनिषच्छब्दार्थरहस्यम्

३



क्या उपनिषत् वेद है ?



❀ श्रीः ❀

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्ष सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश ॥



"ऋक्, यजुः, साम, अथर्व भेद से चार भागों में विभक्त ११३१ संहिताएं, विधि नाम से प्रसिद्ध इतने हीं ब्राह्मण, इतने हीं आरण्यक, इतनीं ही उपनिषदें इन सब ग्रन्थों की समष्टि का नाम ही वेदशास्त्र है। दूसरे शब्दों में संहिता-ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषत इन चारों का ही नाम वेद है" यह है सनातनधर्मावलम्बी विद्वानों का चिरकालिक दृढ़ विश्वास। परन्तु–"क्या उपनिषत् वेद है ?" इस प्रश्न के सम्बन्ध में चिरकाल से चली आने वाली विद्वानों की उक्त दृढ श्रद्धा के सर्वथा विपरीत आज हम यह कहने का साहस करते हैं कि "उपलब्ध अनुपलब्ध संहिताग्रन्थ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषद्ग्रन्थ यह चारों ही वेद नहीं हैं"। ऐसी अवस्था में प्रकृत प्रश्न के सम्बन्ध में भी हम निःसन्दिग्ध होकर कह सकते हैं कि–"उपनिषत वेद नहीं है"।

हमारा यह विश्वास है, विश्वास ही नहीं अपितु दृढ निश्चय है कि उक्त पङ्क्तिएं जब विद्वानों के कर्णकुहरों में प्रविष्ट होंगीं तो उस समय वे क्षुब्ध हो पड़ेंगे। आश्चर्य नहीं, क्षुब्ध होकर वे हमारे इस निबन्ध को देखना भी पाप समझने लगें। अतएव आरम्भ में ही उन नीरक्षीरविवेकी विद्वानों की सेवा में हम यह नम्र निवेदन कर देना चाहते हैं कि वे एक बार कृपा कर शान्तचित्त होकर आद्योपान्त इस निबन्ध को पढ़ने का कष्ट करें। पढ़ने के अनन्तर इस सम्बन्ध में यदि उन्हें

कुछ सन्देह हो (जिस का कि उन्हें अवसर ही नहीं मिल सकता) तो पत्र द्वारा, अथवा साक्षात् मिल कर उसे दूर करने की चेष्टा करें। हमारा विश्वास है कि हम जो कुछ लिख रहे हैं, शास्त्र-सम्मत एवं प्रमाणयुक्त होने से उस में अणुमात्र भी सन्देह का अवसर नहीं है।

कुछ एक मनचले भारतीय विद्वम्मन्यों को छोड़ कर भारतवर्ष में, क्या विदेशों में आज-ऐसा एक भी संस्कृतज्ञ विद्वान् न होगा, जो कि उपर्युक्त **संहिताब्राह्मणादि** चारों भागों को वेद न मानता हो। उन सब की दृढ श्रद्धा के एकान्ततः विरुद्ध—'**संहितादि चारों ही वेद नहीं हैं**" यह कथन कैसे प्रामाणिक माना जासकता है ? इस औचित्य अनौचित्य के निर्णय का भार "**वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय**" ? इस प्रश्न की मीमांसा पर ही निर्भर है।

जिस प्रश्न की आज हम मीमांसा करने चले हैं, **वेद अपौरुषेय है, अथवा ऋषिकृत** ?, जिस इस प्रश्न के समाधान के लिए हम प्रवृत्त हुए हैं, वह हमारे लिए एक जटिल समस्या का विषय बन रहा है। उक्त प्रश्न का कोई उत्तर नहीं हो सकता, अथवा इस सम्बन्ध में शास्त्रीय प्रमाणों का अभाव है, हमारी जटिल समस्या का यह कारण नहीं है। इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर भी मौजूद है, युक्ति, तर्क की भी कमी नहीं है। साथ ही में दृढतर प्रमाणों का भी प्राचुर्य है। फिर भी यह कहना ही पड़ता है कि वेद के पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व पर कलम उठाना इस युग में अवश्य ही एक जटिल समस्या है। क्यों ? सुनिए !

वेदशास्त्र इतर शास्त्रों की अपेक्षा हम सनातनधर्मावलम्बियों के लिए (आर्यसमाजियों के लिए भी) एक निर्भ्रान्त शास्त्र है। आदि काल से यह शास्त्र हमारे लिए अन्यतम श्रद्धा का विषय बना हुआ है। वेद का अक्षर अक्षर बिना ऊहापोह के हमारे लिए सर्वथा मान्य है। वेदशास्त्र स्वतःप्रमाण है। जिस प्रकार इतर शास्त्रों के लिए वेदप्रमाण की आवश्यकता होती है, इस तरह वेद की प्रामाणिकता के लिए अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। ऐसी परिस्थिति में ऐसे निर्भ्रान्त, स्वतःप्रमाण, अपौरुषेय, परमश्रद्धास्पद वेद के सम्बन्ध में "**वेद पौरुषेय हैं, अथवा ऋषिकृत**" ? इस प्रश्न की मीमांसा करने मात्र से भारतवर्ष के कुछ एक आस्तिक महानुभाव, साथ ही में कुछ एक विद्वान् क्षुब्ध हो पड़ते हैं। वे अपनी चिरकालिक श्रद्धा के विपरीत एक अक्षर भी

सुनना पसन्द नहीं करते। वे नहीं चाहते कि उन के विचार मीमांसा की कसोटी पर कसे जांय।

मनोविज्ञान सिद्धान्त के अनुसार यह एक मानी हुई बात है कि किसो भी विषय पर हम तर्क-युक्ति का आश्रय लेते हुए यदि मीमांसा करने लगते हैं तो एक बार हमारी जमी हुई श्रद्धा पर थोड़ी बहुत ठेस लगती है। चाहे वह विचारमीमांसा हमें अन्त में भले ही किसी सत्यनिर्णय पर पहुंचा दें, परन्तु आरम्भ में यह विचारधारा अवश्य ही हमारे क्षोभ का कारण बन जाती है। इसी एकमात्र भय की आशङ्का से कुछ एक भारतीय श्रद्धालु विद्वान् अपने श्रद्धेय सिद्धान्तों की मीमांसा करने के लिए प्रवृत्त नहीं होते। सौभाग्य से कहिए, अथवा दुर्भाग्य से यदि हमारे जैसा व्यक्ति उन के सामने उन के श्रद्धेय विषयों की मीमांसा उपस्थित करता है तो वे उस मीमांसा को बिना सुने समझे उस मीमांसक को **"नास्तिक"** शब्द की उपाधि से अलङ्कृत करने से भी पीछे नहीं हटते। बस उक्त प्रश्न की मीमांसा के सम्बन्ध में यही हमारे लिए जटिल समस्या है। दूसरा कारण सुनिए! वर्त्तमान युग में यह देखा गया है कि कितनें ही विषयों पर अपने अन्तःकरण से श्रद्धा न रखते हुए भी भारतीय विद्वान् स्वार्थसिद्धि के लिए, समाज के धनिक लोगों को प्रसन्न रखने के लिए, जनसाधारण के भय से, अथवा और किसी कारण विशेष से उन अश्रद्धेय विषयों के सम्बन्ध में हां में हां, ना में ना मिलाया करते हैं। हमें कितनें हीं ऐसे महानुभावों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ कि जो **श्राद्ध, प्रतिमोपासन, ज्यौतिषशास्त्राभिमत फलादेश** आदि पर स्वतः विश्वास न करते हुए भी जनश्रद्धा को महत्त्व देते हुए दिखाने के लिए स्वयं भी इन कर्म्मों में प्रवृत्त रहते हैं, एवं पर्य्याप्त दक्षिणा लेकर दूसरों की भी वञ्चना किया करते हैं।

भक्तमण्डली में **श्रीमद्भागवत** की रासपञ्चाध्यायी के सम्बन्ध में कितनीं एक रोचक कथाओं का समावेश देखा जाता है। जनसाधारण के चित्ताकर्षण के लिए कथावाचक महोदय मनगढन्त कई एक रोचक आख्यानों का आश्रय लिया करते हैं। साधारण जनता इन आख्यानों को वेद से भी अधिक महत्त्व की वस्तु समझने लगती है। ऐसी दशा में यदि कोई विद्वान् इन सर्वथा असत्य कथाओं पर टीका टिप्पणी करने लगता है तो भक्तमण्डली, एवं मण्डली के सञ्चालक कथावाचक महोदय लोकवृत्त की रक्षा के लिए, साथ ही में अपनी आजीविका की रक्षा के लिए उस सत्यवक्ता

को नास्तिक कह बैठने में कोई आपत्ति नहीं समझते। इस प्रकार विद्वान् कहलाने वाले महानुभाव भी स्वयं अपने कल्पना साम्राज्य पर अन्तःकरण से अश्रद्धा करते हुए असत्यमार्ग का अनुगमन करने में अपना गौरव समझ रहे हैं। यदि उन से कोई सत्यनिष्ठ व्यक्ति इस असत्यश्रद्धा के विपरीत कुछ कहने का साहस करता है तो वे महानुभाव अपने बचाव के लिए निम्न लिखित शास्त्रीय प्रमाण को आगे कर अपने कर्त्तव्य से छुट्टी पा लेते हैं—

न बुद्धिभेदं जनयदज्ञानां कर्म्मसंगिनाम्।
जोषयेत् सर्वकर्म्माणि विद्वान् युक्तः समाचरेत् ॥ (गी० ३।२६)।

इस वचन का तात्पर्यार्थ समझते हुए आप कहते हैं कि—"**अज्ञानी मनुष्य अज्ञानवश स्वश्रद्धा के अनुसार जिन कर्म्मों में प्रवृत्त हो रहा है, उस को उस श्रद्धा से नहीं हटाना चाहिए। विद्वान् का कर्त्तव्य है कि वह अपने कर्म्मों में युक्त रहता हुआ अन्य व्यक्तियों को उन के श्रद्धानुकूल कर्म्मों में प्रवृत्त रक्खे**"। ऐसी परिस्थिति में हमारा भी यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि जनसाधारण में चिरकाल से चली आने वाली —"**वेद अपौरुषेय हैं**" इस श्रद्धा के विरुद्ध लोकवृत्त की रक्षा के लिए एक अक्षर भी न बोलें। यही हमारी जटिल समस्या का दूसरा कारण है।

अब हम अपने जिज्ञासु पाठकों से प्रश्न करते हैं कि क्या उक्त अन्धश्रद्धारूप लोकवृत्त की रक्षा के बहाने हम भी मौन धारण करलें। यदि पाठक महोदय उत्तर में हां! कहेंगे तो हमें उसी गीता का (जो कि "**न बुद्धिभेदं जनयेत्**" इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है)—"**प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति**" यह सिद्धान्त उन के सामने रखना पड़ेगा। जड़श्रद्धा के उपासक कुछ एक व्यक्तियों के भय से अपने आत्मा के सत्य विचार हम नहीं रोक सकते। इस सम्बन्ध में कोई भी शक्ति हमारी प्रकृति का निग्रह नहीं कर सकती। लोकवृत्त बिगड़े, विद्वान् अप्रसन्न हों, हमें नास्तिक माना जाय, धनिकलोग अपनी भ्रूभंगी को और भी अधिक वक्र कर लें, इन सब व्यर्थ के आडम्बरों का हमें अणुमात्र भी भय नहीं है। हमारे सामने तो "मानात् सत्यं

विशिष्यते"—"सत्ये नास्ति कुतो भयम्" यह सर्वसम्मत सिद्धान्त उपस्थित हैं। सत्यतत्त्व को अपना उपास्य बना कर हम अपने जो विचार प्रकट करने वाले हैं, यदि उन विचारों में सत्य विद्यमान है तो किसी की मिथ्या श्रद्धा के विनाश का हमें कोई भय नहीं है। हमारा, हमारा ही क्या सम्पूर्ण शास्त्रों का यह निश्चित मन्तव्य है कि मिथ्या श्रद्धा थोड़े समय के लिए भले ही लोकवृत्त की रक्षा करने में समर्थ होजाय, परन्तु अन्ततोगत्वा वह समाज के विनाश का ही कारण बनती है। भारतवर्ष में द्रुतवेग से फैलती हुई यह मिथ्या श्रद्धा हमारे बचे खुचे वैभव को जब तक सर्वनाश में नहीं मिला देती है, उस से पहिले पहिले ही सत्यास्त्र-द्वारा इस पापिनी मिथ्या श्रद्धा का हमें समूल विनाश कर देना है। हां इस सम्बन्ध में हमें यह सर्वात्मना मान्य होगा कि यदि हमारे विचारों में विद्वानों को कहीं असत्य का गंध प्रतीत हो तो वे उस का प्रतीकार करें। हम विद्वानों के युक्ति-तर्क एवं प्रमाण संगत उस प्रतीकार को शिरोधार्य करते हुए अपनी भूल पर पश्चात्ताप करेंगे। इस पाप के लिए विद्वानों के निर्णयानुसार प्रायश्चित्त करेंगे। परन्तु बिना विचार परामर्श के किसी अन्ध-श्रद्धा का अनुगमन करते हुए मौन बैठे रहना हमारे लिए सर्वथा असम्भव है।

लोग हमें नास्तिक कहेंगे, हमारे व्यक्तित्वपर अश्रद्धा करेंगे, भोली जनता में हमारे विरुद्ध बुरे विचार फैलावेंगे, क्या इस भय का भी कुछ महत्व है? सर्वथा नहीं! क्यों! स्पष्ट है। शास्त्रों के प्रति श्रद्धा रखने वाला जन समाज **यथार्थग्राही, शास्त्रग्राही, कोमलश्रद्धगतानुगतिक** भेद से तीन श्रेणियों में बांटा जासकता है। शास्त्रप्रतिपादित विषयों की अपनी आर्षदृष्टि से पूर्णपरीक्षा कर उनके अन्तस्तल पर पहुंचा हुआ, अथवा परीक्षाद्वारा उन विषयों के तथ्यांशोंपर पहुंचने की शक्ति रखने वाला वर्ग ही **"यथार्थग्राही"** कहा जायगा। शास्त्रीय वचनों पर पूर्णश्रद्धा रखते हुए, शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सत्यासत्य का निर्णय करने वाला, तदनुसार ही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निश्चय करने वाला वर्ग **"शास्त्रग्राही"** नाम से सम्बोधित किया जायगा। सतत अर्थोपार्जन, सेवाधर्म्म (नौकरी) आदि में प्रवृत्त रहने के कारण जिसे शास्त्र के अध्ययन का अपने जीवन में अवसर ही नहीं मिलता, अतएव जो स्वयं शास्त्रीय सिद्धान्तों के निर्णय में असमर्थ रहता है, जो धार्मिक कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में विद्वानों का ही आश्रय लेता है, जिस के कर्त्तव्य का मूल-

स्तम्भ केवल सुनी सुनाई बातें हैं, जिसने केवल अपने श्रुत विषय को ही शास्त्रीय मान कर (चाहे वह अशास्त्रीय ही क्यों न हो) उस पर अपनी श्रद्धा कर रक्खी है, ऐसा तृतीयवर्ग **"कोमलश्रद्धगतानुगतिक"** कहा जायगा। इस वर्ग की श्रद्धा सचमुच बड़ी कोमल होती है। एक विद्वान् ने युक्तियों के द्वारा जो कुछ इसे समझा दिया, उसी पर यह श्रद्धा करने लगेगा। यदि किसी अन्य विद्वान् ने पहिले विद्वान् से अधिक प्रबलयुक्ति वाद का आश्रय लेते हुए उसी विषय का अन्यथा प्रतिपादन किया तो वह पहिली श्रद्धा छोड़ता हुआ इस दूसरे विद्वान् के कथन पर श्रद्धा करने लगेगा।

उक्त तीनों वर्गों में से प्रथमवर्ग के सम्बन्ध में तो कुछ वक्तव्य ही नहीं है। परीक्षा साधन से वह स्वयं सत्यासत्य के निर्णय में समर्थ है। ऐसे यथार्थग्राही विद्वान् न किसी की निन्दा करते, न स्तुति करते। न उन्हें लोकापवादों में अपना अमूल्य समय नष्ट करने की ही आवश्यकता होती। दूसरा वर्ग अपनी आत्मतुष्टि के लिए प्रमाणों की अपेक्षा रखता है। यदि उस की दृष्टि में कोई विषय युक्ति-तर्क सिद्ध है, साथ ही में दृढतम शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त है तो वह उसे स्वीकार कर-लेने में कोई आपत्ति नहीं करता। ऐसे शास्त्रग्राही वर्ग के लिए हम जब अपनी विषयसिद्धि के लिए सयुक्तिक शास्त्रीय प्रमाणों का आश्रय लेते हैं तो इन विद्वानों की ओर से भी हमें निन्दा-लोकापवादि की कोई आशङ्का नहीं रह जाती। अब तीसरा वर्ग बच जाता है। कोमलश्रद्ध शास्त्रमर्म्मानभिज्ञ जिन अभिनिविष्टों नें सुनी सुनाई बातों को शास्त्रीय मान कर उन पर पूर्ण श्रद्धा कर रक्खी है, उन की इस कल्पित अशास्त्रीय श्रद्धा के विरुद्ध यदि कुछ बोला जाता है तो यह महानुभाव बड़े आवेश के साथ मर्यादा का परित्याग करके मन माने उद्गार प्रकट करते हुए जनसाधारण से प्राप्त प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए वितण्डावाद का आश्रय लेकर अपने आप को धन्य समझने लगते हैं। शास्त्रों के मर्म्म को न समझने के कारण उक्त महानुभाव शास्त्रीय समाधान करने में अपने आप को सर्वथा असमर्थ पाते हुए, छिद्रान्वेषण का समाश्रय लेते हुए अस्तव्यस्त वाणी द्वारा उत्तर देने का अभि-मान करते हुए—**"शेषं कोपेन पूरयेत्"** को अपनी आवासभूमि बनाते हैं। कहना नहीं होगा कि—**"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति**

तत्त्वतः" इस सिद्धान्त के अनुसार यथार्थग्राही एवं शास्त्रग्राही विद्वान् अत्यल्प संख्या में उपलब्ध होते हैं, एवं तृतीयवर्ग के महानुभाव संख्या में भी अधिक है, एवं इन की अनुयायिनी जनता भी अधिक है। यही महानुभाव हमें नास्तिकता का भय दिखलाने के लिए आगे बढ़ते हैं। आपने इन की श्रद्धा के विपरीत कुछ कहा नहीं कि इन्होंने **शरभदल** (टिड्डीदल) की तरह उस सत्य विषय पर आक्रमण किया नहीं। क्या इन नगण्य जीवों के भय से इन्हीं के असत्यपथ का अनुगमन करना श्रेयस्कर है? कभी नहीं! सर्वथा नहीं!! नितान्त असम्भव!!! अन्धश्रद्धालुओं के निरर्थक भय से अपने आप को बचाने के लिए सत्य तत्व की हत्या करना एक बहुत बड़ा पाप है। इसी पाप ने आर्यजाति को, आर्यसंस्कृति को, आर्यसाहित्य को आज विनाशोन्मुख बना रक्खा है। आज आवश्यकता है सत्यनिष्ठ विद्वानों की, स्पष्टवक्ता उपदेशकों की, खरे निःस्वार्थी समालोचकों की। यदि अब भी हमने **"गतानुगतिको लोकः"** का आश्रय लिया तो फिर आर्यसाहित्य का रक्षक भगवान् ही है।

आप हम से प्रश्न करेंगे कि "जनता की श्रद्धा के विरुद्ध कुछ भी कहना—**"न बुद्धिभेदं जनयेत्"** इत्यादि ईश्वराज्ञा का विरोध करना होगा। ईश्वरावतार भगवान् कृष्ण जब हमें आदेश देते हैं "कि जनता जिस मार्ग से जारही है, उसे उसी मार्ग से जाने दो। बुद्धिभेद पैदा मत करो, अन्यथा लोकसंग्रह बिगड़ जायगा। समाज तुम्हारा विरोधी बन बैठेगा। समाज की शान्ति नष्ट हो जायगी"। इस के उत्तर में हम अपनें पाठकों से प्रतिप्रश्न करेंगे कि क्या लोकसंग्रहरक्षा के लिए भगवान् हमें मिथ्या बोलने के लिए बाध्य करते हैं? यदि हां तो फिर शास्त्रोपदेश की आवश्यकता ही क्या रह जाती है। फिर तो न शास्त्रों की आवश्यकता है, न कथा की अपेक्षा है, न उपदेशकों की ही आवश्यकता है। जो जिस मार्ग से जारहा है (चाहे वह मार्ग विषम एवं पतन का कारण ही क्यों न हो) उसे उसी मार्ग से जाने देना चाहिए। क्यों? क्या आप ऐसा होना ठीक समझते हैं? क्या सत्यकाम ईश्वर हमें सत्यतत्व को छिपाने की आज्ञा देता है? क्या ईश्वर हमें इस के लिए प्रोत्साहित करता है कि हम आगे होकर सत्य का गला घोटते हुए मिथ्याश्रद्धा का अनुगमन करें? **बड़ा अज्ञान! बड़ी भूल!! महा विडम्बना!!!**

हमारी दृष्टि में तो ईश्वर सदा सत्य का ही पक्षपाती रहा है। "सत्यं वद"— 'सत्यान्न-प्रमदितव्यम्"—"स वै सत्यमेव वदेत्"—"नानृतं वदेत्"—ईश्वरीय ज्ञानकोश (वेद) से निकले हुए इन आदेशों को देखते हुए क्या ईश्वर को कभी असत्यज्ञान का उत्तेजक माना जासकता है ? कभी नहीं। "न बुद्धिभेदं जनयेत्" का तात्पर्य समझने की क्या आपने कभी चेष्टा की है ? इस का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि यदि एक व्यक्ति उत्पथ मार्ग से जा रहा है तो एक विद्वान् खड़े खड़े तमाशा देखा करै, और उस में बुद्धिभेद पैदा न करै। आइए उक्त आज्ञा के वास्तविक रहस्य की ओर आप को ले चलें।

सनातनधर्म्म के गर्भ में **वर्ण-आश्रम-जाति-देश-काल-पात्र-द्रव्य-श्रद्धा** के तारतम्य से अधिकारी भेद से कर्म्म नियत हैं। कर्म्म भेद से धर्म्मभेद है। यह *धर्म्मभेद ही सनातनधर्म्म का सब से बड़ा महत्व है। प्रत्येक व्यक्ति स्वस्वधर्म्म का अनुगमन करता हुआ ही अपने चरम लक्ष्य पर पहुंच सकता है। अज्ञानवश यदि कोई व्यक्ति अपने आधिकारिक कर्म्म की स्तुति, एवं अन्य व्यक्ति के आधिकारिक कर्म्म को निन्दा करता है तो वह लोकसंग्रह के नाश का कारण बनता है। इसी सम्बन्ध में भगवान् आज्ञा देते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह अपने स्वधर्म्म का यथाविधि पालन करता हुआ अन्यव्यक्ति के स्वधर्म्म की निन्दा न करता हुआ, उसे उसी पर आरूढ रखता हुआ बुद्धिभेद न होने दे। उदाहरण के लिए ईश्वरोपासना को ही लीजिए। **आत्मा, सूर्य्य, अग्नि, इन्द्र, प्रणव, उद्गीथ, हिङ्कार, राम-कृष्णादि अवतारों की प्रतिमाएं, शालग्रामप्रतिमा, चित्रोपासना** आदि भेद से उपासना अनेक भागों में विभक्त है। अब यदि कोई आत्मोपासक, किंवा प्रणवोपासक अपने मार्ग की श्रेष्ठता के अभिमान में पड़ कर रामकृष्णादिप्रतिमाओं की उपासना की निन्दा करता है तो वह ईश्वराज्ञा का विरोध करता है। कारण अधिकारी की योग्यता की अपेक्षा से उपासना के सभी प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार श्रीशङ्कराभिमत **अद्वैतवाद**, श्रीरामानुजाभिमत **विशिष्टाद्वैतवाद**, श्रीवल्लभाभिमत **शुद्धाद्वैतवाद**, श्रीनिम्बार्काभिमत

*इस विषय का विशद विवेचन—"**वेदेषु धर्म्मभेदः**" नाम के निबन्ध में देखना चाहिए।

द्वैताद्वैतवाद, श्रीमाध्वाभिमत द्वैतवाद सभीवाद शास्त्रसिद्ध, अतएव आदरणीय हैं। अपनी अपनी निष्ठा का अनन्यभाव से पालन करते हुए सभी साम्प्रदायिक ठीक रास्ते चल रहे हैं। यदि यह आपस में अपनी संप्रदाय को सर्वोत्कृष्ट, एवं अन्य सम्प्रदायों की निन्दा करते हैं तो यह बुरा है। यही बुद्धिभेद है। भगवान् इसी की निन्दा कर रहे हैं।

अपिच वर्णाश्रम मर्य्यादा के अनुसार हमारा कर्म्मकलाप **ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र** भेद से चार वर्णों में, एवं **ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ-सन्यास** इन चार आश्रमों में अधिकारी भेद से सर्वथा विभक्त है। अब यदि एक ब्राह्मण अपने को सर्वोच्च वर्ण समझने का अभिमान करता हुआ इतर वर्णों को, एवं उन के कर्म्मों को नीची दृष्टि से देखता है तो वह लोकसंग्रह का विघातक बनता हुआ वास्तव में ईश्वराज्ञा का विरोधी है। एवमेव ज्ञाननिष्ठ, अतएव उत्तमाधिकारी एक सन्यासी ज्ञानगर्व से आक्रान्त बन कर कर्म्ममार्गानुयायी मध्यमाधिकारी गृहस्थी को यदि नीची दृष्टि से देखता है तो सचमुच वह ईश्वराज्ञा का विरोध करता हुआ प्रायश्चित्त का भागी बन रहा है। सनातनधर्म्मरक्षक भगवान् कृष्ण हमें आदेश करते हैं कि—

> "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥
> सहजं कर्म्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत् ॥
> सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥
> स्वधर्म्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि" ॥

हमारे इन लोकसंग्रह मूलक आदेशों को लक्ष्यमें रखते हुए विद्वान् (समझदार-बुद्धिमान्) मनुष्य का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि वह अपने आश्रमवर्णानुकूल अधिकारसिद्ध कर्म का अनुष्ठान करता हुआ इतर उन व्यक्तियों को, जो कि ज्ञान की कमी के कारण अभी नीची श्रेणी के कर्म्मों की योग्यता रखते हुए उन में प्रवृत्त हैं, कभी उन के अधिकृत कर्म्म से च्युत न करे। निष्कर्ष यह हुआ कि सनातनधर्म्म के अन्तर्भूत अधिकार सिद्ध उत्तम-मध्यम-प्रथम श्रेणि के जो

कर्म्म अधिकारी भेद से विभक्त हैं, उन कर्म्मों में प्रवृत्त तत्तदधिकारी परस्पर में सहयोग रखते हुए, एक दूसरे की निन्दा से सर्वथा पराङ्मुख रहते हुए अपने अपने कर्म्म का पालन करें। यदि भगवान् का यह अभिप्राय नहीं माना जायगा तो फिर विधर्म्म कोई वस्तु ही न रहेगी। एक व्यक्ति ईसाई बनता है, बनने दीजिए। एक व्यक्ति मद्यपान करता है, करने दीजिए। क्या बुद्धिभेद न पैदा करने का यही तात्पर्य्य हैं। ऐसी दशा में यदि कोई व्यक्ति मिथ्याश्रद्धा में पड़ कर सत्य लक्ष्य से च्युत हो रहा है तो क्या उसे उसी अज्ञानान्धकार में पड़े रहने दिया जाय। हम तो समझते हैं कि सत्यश्रद्धा के बल पर उस की मिथ्याश्रद्धा को दूर करना ईश्वराज्ञा के विरुद्ध नहीं, अपितु अनुकूल है।

तो क्या वेद की अपौरुषेयता के सत्यासत्य की मीमांसा आरम्भ करें? नहीं ठहर जाइए। अभी इस सम्बन्ध में एक विप्रतिपत्ति और है, पहिले उस का निराकरण कीजिए। वह विप्रतिपत्ति और भी जटिल समस्या है। वेद और ईश्वर का हम सनातनधर्म्मियों की दृष्टि में समान आदर है। ईश्वरवत् वेद हमारा परम आराध्य देव है। उसे विचार की कसौटी पर कसना उस के महत्त्व को कम करना है।

सर्वथा दृश्यते किञ्चिन्न निर्दोषं न निर्गुणम्।
गुणदोषमयं सर्वं स्रष्टा सृजति कौतुकी॥

इस सर्वसम्मत सिद्धान्त के अनुसार विश्व में जितनें भी पदार्थ हैं, वे गुण एवं दोष दोनों धर्म्मों से नित्य आक्रान्त हैं, जैसा कि पूर्व के **मङ्गलरहस्य** में विस्तार से बतलाया जाचुका है। आप को विश्व में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं मिलेगा, जो विशुद्धगुणमूर्त्ति, किंवा विशुद्ध दोषमय ही हो। ऐसी दशा में प्रत्येक वस्तु की गुणदृष्टि से जहां हम प्रशंसा कर सकते हैं, वहां दोषदृष्टि से उसी वस्तु की हम भरपेट निन्दा भी कर सकते हैं। संस्कृत साहित्य में सुप्रसिद्ध विश्वगुणादर्शचम्पू नामक ग्रन्थ इस के लिए पर्य्याप्त प्रमाण है। स्वस्थदशा में वही भोजन अमृतमय है, सन्निपात दशा में वही विषमय है। मृत्युदोष से विमुक्त करने वाले अमृत ने ही देवासुरसंग्राम का बीज वपन किया था। प्राणघातक विष (संखिया) भी कभी कभी मात्रा से उपयुक्त होने पर जीवन सत्ता

का कारण देखा गया है। इस प्रकार इन दोनों विरुद्ध धर्म्मों के एकत्र समन्वय से हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि यदि बिना किसी पक्षपात के व्यापकदृष्टि से हम पदार्थों को परीक्षा की कसोटी पर कसेंगे तो गुणभाव के कारण न वह हमारे लिए एकान्ततः अश्रद्धा का विषय रहैगा, एवं दोषभाव के कारण न वह हमारे लिए सर्वथा श्रद्धा का ही विषय रहैगा। "**अमुक वस्तु आराध्य है, अमुक हेय है**" यह भेद व्यवहार विचारधारा का प्रबल विरोधी माना गया है।

अपिच "**यह हम से बड़ा है, यह हम से छोटा है। यह गुणवान् है, यह मूर्ख है**" इस प्रकार का साधारण जनता में प्रचलित व्यावहारिक भेद भी उक्त परीक्षा से छिन्नभिन्न देखा गया है। विचार करने पर हम इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि एक विद्वान् भी कई ऐसे महादोषों से आक्रान्त है, जिन के स्मरणमात्र से भी हृत्कम्प होता है। उधर जिसे हम मूर्ख समझते हैं, विचार के पश्चात् उसी में हमें किसी अलौकिक दिव्यज्योति के दर्शन होजाते हैं।

शास्त्रीयमार्ग, किंवा शास्त्रीयदृष्टि एक भिन्न पथ है, एवं सामाजिक मार्ग, किंवा व्यावहारिकदृष्टि एक भिन्न पथ है। कुछ अंशों में समानता होते हुए भी इन दोनों दृष्टियों में अधिकांश में विषमता ही देखी जाती है। व्यवहारदृष्टि के अनुसार **पत्नी-माता-भगिनी-पुत्र-पिता-अनुचर-सखा** आदि के स्थान सर्वथा विभिन्न हैं। उधर दार्शनिक दृष्टि के अनुसार (आत्मदृष्टया) सब एक ही स्थान के अधिकारी हैं। दार्शनिकदृष्टि परमार्थदृष्टि है। इस का एकमात्र लक्ष्य तत्तत्पदार्थों का वास्तविक स्वरूपज्ञान है। उधर व्यावहारिक दृष्टि का प्रधान लक्ष्य समाज का सुचारुरूप से सञ्चालन है। यदि सामाजिक व्यवहारों के साथ आप उस परमार्थदृष्टि का सम्बन्ध जोड़ देंगे तो किसी भी व्यवहार का आप विशुद्धभाव से निर्वाह नहीं कर सकेंगे। फलतः समाजव्यवस्था उच्छिन्न होजायगी। ऐसी स्थिति में हमारा यह आवश्यक कर्त्तव्य होजाता है कि जिन पदार्थों पर, एवं जिन व्यक्तियों (गुरुओं) पर हमारी अनादि काल से श्रद्धा चली आरही है, उन को विचार परीक्षा की कसोटी पर बिना कसे समाजसंग्रह के लिए "**महाजनो येन गतः स पन्थाः**" इस आभाणक को अपना मूल लक्ष्य मानते हुए अपने कर्त्तव्य कर्म्म पर दृढ रहें। भगवान् **शङ्कराचार्य** ने धर्म्मस्थापना की। अपने इस सिद्धान्त को चिरकाल के लिए प्रतिष्ठित रखने के लिए चारों दिशाओं में चार मठ स्थापित

कर उन गद्दियों पर अपने सुयोग्य पद्मपादाचार्य, सुरेश्वराचार्य, त्रोटकाचार्य, हस्तामलकाचार्य इन चारों शिष्योंको स्थापित किया। आज तक वही आचार्यपरम्परा चली आरही है। राजशासन के दोष से यद्यपि वर्त्तमान में शङ्करमठाधीश लक्ष्य च्युत होरहे हैं। यदि वर्त्तमान आचार्यों की गुणदोष की हम मीमांसा करने बैठें तो न मालूम हमारा अन्तरात्मा किस भीषण परिणाम पर पहुंचे। यह सब कुछ समझते हुए भी लोकवृत्त की रक्षा के लिए उन आचार्यों के सामने बिना किसी परीक्षा के हमें अपना मस्तक झुका देना चाहिए। इसी प्रकार—पिता, गुरू, ज्येष्ठभ्राता, धर्म्मोपदेशक आदि के गुणदोषों की यदि हम परीक्षा करने बैठेंगे तो हमारी सारी श्रद्धा गायब हो जायगी। ऐसी अवस्था में हमारा एकमात्र यही कर्त्तव्य होना चाहिए कि कौतुकी प्रजापति के कौतुकरूप गुणदोष दोनों विभूतियों का आदर करते हुए **"यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि नो इतराणि"** इस श्रौत आदेश को शिरोधार्य कर पिता गुरू-आदि में गुणदृष्ट्या वही श्रद्धा रखते हुए जीवनयात्रा का निर्वाह करते चले जांय। हमारा एवं हमारे समाज का इसी में कल्याण है। हमें दोष देखने के सभी द्वार बन्द कर देने चाहिएं। तभी व्यवहारप्रधान समाज में शान्ति रह सकती है। यदि अज्ञानवश कोई साहसिक उन दोषों की मीमांसा करने के लिए आगे बढ़े तो बलात्कार से हमें उस का मुख बंद कर देना चाहिए। ठीक यही परिस्थिति गुणभाव की होनी चाहिए। **"अमुक व्यक्ति में अमुक गुण इतना विकसित है, अमुक में इतना"** इस प्रकार की गुणपरीक्षा भी सीमा का अतिक्रमण करती हुई कभी कभी लोकवृत्त की विरोधिनी बन जाती है। यदि आप किसी पदार्थ के, अथवा व्यक्ति के गुणों का अतिशय बखान करने लगेंगे तो प्रकृतिसिद्ध असुरभाव प्रधान समाज के कितनें ही व्यक्ति उस गुणातिशय के सहने में असमर्थ होते हुए उसे निन्दा का रूप देदेने में जरा भी संकोच नहीं करेंगे। ऐसा होने से आप का वह मान्य पदार्थ, किंवा पूज्य व्यक्ति लोकसंग्रह के भेद से श्रद्धा के स्थान में अश्रद्धा का भाजन बन जायगा। फलतः गुण दोष दोनों की परीक्षा से तटस्थ रहते हुए ऋजुभाव से केवल गुणों का अनुगमन करते हुए हमें अपनें कर्त्तव्य पर दृढ रहना चाहिए।

समालोचना करना इस युग का एक स्वाभाविक धर्म्म बन गया है। सभी शिक्षित अपने

आप को खरे खोटे के पूर्ण परीक्षक होने का दम भर रहे हैं। हिन्दूसमाज में जितनी भी रीतिएं प्रचलित हैं, जो भी संस्कार विद्यमान हैं, उन सब में आज यह महानुभाव परीक्षा के गर्त में पड़ कर अपने आप को सत्योपासक समझने का दावा करते हुए बुद्धिभेद पैदा कर रहे हैं। हमारी सम्प्रदाएं बुरीं, आचार्य निकृष्ट, मन्दिर अनाचार के अड्डे, उपदेशक स्वार्थी, पण्डित रूढियों के गुलाम इसप्रकार इन अर्द्धदग्धों को सर्वत्र दोष ही दोष दिखलाई दे रहे हैं। यद्यपि हम मानते हैं कि अवश्य ही हिन्दूसमाज उक्त दोषों का विशेष रूप से उपासक बन रहा है। फिर भी इस संबन्ध में हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि आज भी हिन्दूजाति का आदर्श इतर सभ्य जातियों से कहीं बढ़ चढ़ कर है। हमें अपने दोषों को हटाने के लिए अपने घर में सहयोग का आश्रय लेना पड़ेगा। एक दूसरे के छिद्रान्वेषण से हमारा कोई उपकार नहीं होसकता। हां अपकार अवश्य होरहा है। यदि आप दोषों का अन्वेषण करने चलेंगे तो आप का भी संसार में रहना कठिन हो जायगा। आखिर समाज तो वही रहेगा। कहीं से व्यक्ति तो कर्ज में आप नहीं मंगालगे। दोषों के डिण्डिमघोष से यदि आप ने जनसाधारण के श्रद्धेय प्रमुख व्यक्तियों का सहयोग खोदिया तो याद रखिए आप का समाज सर्वात्मना जीर्ण शीर्ण होता हुआ अपना अस्तित्व ही खो बैठेगा। इसलिए जनता की श्रद्धा का आदर करते हुए, उपलालनों का आश्रय लेते हुए, जनता का पूर्ण सहयोग प्राप्त करते हुए ही हमें परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए।

प्राचीन आचार्योंने श्रद्धा का–**"दोषदर्शनानुकूलवृत्तिप्रतिबन्धकवृत्तिधारणा श्रद्धा"** यह लक्षण किया है। किसी भी पदार्थ के दोषों को देखने की जो एक मनोवृत्ति है, उस वृत्ति को रोक देने वाली जो वृत्ति है, उस वृत्ति से अपने अन्तःकरण को युक्त रखना ही श्रद्धा है। दोषों की ओर हमारा मन आकर्षित ही नहो, इसी वृत्ति का नाम श्रद्धा है। इसी वृत्ति के प्रभाव से जिस की जिस व्यक्ति पर श्रद्धा होजाती है, वह व्यक्ति उस श्रद्धेय व्यक्ति के दोषों की ओर भूल कर भी दृक्पात नहीं करता। यही नहीं, यदि अन्य तटस्थ व्यक्ति उस व्यक्ति के श्रद्धेय व्यक्ति के किसी दोष का उद्घाटन करता है तो वह श्रद्धालु उस दोष को गुणभाव में परिणत करने की ही चेष्टा करता है। इसी श्रद्धाभाव पर समाज की सत्ता सुरक्षित है। इसी श्रद्धा के बल पर चिरकाल से

प्रबल आक्रमणों को सहती हुई भी हिन्दूजाति आज तक जीवित रह सकी है। ठीक इस के विपरीत बुद्धिभेदक अश्रद्धाभाव मूलक परीक्षा ने आज उन असंख्य जातियों को स्मृतिगर्भ में विलीन कर दिया है, जो किसी समय साम्राज्य के उच्च सिंहासन पर विराजमान थीं।

हम मानते हैं कि वेद में आप दोष नहीं मानते। फिर भी आप यदि परीक्षा करना चाहते हैं, परीक्षा द्वारा गुणदोष की मीमांसा करना चाहते हैं तो हमें कहना पड़ेगा कि आप वेद पर श्रद्धा नहीं करते। "अपौरुषेय" भाव ही एक ऐसा हेतु है, जिस के प्रभाव से वेद पर आर्यसंतान की अप्रतिम श्रद्धा अनादि काल से चली आरही है। ऐसी स्थिति में श्रद्धा के मूलस्तम्भरूप अपौरुषेय भाव पर विचार उठाना अवश्य ही आर्यजाति की चिरकालिक श्रद्धा पर आघात पहुंचाना है। इसलिए अब तक वेद के अपौरुषेयत्व के सम्बन्ध में जैसा माना जारहा है, उसे नतमस्तक होकर मानते रहने में ही हमारा कल्याण है। फलतः **"वेद अपौरुषेय हैं, अथवा ऋषिकृत"?** इस प्रश्नमीमांसा की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

सर्वसाधारण की इस वेदश्रद्धा का एक वेदभक्त के नाते हम हृदय से अभिनन्दन करते हैं। आप तो हिन्दूजाति पर विश्राम कर लेते हैं। हमारा तो यह भी दृढतम विश्वास है कि **पारसी, यहूदी, अंग्रेज, मुसलमान** कोई भी व्यक्ति ऐतिहासिक दृष्टि को छोड़ कर वैज्ञानिक दृष्टि से, द्वेषभावना रखता हुआ, खण्डनबुद्धि से भी यदि इस वैदिक साहित्य को देखेगा तो उसे नत मस्तक होकर इस के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलिएं अर्पित करनी पड़ेगीं। उसे यह मानने में कोई आपत्ति न होगी कि—**"वेद वास्तव में ईश्वरीय ज्ञान है। यह मनुष्य के मस्तिष्क की उपज नहीं है, अपितु शाश्वतब्रह्म की शाश्वतवाणी है। विश्वसाम्राज्य का सञ्चाल करने वाली ईश्वर की दण्ड-नीति है"।**

"अपौरुषेय तत्व की मीमांसा से श्रद्धा पर आघात होगा" यह बात भारतीय साहित्य, विशेषतः वैदिकसाहित्य के सम्बन्ध में लेशमात्र भी घटित नहीं होती। वैदिकधर्म्म से अतिरिक्त और और जितने भी मत हैं, उन के लिए भले ही उक्त सिद्धान्त का कुछ महत्व हो। परन्तु वैदिकधर्म्म प्रतिपादक वैदिकसाहित्य के सम्बन्ध में तो हम यह दावे के साथ कह सकते हैं

कि विज्ञान का अभिमान करने वाले वैज्ञानिक ज्यों ज्यों वैदिक पदार्थों को विज्ञान की कसोटी पर कसते जांयगे, त्यों त्यों उन्हें सत्यतत्त्व का साक्षात्कार होता जायगा। परीक्षा से भय उसे होसकता है, जिस की जड़ें खोखलीं हों। परीक्षा से वह डर सकता है, जिसे अपने सिद्धान्त की सत्यता में सन्देह हो। तर्कवाद से वह मुंह मोड़ सकता है, जिस का साहित्य केवल कल्पना का साम्राज्य हो। यहां तो–"**यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्म्मं वेद नेतरः**" यह बन्दाघोष है। परीक्षा के लिए ही "**मीमांसा**" नाम के एक स्वतन्त्र शास्त्र का आविर्भाव हुआ है। नव्यन्याय, प्राचीनन्यायादि कथा-शास्त्र एक स्वतन्त्र **तर्कशास्त्र** (Logic) है, जिस का एकमात्र कर्म्म सत्यासत्य की परीक्षा करना ही है। यह ठीक है कि जनसाधारण के लिए यह परीक्षा उपयोगिनी नहीं बन सकती। फिर भी वस्तुतत्त्व के निर्णय के लिए विचार ही न किया जाय, यह आर्यसाहित्य कथमपि स्वीकार नहीं कर सकता। यही नहीं, अपितु आप्तपुरुषों का तो यह भी कहना है कि धर्म्मशास्त्र का कोई भी विधान बिना कारण के नहीं है। हमारा बहुलाभ तभी संभव है, जब कि हम धर्म्म के उस मौलिक रहस्य को जान कर ही उस में प्रवृत्त हों। इसी आशय को **जाजलि** के प्रति प्रकट करते हुए भगवान् दाशरथि कहते हैं —

नाकारणं हि शास्त्रेऽस्ति धर्म्मः सूक्ष्मोऽपि जाजले।
कारणाद्धर्म्ममन्विच्छन् स लोकानाप्नुते शुभान् ॥ (वा०रा०)

इसी प्रकार भगवान् व्यास ने भी—"**कारणाद्धर्म्ममन्विच्छेन्न लोकचरितं चरेत्**" (**म०शा०मो० २६२ अ०५३ श्लोक**) इन स्पष्ट शब्दों में हमें यह आदेश दिया है कि तुम धर्म्म के सम्बन्ध में उस के कारण को पहिचानो। केवल लोकचरित पर विश्वास मत करो। सुना सुनाया लोकवृत्त, किंवा लोकश्रद्धा धर्म्म में प्रमाण नहीं मानी जासकती। "**इतर शास्त्रों की अपेक्षा वेद अपौरुषेय है**" क्या केवल इस श्रद्धा पर ही वेद का महत्व अवलम्बित है ? क्या एकमात्र अपौरुषेयता ही वेद की अलौकिकता में प्रमाण है ? यदि आप का यही विश्वास है तो हमें कहना पड़ेगा कि आप भूल कर रहे हैं। वेद में जिन अलौकिक तत्वों का निरूपण हुआ है, वेद जिन अपूर्व गुणों का आविष्कारक है, वे वैदिकतत्व, किंवा

गुण ही वेद की अपौरुषेयता के सूचक हैं। अपनी इन लोकोत्तर वैज्ञानिक विभूतियों के कारण ही वेद ने अपौरुषेयता की उपाधि प्राप्त की है। दूसरे शब्दों में यों समझिए कि वेद अपौरुषेय है, इसलिए वह आदरणीय, किंवा श्रद्धा का भाजन नहीं है, अपितु वेद गहनतम विज्ञान का कोश है, इसलिए वह हमारा श्रद्धेय है, एवं इसीलिए वह अपौरुषेय कहलाया है। प्रमाण के लिए अवतारवाद को अपने सामने रखिए। भगवान् कृष्ण ने प्रकृति के नियमानुसार कंस के कारागृह में देवकी के गर्भ से जन्म लिया। आगे जाकर इन्होंने लोकोत्तर गुणों का प्रदर्शन किया। इन्हीं विभूतियो के आधार पर विश्व ने उन्हें भगवान् का अवतार माना। कृष्ण ईश्वर के अवतार थे, इसलिए उन पर श्रद्धा नहीं की गई, अपितु उन्होंने लोकोत्तर ईश्वर सदृश विभूतियों का चमत्कार दिखाया, दुष्टों का दमन किया, गीता द्वारा ज्ञान-विज्ञान का प्रसार किया। इन गुणों के कारण वे हमारे आराध्य देव बनें, एवं इन्हीं गुणों से प्रभावित होकर हमनें उन्हें ईश्वर का साक्षात् पूर्णावतार माना। हमारी क्या कथा है, आरम्भ में कृष्ण की ईश्वरता में सन्देह करने वाले ब्रह्मा-इन्द्रादि देवताओं नें भी कृष्ण की उन ईश्वरीय विभूतियों का साक्षात् करने के अनन्तर ही कृष्ण को अवतार माना था। बात वास्तव में यथार्थ है। यों तो सभी मनुष्य (किंवा पदार्थमात्र) **"ब्रह्मैवेदं सर्वम्"—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः"** इत्यादि श्रौत स्मार्त्त सिद्धान्तों के अनुसार ईश्वर के अवतार हैं। परन्तु आप को, हम को कौन अवतार मानता है। यही अवस्था वेद के सम्बन्ध में समझिए। वैय्याकरणों के मतानुसार शब्द सर्वथा नित्य है, साथ ही में शब्दार्थ का सम्बन्ध भी अनादि है, जैसा कि आगे वेद प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। भारतीय ग्रन्थकारों नें नवीन कुछ नहीं बनाया है। अपितु नित्यसिद्ध ज्ञान को नित्यसिद्ध शब्दों द्वारा प्रकट किया है। ऐसी अवस्था में सभी शास्त्र तो अपौरुषेय मानें जासकते हैं। परन्तु ऐसा माना क्यों नहीं गया? क्यों एकमात्र वेदशास्त्र ही अपौरुषेय कहलाया? उत्तर वही आलौकिक विद्याभाव, किंवा गुणभाव है। सभी तो ईश्वर की सन्तानें हैं। फिर क्या कारण है कि उन में से कुछ को तो संसार महापुरुष कह कर उन की वन्दना करता है, कुछ के साथ सम्भाषण करने में भी अपनी मानहानि समझता है। इस महापुरुषता का परिचायक विभूतिगुण नहीं है तो और क्या है। अभ्युपगमवाद का आश्रय लेते हुए

थोड़ी देर के लिए यदि हम वेद को पौरुषेय भी मान लें, तब भी हमारी श्रद्धा में अन्तर नहीं आ-सकता। यह पौरुषेय होता हुआ भी जिन गूढ विद्याओं का निरूपण करता है, हमारी, हमारी ही नहीं विश्व की श्रद्धा का वह अवश्य ही प्रधान आलम्बन है। कुछ महानुभावों का कहना है कि यदि वेद को पौरुषेय (ऋषिकृत) मान लिया जायगा तो वेदज्ञान भ्रान्त बन जायगा। कारण मनुष्य बहुत सावधानी रखता हुआ भी भूल से नहीं बच सकता। हमारी दृष्टि में इस युक्ति का भी कोई मूल्य नहीं है, जैसा कि आगे विस्तार से बतलाया जाने वाला है।

वेद पौरुषेय है, अथवा अपौरुषेय, थोड़ी देर के लिए इस झगड़े को सर्वथा दूर रखते हुए हम मान लेते हैं कि वेद हमारा परम श्रद्धेय शास्त्र है। जिस पर हमारी पूर्ण श्रद्धा है, उस की मीमांसा ही न की जाय, उसे परीक्षा से सर्वथा पृथक् रक्खा जाय, यह कौन सी बुद्धिमानी है। अन्न पर हमारी पूर्ण श्रद्धा है, वह हमारी जीवन सत्ता का कारण है तो क्या अन्न की परीक्षा न की जाय। की जाय, और अवश्य की जाय। यदि परीक्षा करने मात्र से ही हमारी श्रद्धा का उच्छेद होजाता है तो अवश्य ही वह मिथ्याश्रद्धा है, एवं ऐसी स्थिति में उसे छोड़ देने में ही हमारा कल्याण है। यदि वह श्रद्धा परीक्षा करने पर खरी उतरती है तो वह और भी दृढमूल बन जाती है। पूर्ण परीक्षा करने के पश्चात् जिस सत्य श्रद्धा का आप के अन्तःकरण में उदय होगा, उस से आप को कितना आनन्द मिलेगा, यह अनुभवरसिक परीक्षक ही जान सकते हैं। इस परीक्षित श्रद्धा के बल पर न केवल अपने धर्म्मानुयायियों की श्रद्धा को ही आप दृढ बनावेंगे, अपितु विधर्म्मियों को भी आप की सत्यश्रद्धा का अनुगमन करना पड़ेगा।

प्राचीन संस्कारों के वश आप अपने घर में वेदशास्त्र पर पूर्ण श्रद्धा रखते हैं, साथ ही में अपनी सीमा के भीतर ही आपने इसे अपौरुषेय भी मान रक्खा है। परन्तु परीक्षाशून्य, अतएव दृढ विश्वास विरहित अपनी इस कल्पित श्रद्धा के बल पर आप उन व्यक्तियों की (जो कि वेद को सारशून्य ग्रन्थ समझते हैं) वेद पर न तो आप श्रद्धा ही उत्पन्न करा सकते हैं, एवं न वे आप के कथनमात्र से वेद को अपौरुषेय ही मान सकते हैं। आप को यह स्मरण रखना चाहिए कि केवल व्यक्तिगत विश्वास के बल पर ही धर्म्मरक्षा सर्वथा असम्भव है। किसी बलवान् सामाजिक के,

अथवा वैज्ञानिक के विरोध करने पर समुचित उत्तर देने में आप असमर्थ रहेंगे तो जनसाधारण पर अवश्य ही इस का बुरा प्रभाव पड़ेगा। यदि हमें अपने धर्म्म से प्रेम है, यदि हम अपने धर्म्म की रक्षा चाहते हैं तो हमें उन तटस्थ व्यक्तियों के हृदय में भी धर्म्ममूलभूत वेदशास्त्र पर श्रद्धा उत्पन्न करानी पड़ेगी। यह तभी संभव है, जब कि आप युक्ति एवं तर्कसिद्ध परीक्षा द्वारा वैदिक पदार्थों का सत्य स्वरूप उन के सामने रख देंगे। जब तक हम परीक्षा से भय करते रहेंगे, जब तक हमें यह डर रहेगा कि यदि परीक्षा की जायगी तो हमारी श्रद्धा विचलित होजायगी, तब तक न तो आप स्वयं इस वैदिक साहित्य से कुछ लाभ उठा सकेंगे, एवं न दूसरों को इस ओर आकर्षित कर सकेंगे।

हम मानते हैं कि विश्व के प्रत्येक पदार्थ में गुण–दोष दोनों हैं। हम यह भी मानते हैं कि दोषमीमांसा को प्रधानता देने से लोकसंग्रह पर आघात होता है। परन्तु क्या एकमात्र इसी डर से परीक्षा का द्वार सदा के लिए बंद कर दिया जाय? क्या परीक्षा करने से हम केवल दोषों को ही फलस्वरूप अपने सामने देखते हैं? क्या परीक्षा की कसोटी गुणों की जननी नहीं है? हमारा तो यह विश्वास है कि परीक्षा करने से उस पदार्थ की सत्यता और भी अधिक दृढ बन जाती है। क्या आप को यह पता नहीं है कि परीक्षा की कृपा से ही आज उन पश्चिमी विद्वानों नें (जो कि कुछ शताब्दियों पहिले वेद को केवल ग्राम्यगीत कह कर उस का उपहास करते थे) वेद को विश्व का सर्वोच्च साहित्य मान लिया है, जैसा कि **प्रारम्भिक निवेदन** में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

यह परीक्षा का ही फल है कि हिन्दूजाति में अनादिकाल से प्रचलित शवदाह प्रथा की निन्दा करने वाली जातियों नें स्वयं इस प्रथा की उपादेयता मुक्तकण्ठ से स्वीकार करली है। यह परीक्षा की ही महिमा है कि आज पश्चिमी विद्वान् इतर जलों की अपेक्षा गङ्गातोय को सर्वोत्कृष्ट मानने लगे हैं। पाठक शायद यह नहीं जानते होंगे कि माता के प्रकोप को शान्त करने के लिए बिहारप्रान्त में चिरकाल से टीका लगाने की प्रथा प्रचलित थी। विरोधियों नें इस प्रथा को दूषित समझते हुए बलात्कार से उस का प्रतिषेध किया, एवं परीक्षा आरम्भ की। इस परीक्षा का परिणाम यह हुआ कि आज भारतवर्ष के घर घर में टीका प्रथा प्रचलित है। बलपूर्वक राजशासन द्वारा टीके लगाए जाते हैं। आरम्भ में विदेशियों नें कीमियागीरों का नियन्त्रण करते हुए परीक्षा आरम्भ की।

परिणाम यह हुआ है कि इसी परीक्षा के आधार पर उस अपूर्व केमेस्ट्री (Kamistry) विज्ञान का आविष्कार हुआ, जिस की तूती आज सम्पूर्ण भूमण्डल में बोल रही है। यह परीक्षा का ही चमत्कार था, जिस के बल पर अत्रिमहर्षि ने सर्वप्रथम ग्रहणविज्ञान विश्व के सामने रक्खा। यह परीक्षा की ही कृपा थी, जिस से सुप्रसिद्ध यज्ञविद्या का आविष्कार हुआ। क्या इन सब परिस्थितियों को देखते हुए हम यह कहने का व्यर्थ साहस कर सकते हैं कि परीक्षा से श्रद्धा का विनाश होजाता है, लोकसंग्रह बिगड़ जाता है। परीक्ष्य पदार्थ यदि सत्य है तो परीक्षा उस की सत्यता में चार चांद लगा देगी। यदि सत्यांश नहीं है तो वही परीक्षा हमें मिथ्यादोष से बचा लेगी। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि जो महानुभाव वेद के पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व पर विचार करने से हमें रोकते हैं, वे सचमुच वेद की अपौरुषेयता में सन्देह करते हैं। फलतः उन की यह श्रद्धा मिथ्याश्रद्धा है, दूसरे शब्दों में श्रद्धा की आड़ में घोरतम अश्रद्धा है।

त्रैगुण्यविज्ञान के अनुसार हम श्रद्धातत्त्व को **सात्विकी, राजसी, तामसी** इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। साधारण दोषों के रहते हुए भी बलवान्, एवं संख्या में अधिक गुणों की सत्ता के कारण सत्यता को लिए हुए जो श्रद्धा होती है, वही **सात्विकी श्रद्धा** है। जहां दोष दोष न माने जाते हों, अथवा दोष गुणरूप से दिखलाई देते हों, वह दूसरी **राजसी श्रद्धा** है। राजसीश्रद्धा में दोष दोषरूप से हमारे सामने नहीं आते, अपितु हम उन्हें गुण ही समझने लगते हैं। तीसरी तामसी श्रद्धा बड़ी भयानक है। हम समझ रहे हैं कि अमुक व्यक्ति में अमुक दोष विद्यमान हैं। परन्तु हम समझते हुए भी उन्हें छिपाने की चेष्टा कर रहे हैं, मन में ग्लानि है परन्तु लोकप्रतिष्ठा के दबाव से बनावटी श्रद्धा दिखला रहे हैं, यही तामसी श्रद्धा है। इस के अनुयायी ही अपनी बनावटी श्रद्धा के नाश के भय से सत्यासत्य परीक्षा का विरोध किया करते हैं। सचमुच यह श्रद्धा के स्वरूप को कलङ्कित करने वाली मिथ्याश्रद्धा है। वह तामसी श्रद्धा नानारूप धारण कर हमारे सामने आती रहती है, एवं हमारी वञ्चना करती हुई हमें सत्यमार्ग से च्युत किया करती है।

किसी वस्तु के कारण विशेष को समझे बिना ही जो उस पर हमारी श्रद्धा होजाती है, वह

अथवा वैज्ञानिक के विरोध करने पर समुचित उत्तर देने में आप असमर्थ रहेंगे तो जनसाधारण पर अवश्य ही इस का बुरा प्रभाव पड़ेगा। यदि हमें अपने धर्म्म से प्रेम है, यदि हम अपने धर्म्म की रक्षा चाहते हैं तो हमें उन तटस्थ व्यक्तियों के हृदय में भी धर्म्ममूलभूत वेदशास्त्र पर श्रद्धा उत्पन्न करा ी पड़ेगी। यह तभी संभव है, जब कि आप युक्ति एवं तर्कसिद्ध परीक्षा द्वारा वैदिक पदार्थों का सत्य स्वरूप उन के सामने रख देंगे। जब तक हम परीक्षा से भय करते रहेंगे, जब तक हमें यह डर रहेगा कि यदि परीक्षा की जायगी तो हमारी श्रद्धा विचलित होजायगी, तब तक न तो आप स्वयं इस वैदिक साहित्य से कुछ लाभ उठा सकेंगे, एवं न दूसरों को इस ओर आकर्षित कर सकेंगे।

हम मानते हैं कि विश्व के प्रत्येक पदार्थ में गुण–दोष दोनों हैं। हम यह भी मानते हैं कि दोषमीमांसा को प्रधानता देने से लोकसंग्रह पर आघात होता है। परन्तु क्या एकमात्र इसी डर से परीक्षा का द्वार सदा के लिए बंद कर दिया जाय? क्या परीक्षा करने से हम केवल दोषों को ही फलस्वरूप अपने सामने देखते हैं? क्या परीक्षा की कसोटी गुणों की जननी नहीं है? हमारा तो यह विश्वास है कि परीक्षा करने से उस पदार्थ की सत्यता और भी अधिक दृढ बन जाती है। क्या आप को यह पता नहीं है कि परीक्षा की कृपा से ही आज उन पश्चिमी विद्वानों ने (जो कि कुछ शताब्दियों पहिले वेद को केवल ग्राम्यगीत कह कर उस का उपहास करते थे) वेद को विश्व का सर्वोच्च साहित्य मान लिया है, जैसा कि **प्रारम्भिक निवेदन** में विस्तार से बतलाया जाचुका है।

यह परीक्षा का ही फल है कि हिन्दूजाति में अनादिकाल से प्रचलित शवदाह प्रथा की निन्दा करने वाली जातियों नें स्वयं इस प्रथा की उपादेयता मुक्तकण्ठ से स्वीकार करली है। यह परीक्षा की ही महिमा है कि आज पश्चिमी विद्वान् इतर जलों की अपेक्षा गङ्गातोय को सर्वोत्कृष्ट मानने लगे हैं। पाठक शायद यह नहीं जानते होंगे कि माता के प्रकोप को शान्त करने के लिए बिहारप्रान्त में चिरकाल से टीका लगाने की प्रथा प्रचलित थी। विरोधियों नें इस प्रथा को दूषित समझते हुए बलात्कार से उस का प्रतिषेध किया, एवं परीक्षा आरम्भ की। इस परीक्षा का परिणाम यह हुआ कि आज भारतवर्ष के घर घर में टीका प्रथा प्रचलित है। बलपूर्वक राजशासन द्वारा टीके लगाए जाते हैं। आरम्भ में विदेशियों नें कीमियागीरों का नियन्त्रण करते हुए परीक्षा आरम्भ की।

परिणाम यह हुआ है कि इसी परीक्षा के आधार पर उस अपूर्व केमेस्ट्री (Kamistry) विज्ञान का आविष्कार हुआ, जिस की तूती आज सम्पूर्ण भूमण्डल में बोल रही है। यह परीक्षा का ही चमत्कार था, जिस के बल पर अत्रिमहर्षि ने सर्वप्रथम ग्रहणविज्ञान विश्व के सामने रक्खा। यह परीक्षा की ही कृपा थी, जिस से सुप्रसिद्ध यज्ञविद्या का आविष्कार हुआ। क्या इन सब परिस्थितियों को देखते हुए हम यह कहने का व्यर्थ साहस कर सकते हैं कि परीक्षा से श्रद्धा का विनाश होजाता है, लोकसंग्रह बिगड़ जाता है। परीक्ष्य पदार्थ यदि सत्य है तो परीक्षा उस की सत्यता में चार चांद लगा देगी। यदि सत्यांश नहीं है तो वही परीक्षा हमें मिथ्यादोष से बचा लेगी। ऐसी स्थिति में हम कह सकते हैं कि जो महानुभाव वेद के पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व पर विचार करने से हमें रोकते हैं, वे सचमुच वेद की अपौरुषेयता में सन्देह करते हैं। फलतः उन की यह श्रद्धा मिथ्याश्रद्धा है, दूसरे शब्दों में श्रद्धा की आड़ में घोरतम अश्रद्धा है।

त्रैगुण्यविज्ञान के अनुसार हम श्रद्धातत्व को **सात्विकी, राजसी, तामसी** इन तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। साधारण दोषों के रहते हुए भी बलवान्, एवं संख्या में अधिक गुणों की सत्ता के कारण सत्यता को लिए हुए जो श्रद्धा होती है, वही **सात्विकी श्रद्धा** है। जहां दोष दोष न माने जाते हों, अथवा दोष गुणरूप से दिखलाई देते हों, वह दूसरी **राजसी श्रद्धा** है। राजसीश्रद्धा में दोष दोषरूप से हमारे सामने नहीं आते, अपितु हम उन्हें गुण ही समझने लगते हैं। तीसरी तामसी श्रद्धा बड़ी भयानक है। हम समझ रहे हैं कि अमुक व्यक्ति में अमुक दोष विद्यमान हैं। परन्तु हम समझते हुए भी उन्हें छिपाने की चेष्टा कर रहे हैं, मन में ग्लानि है परन्तु लोकप्रतिष्ठा के दबाव से बनावटी श्रद्धा दिखला रहे हैं, यही तामसी श्रद्धा है। इस के अनुयायी ही अपनी बनावटी श्रद्धा के नाश के भय से सत्यासत्य परीक्षा का विरोध किया करते हैं। सचमुच यह श्रद्धा के स्वरूप को कलङ्कित करने वाली मिथ्याश्रद्धा है। यह तामसी श्रद्धा नानारूप धारण कर हमारे सामने आती रहती है, एवं हमारी वञ्चना करती हुई हमें सत्यमार्ग से च्युत किया करती है।

किसी वस्तु के कारण विशेष को समझे बिना ही जो उस पर हमारी श्रद्धा होजाती है, वह

भी एक प्रकार की तामसी श्रद्धा ही कही जायगी। उदाहरण के लिए गङ्गा की धारा में सर्वसाधारण की पूर्ण श्रद्धा देखी जाती है। गङ्गा को श्रद्धालु लोग पूज्यदृष्टि से देखते हैं। क्या इस सम्बन्ध में हम यह प्रश्न नहीं कर सकते कि गंगा के पानी में हमारी ऐसी उत्कट श्रद्धा क्यों होगई ? अन्य नदियों की अपेक्षा गङ्गा के जल में ही ऐसा क्या अलौकिक गुण है, जिससे हम उसे **"ब्रह्मद्रवी"** (पिघला हुआ ब्रह्म) कहने लग गये। आप कहेंगे, शास्त्रों ने ऐसा ही लिखा है, ऐसा ही माना है। शास्त्रोपदेश से ही हम गङ्गा पर श्रद्धा करने लगे हैं। तो क्या शास्त्रकारों से उक्त प्रश्न नहीं किया जासकता ? शास्त्रकारों नें इस में ऐसी कौन सी अलौकिकता देखी, जिस से वे इसे साक्षात् ब्रह्म का द्रुतरूप कहने लग गये। विश्व की परिक्रमा लगाने वाले, विदेशियों के (कल्पित) मतानुसार आदिकाल में सुमेरू की उपत्यकाओं में अपना आवासस्थान बनाने वाले उन श्रद्धेय महर्षियों को क्या यह मालूम न था कि हिमालय से गल गल कर बहने वाला तुषार जल ही गङ्गा है ? क्या उन्हें यह विदित न था कि ब्रह्म एक निराकार आत्मतत्त्व है। उस में त्रिकाल में भी कोई विकार नहीं होसकता। फिर उन्होंने हठात् यह कैसे कह डाला कि ब्रह्म ही पिघल कर गंगाजल रूप में परिणत हुआ है ? गंगास्नान से बड़े बड़े अघ क्षणमात्र में नष्ट होजाते हैं, उन्होंने यह किस आधार पर कह डाला।

इस प्रकार हमारे धार्मिक विश्वासों के प्रति उक्तरूप से नास्तिकों का तर्कजाल जब हमारे सामने आता है तो हमारे चित्त में एक प्रकार का क्षोभ उत्पन्न हो जाता है। हम नहीं जानते कि गंगा में वह अलौकिकगुण कौन सा है, जिस के आधार पर ऋषियों नें उस पर हमारी श्रद्धा उत्पन्न करा दी। साथ ही में हम उन महामहर्षियों की वाणी पर भी अविश्वास नहीं कर सकते, जिन्होंनें लोककल्याण के लिए ही अपना सारा जीवन व्यतीत कर दिया था। जिन महर्षियोंनें अपने अनन्तकाल की तपश्चर्या से दिव्यदृष्टिद्वारा आत्म-परमात्म जैसे सुसूक्ष्म तत्वों का साक्षात्कार किया था, जिन ऋषियों की दिव्यवाणी आज भी हमें मन्त्रमुग्ध बना रही है, जिन ऋषियों की सत्य निष्ठा से सम्पूर्ण विश्व का मानव समाज चकित होरहा है, उन ऋषियों के—**"तुम गंगा को पापनाशिनी समझो, यह साक्षात द्रुत ब्रह्म है"** इस आदेश पर भी हम अविश्वास नहीं कर सकते। इस

प्रकार एक ओर ऋषियों की वाणी पर दृढ विश्वास, दूसरी ओर नास्तिकों का तर्कजाल। बतलाइए ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय। यदि बिना रहस्यज्ञान के यों ही श्रद्धा करते जाते हैं तो नास्तिक लोग और भी अधिक आक्रमण करने लगते हैं। भोली जनता में इन की ओर से यह विषम वातावरण उत्पन्न किया जाता है कि यह तो सनातनधर्म्मियों का केवल ढकोसला है। भला कहीं पानी में स्नान करने से भी पापों का क्षय हुआ है। यदि ऐसा हो, तब तो गंगा में रहने वाली सब मछलियों को सीधे परामुक्तिधाम में पहुंच जाना चाहिए। भला कौन बुद्धिमान ऐसी मिथ्या कल्पनाओं पर विश्वास करेगा। कहना नहीं होगा कि ऐसे प्रचारों से आज दृढ श्रद्धालु भी धीरे धीरे श्रद्धा से च्युत होते जारहे हैं। इसी आधार पर क्या हम यह नहीं कह सकते कि बिना रहस्यज्ञान के केवल शब्द प्रमाण के आधार पर जो श्रद्धा उत्पन्न होती है, वह एक प्रकार से तामसी श्रद्धा ही है। यह ठीक है कि सर्वसाधारण अध्ययन द्वारा इन रहस्यों को नहीं जान सकते। परन्तु देश में ऐसे रहस्य वेत्ता विद्वानों का होना परम आवश्यक है, जो कथाद्वारा, व्याख्यानद्वारा, शिक्षापद्धति के द्वारा, सामयिक भाषामय ग्रन्थ प्रचारद्वारा, उन रहस्यों से जनता को परिचित कराते हुए नास्तिकों के तर्कवाद का समूलविनाश करने के लिए सर्वदा कटिबद्ध रहैं। आज कोमलश्रद्ध, एवं इने गिने शास्त्रग्राही विद्वान् भी इन रहस्यों से अपरिचित हैं। दुर्भाग्य से इन्हीं के हाथ में आज धर्म्म की बागडोर है। इस का क्या परिणाम होरहा है ? किस प्रकार जनसाधारण धर्मश्रद्धा से विमुख होता जारहा है ? किस जघन्यता के साथ बर्बरलोग धर्म्म पर एवं तत्प्रवर्त्तक ऋषियों की विमल कीर्त्ति पर आक्रमण कर रहे हैं, यह सब प्रकट है।

नास्तिक वर्ग को थोड़ी देर के लिए छोड दीजिए, आस्तिक वर्ग का ही विचार कीजिए। संदेह होना मनुष्य का एक सहजसिद्ध धर्म्म है। **"ऐसा क्यों करें ? ऐसा न करनें से क्या हानि है ? शास्त्रों में अमुक तत्व को इतना महत्व क्यों दिया"** ? यह जिज्ञासा स्वाभाविकी है। जिज्ञासुओं की ओरसे धार्मिक आदेशों के प्रति जब क्यों ? का प्रश्न उठाया जाता है तो हमारे कोमलश्रद्ध, एवं शास्त्रग्राही विद्वान् संतोषप्रद समाधान करने के स्थान में उस जिज्ञासु के प्रति क्रोध प्रकट करने लगते हैं, उसे घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। क्या यह उचित है ? क्या इसी का नाम सभ्यता

है ? हमें यह कहलेने दीजिये कि पश्चिमी शिक्षा ने नास्तिकवाद नहीं फैलाया है, अपितु **रहस्यानभिज्ञ** हमारे देश के विद्वान् ही इस नास्तिक भाव के मूल कारण हैं। विज्ञानप्रधाना पश्चिमी शिक्षा के संसर्ग से जिज्ञासा को प्रोत्साहन अधिक मिल रहा है, उधर विद्वान् समाधान करने के स्थान में जिज्ञासुओं का तिरस्कार करने में ही अपनी विद्वत्ता की रक्षा समझ रहे हैं। इन्हीं विद्वानों की कृपा से विज्ञानप्रधान वेदशास्त्र भारतीय नवयुवकों की दृष्टि में सर्वथा व्यर्थ की वस्तु बन रही है। केवल गंगा ही क्या, **श्राद्ध, अवतार, मूर्त्तिपूजन, संस्कार** आदि सभी धर्मादेश आज संदेह के स्थल बन रहे हैं। तामसी श्रद्धा के अनुयायी उन विद्वानों से हम पूछते हैं कि आप कब तक इस मिथ्या श्रद्धा के बल पर अपने गन्धर्व नगर की रक्षा कर सकेंगे। अस्तु प्रकृतस्थल में हमें उक्त पङ्क्तियों से केवल यही कहना है कि रहस्यज्ञानात्मक मूल कारण को बिना जाने जो श्रद्धा उत्पन्न होजाती है, वह परिणाम में घातक बनती हुई एक प्रकार की तामसी श्रद्धा ही है।

तामसी श्रद्धा का एक यह भी रूप है कि ऋषियों नें कहा कुछ और है, उस का आशय और ही कुछ समझ कर, उस स्वाभिमत आशय पर श्रद्धा करली गई है। इस श्रद्धा के मूल में अज्ञान है। शास्त्राध्ययन की कमी से हमनें ऋषि के आदेश को उलटा समझ लिया है। उसी का जन-साधारण में प्रचार होगया है। अब वही मिथ्या विषय इस प्रकार श्रद्धा का विषय बन गया है कि उस के विरुद्ध बोलना आज नास्तिकता मानी जाने लगी है। सचमुच ऐसी विपरीत श्रद्धा अवश्य ही तामसी श्रद्धा है। उदाहरण के लिए **गयाश्राद्ध** को ही लीजिए। इस सम्बन्ध में ऋषि ने कहा है कि "**गयाश्राद्ध करन से प्रेतात्मा** की मुक्ति होजाती है"। अवश्य ही यह आदेश सर्वथा सत्य है। परन्तु आत्मविद्या से सर्वथा शून्य गया स्थान के कुल पुरोहितों नें उक्त आदेश का यह तात्पर्य समझा है कि गयाश्राद्ध करने के पश्चात् **पार्वणश्राद्ध**, एवं **वार्षिकश्राद्ध** करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती। इन के इस मिथ्या प्रचार से जनसाधारण का यह विश्वास होगया है कि गयाश्राद्ध करने के पश्चात् वार्षिकश्राद्धादि करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इन अन्धश्रद्धालुओं को यह पता नहीं है कि गयाश्राद्ध किसी अन्य आत्मा के लिए किया जाता है, एवं पार्वण-वार्षिकश्राद्ध अन्य आत्मा की तृप्ति का कारण है। गयाश्राद्ध से हंसात्मा नाम से प्रसिद्ध प्रेतात्मा

की मुक्ति होती है, एवं पार्वण वार्षिक श्राद्ध से महानात्मा नाम से प्रसिद्ध प्रेतात्मा की तृप्ति होती है। *दोनों कर्म्म सर्वथा विभक्त हैं। परन्तु आज यह कहना अशास्त्रीय माना जारहा है।

दूसरा उदाहरण वायु है। बाह्य एवं आभ्यन्तर भेद से वायु की दो अवस्थाएं मानीं गई हैं। जिस वायु का त्वगिन्द्रिय से स्पर्शरूप प्रत्यक्ष होता है, जिस वायु के आघात से वृक्षादि कम्पित होते रहते हैं, जिस वायु से मेघखण्डों का इतस्ततः संचार होता है, जो वायु पुरोवात (पुरवाई-पूर्व की हवा) रूप धारण कर पर्जन्य की सहायता से वृष्टि का कारण बनता है, वह बाह्य वायु है। इसी को सङ्केत भाषानुसार "वात" कहा गया है। दूसरा आभ्यन्तरवायु सूक्ष्म है, प्राणात्मक है। इसी प्राणवायु के आघात से श्वास-प्रश्वास का संचार होता है। उठना बैठना-चलना-फिरना-जंभाई लेना-उबासी आना आदि शरीर की जितनीं भी चेष्टाएं हैं, उन सब की आधारभूमि यह प्राणवायु ही है। भगवान् कणादने इन दोनों वायुओं की पूर्ण परीक्षा की है। बाह्य वायु की परीक्षा समाप्त करने के अनन्तर आभ्यन्तर प्राणवायु की प्रामाणिकता सिद्ध करते हुए आचार्य कहते हैं—

१—"संज्ञाकर्म्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम्"

२—"प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात् संज्ञाकर्म्मणः" (वै० दर्शन२अ०।१आ०।१८-१९सू०)

इन सूत्रों का मीमांसा सम्मत तात्पर्य यही है कि—"प्रत्यक्षदृष्ट चेष्टाएं हीं आभ्यन्तर प्राणवायुओं को मानने में मुख्य कारण है। क्यों कि हम अपनी शारीर चेष्टाओं को प्रत्यक्ष में होते देख रहे हैं"। इसी शास्त्र सिद्ध अर्थ को लक्ष्य में रख कर आयुर्वेद ने भी चेष्टा-द्वारा प्राणवायु की सत्ता का ही अनुमान लगाया है, जैसा कि निम्न लिखित वचन से स्पष्ट हो-जाता है—

"सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः" (सूत्रस्थान१७अ०।१२श्लो०)। परन्तु उक्त तामसी श्रद्धा की कृपा से आगे जाकर कैसा अर्थ का अनर्थ हुआ है, यह भी देखिए।

*इस विषय का विशद विवेचन श्राद्धविज्ञान में देखना चाहिए।

"संस्कृतभाषा में तत्तत् पदार्थों के घट पट आदि जो संस्कृत नाम उपलब्ध होते हैं, उन्हीं से परमेश्वर की सिद्धि होती है। यह नाम ही परमेश्वर की सत्ता में प्रमाण हैं। क्योंकि (हम तो इन नामों के रखने वाले हैं नहीं, एवं नाम उपलब्ध होते हैं फलतः) इन नामों का कर्त्ता ईश्वर से अतिरिक्त और कोई नहीं होसकता। जब कि ईश्वर द्वारा रक्खे हुए सभी नाम संस्कृत भाषा में हैं, (अन्य भाषाओं में नहीं) तो यह सिद्ध होजाता है कि अर्थ समझने की शक्ति इन (ईश्वरप्रणीत) संस्कृत शब्दों में ही है, इतर भाषाशब्दों में नहीं। इतर भाषाओं में अर्थबोध कराने की शक्ति न रहने पर भी शक्तिभ्रम से लोग उन का अर्थ समझ लेते हैं"।

इस प्रकार सहज सिद्ध वायुप्रकरण का गला घोंट कर व्याख्याताओं नें दोनों सूत्रों की उक्त व्याख्या करते हुए इन से ईश्वर सिद्धि की है। क्या ईश्वर सिद्धि के लिए अन्य साधन न थे? क्या संकेतमात्र से ईश्वर सिद्ध होगया? क्या इस विपरीत श्रद्धा को हम तामसी श्रद्धा नहीं कह सकते?

इसी तामसी श्रद्धा का एक विवर्त्त और है। ऋषियों नें कोई बात अन्य अभिप्राय से कही है, परन्तु साधारण मनुष्यों नें ऋषियों की उक्ति का ओर ही अभिप्राय समझ लिया हो, ऐसा भी देखा गया है। शब्द वहीं हों, अर्थ दूसरा लगा दिया हो—यह पूर्व की तामसी श्रद्धा थी। शब्द, वही हों, अभिप्राय उन का कुछ ओर हो, अभिप्राय समझ लिया गया हो कुछ ओर का ओर ही, यह प्रकृत की तामसी श्रद्धा है, जैसा कि निम्न लिखित उदाहरण से स्पष्ट होजायगा।

वेद को ऋषियों नें अपौरुषेय कहा है, यह बात निर्विवाद है। इसी आधार पर जनसाधारण ने वेद की अपौरुषेयता पर श्रद्धा की है। वेद को अपौरुषेय मानना युक्ति सिद्ध है, तर्कसिद्ध है, प्रमाणसिद्ध है, ऋषिसम्मत है। साथ ही में विश्व का कोई भी विचारशील विद्वान् परीक्षा करने के अनन्तर वेदतत्व के इस अपौरुषेयत्व का प्रतिवाद भी नहीं कर सकता। किसी भी प्रमाण, युक्ति, तर्क, परीक्षा से वेद का पौरुषेयत्व सिद्ध नहीं होता। साथ ही में वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करने वाले प्रमाण परीक्षादि का आगे वेद प्रकरण में हम विस्तार से दिग्दर्शन भी कराने वाले हैं।

काश नहीं मिलना चाहिए। अर्थात् हमारा प्रश्न ऐसा होना चाहिए कि फिर उस प्रश्न के प्रश्नत्व पर किसी प्रकार के आघात होने की संभावना ही न रहै। "**भूल देखना भूल नहीं है, किन्तु भूल देखने में भूल नहीं होनी चाहिए**" इस सिद्धान्त को सामने रखते हुए ही हमें किसी विषय के विचार में प्रवृत्त होना चाहिए। केवल जड़वाद को उत्तेजना देने वाली पश्चिमी शिक्षा के संसर्ग से आज हमारे भारतीय नवयुवकों के, तत्शिक्षकों के, एवं शिक्षाप्रवर्त्तक पश्चिमी विद्वानों के बौद्ध जगत् में स्थिरता लक्षण विचार परामर्श का प्रायः अभाव ही देखा जाता है। किसी भी विषय के सत्यासत्य निर्णय के सम्बन्ध में इन महानुभावों नें—"**चट मंगनी, पट व्याव**" वाली किंवदन्ती अक्षरशः चरितार्थ कर रक्खा है। विषय के अन्तस्तल पर पहुंचने की न इन की वृत्ति है, न इस वृत्ति की यह आवश्यकता ही समझते हैं। आप किसी भी धार्मिक विषय के सम्बन्ध में इन से प्रश्न कीजिए, तत्काल आप को उत्तर मिल जायगा। जैसे इन का जीवन धार्मिक विचारों में, धर्म ग्रन्थों के अध्ययन में ही व्यतीत हुआ हो। वह उत्तर भी कैसा ?—"**अन्धेर नगरी अबूझ राजा, टकै सेर भाजी टकै सेर खाजा**" इस लोकोक्ति को सर्वथा चरितार्थ करने वाला। सभी धार्म्मिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी अविकल निर्दुष्ट देहेन्द्रियों से आपने—"**सब व्यर्थ है, सब ढोंग है, सब स्वार्थियों की स्वार्थलीला है, ऐसे व्यर्थ के कार्यों में कभी समय का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए. इन शास्त्रीय अड़ङ्गों का हमारे दैनिक जीवन में कोई उपयोग नहीं है, राष्ट्र की समुन्नति में इन धर्म्माज्ञाओं से कुछ भी उपकार संभव नहीं है**" इत्यादि कतिपय समाधान वाक्य कण्ठस्थ कर रक्खे हैं। भूल देखना मात्र इन का कर्त्तव्य है, फिर चाहे इन के भूल देखने में असंख्य भूलें भरीं पड़ीं हों। आप के उक्त सदुत्तरों की मूल प्रतिष्ठा क्या है ? यह भी जान लीजिए। "**हम भी मनुष्य हैं। हमनें भी चिरकाल पर्यन्त श्रम कर के शिक्षा प्राप्त की है। हमारे पास भी बुद्धि है। बस जो बात हमारी समझ में बेठे, जो विज्ञान (जड़विज्ञान-भौतिकविज्ञान-क्षणिक विज्ञान) से सिद्ध हो, वही बात माननी चाहिए। जो बात हमारी समझ में न बैठे, किंवा जो प्रकृति (Nature) के विरुद्ध हो, उसे नहीं मानना चाहिए**"।



"परोक्षप्रिया इव हि देवाः, प्रत्यक्षद्विषः" (शत० १४।६।१।१।२) इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक पदार्थ की स्थिति वास्तव में होती कुछ और ही है, एवं दीखती कुछ और ही है। यह न्याय वेद की इस अपौरुषेयता के सम्बन्ध में भी चरितार्थ होरहा है। प्रकरण के आरम्भ में उद्धृत वेद के चारों भाग सर्वथा अपौरुषेय हैं। जिस प्रकार **पुराण, न्याय, पूर्वमीमांसा, उत्तरमीमांसा, योग, वैशेषिक, सांख्य, वेदाङ्ग, स्मृतिएं, धर्म्मसूत्र** आदि ग्रन्थ **व्यास-गोतम-जैमिनि-व्यास-पतञ्जलि-कणाद-कपिल-पाणिनि-यास्क-मनु-याज्ञवल्क्य-वसिष्ठ-भरद्वाज** आदि महापुरुषों द्वारा बनाए जाने के कारण (पुरुषों से विरचित होने के कारण) **पौरुषेय** नाम से प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार **संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्** भेद से चार भागों में विभक्त वेदशास्त्र को किसी भी पुरुषविशेष ने नहीं बनाया है। वेद के बनाने वाले का नाम सर्वथा अज्ञात है। इसी आधार पर हम वेद को **नित्य**, एवं **अपौरुषेय** मानने के लिए तय्यार हैं।

यदि आप प्रश्न करें कि जिस प्रकार पुरुषों के बनाए हुए पुराण न्यायादि शास्त्रों में बुद्धिपूर्वक वाक्य रचना हुई है, तथैव वेद में भी हमें वाक्यरचना का सन्निवेश बुद्धिपूर्वक ही उपलब्ध होता है। साथ ही में अन्य शास्त्रों के अनुसार वेद में भी बनाने वाले **भृगु-वसिष्ठ-अङ्गिरा-अत्रि-मरीचि** आदि ऋषियों का नामोल्लेख देखते हैं। इस प्रकार इतर पौरुषेय शास्त्रों की तरह समान धर्म्म रखने वाला यह वेद भी क्यों नहीं पौरुषेय ही मान लिया जाय। यह बात कैसे मानी जासकती है कि एक लम्बा चौड़ा ग्रन्थ अपने आप बन कर हमारे सामने उपस्थित होगया। यदि पुरुषरचनानुकूल सारे धर्म्मों के रहते हुए भी इसे अपौरुषेय माना जाता है, तो फिर अन्य पौरुषेय शास्त्रों ने क्या अपराध किया है? क्यों नहीं उन्हें भी अपौरुषेय मान लिया जाय? स्वागतम् !!! इन प्रश्नों की परीक्षा करने केलिए ही तो हम प्रवृत्त हुए हैं।

प्रश्न करना उचित है, परन्तु वह प्रश्न कहीं प्रश्न की अपेक्षा न रखता हो। दूसरे शब्दों में यों कहिए कि प्रश्न करना बुरा नहीं है, परन्तु उस प्रश्न में प्रश्न की जिज्ञासा को अव-

उस के सत्यासत्य का निर्णय करना होगा। परीक्षा द्वारा हमें यह देखना होगा कि हमारी श्रद्धा सत्य है, अथवा मिथ्या। यदि इस परीक्षा से हमारी श्रद्धा को विजयश्री मिली तो हमारा विश्वास ओर भी अधिक दृढमूल बन जायगा। इस परीक्षा में यदि हम किसी अंश में अनुत्तीर्ण होगए तो बिना अभिनिवेश के हमें वह अंश बाहर निकाल फैंकना पड़ेगा। हमें तो यह मानने में कोई संकोच नहीं है कि वर्त्तमान युग में सनातनधर्म्म में कितनीं हीं असत्य श्रद्धाओं का समावेश होगया है। तभी तो अहोरात्र धर्म्म-धर्म्म-चिल्लाते हुए भी हम अवनति की ओर अग्रसर होरहे हैं। यदि धर्म्म का—"**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्म्मः**" यह लक्षण है, यदि धर्म्म के सम्बन्ध में—"**धर्म्मो रक्षति रक्षितः**" इस सिद्धान्त में कुछ भी सचाई है तो फिर क्यों हम धर्म्म की उपासना करते हुए भी गिरते जारहे हैं? अवश्य ही उस कारण का अन्वेषण करना पड़ेगा। **उस का प्रधान साधन होगा विज्ञानदृष्टि से धार्म्मिकतत्त्वों का परीक्षण**। इसी सदुद्देश्य को सामने रखते हुए आज हम अपने वेदशास्त्र की अपौरुषेयता-पौरुषेयता का विचार करने के लिए सन्नद्ध हुए हैं। हमें विश्वास है कि यह मीमांसा हमें तामसी श्रद्धा से निकालती हुई अवश्य ही अभ्युदय-निःश्रेयसमूला सात्विकी श्रद्धा की ओर हमारे अन्तःकरणों को प्रवृत्त करेगी।



यह सब कुछ मानते हुए भी हम यह कहने में कोई आपत्ति नहीं समझते कि सकल साधारण ने वेद की अपौरुषेयता का जैसा स्वरूप समझ रक्खा है, अथवा "वेद अपौरुषेय है" इस आदेश वाक्य का (वेदतत्व का स्वरूप न समझते हुए अपौरुषेयता का) जो अभिप्राय मान रक्खा है, वह नितान्त अशुद्ध है। दूसरे शब्दों में वेद की अपौरुषेयता पर जो जनसाधारण की एक श्रद्धा देखी जाती है, वह निरी तामसी श्रद्धा ही है।

आरम्भ में हमारे ऊपर जो यह आक्षेप लगाया गया था कि यदि तुम इस प्रश्न की मीमांसा करोगे तो लोकसंग्रह बिगड़ जायगा। इसी आक्षेप के प्रत्युत्तर के लिए तामसी श्रद्धा का स्वरूप पाठकों के समक्ष उपस्थित करना पड़ा। हम भी लोकसंग्रह के पक्षपाती हैं। परन्तु लोक-संग्रह की आड़ में जब हमारी मौलिकता नष्ट होरही है, जब मिथ्या श्रद्धा के नाते स्वार्थी लोग स्वार्थ सिद्धि में प्रवृत्त होरहे हैं, धर्म्म की दुहाई देकर कतिपय नरराक्षस धर्म्म के नाम पर जब अधर्म्म का प्रचार कर रहे हैं तो ऐसी अवस्था में वह लोकसंग्रह हमारा क्या हित साधन कर सकता है। लोक कैसे हैं, उन का संग्रह कैसा भयावह है, क्या आप यह विचार करेंगे। कुछ कुचक्री स्वार्थसिद्धि के लिए अपना एक गिरोह बना कर धर्म्म-शास्त्र-ईश्वर के नाम पर मन माना अत्याचार करते रहें। इन अत्याचारियों के ताण्डव नृत्य से सनातन संस्कृति का मूलोच्छेद होता रहै, और फिर भी हम इस लुटेरी सम्प्रदाय को लोकसंग्रह जैसे पवित्र शब्द की उपाधि से विभूषित किए रहैं। असंभव, कदापि नहीं। यदि इस नाशक पद्धति का ही नाम लोकसंग्रह है तो हम जल्दी से जल्दी इस का विनाश देखना चाहते हैं। एक बार लोकसंग्रह बिगड़ जाय, तब भी कोई चिन्ता नहीं। फिर नया संगठन होगा, फिर से धर्म्म का संस्कार होगा। लोग अपनी विलुप्त प्राय संस्कृति का वास्तविक महत्व फिर से समझेंगे।

सम्माननीय बन्धुओ !

आज तामसी श्रद्धा ने हमारे वास्तविक स्वरूप को आवृत कर रक्खा है। इस अन्धश्रद्धा से क्या क्या अनर्थ हुए, होरहे, एवं होंगे, यह एक गम्भीर एवं विचारणीय विषय है। हम अन्य धर्मों की समालोचना करते रहें, इस से पहिले हमें अपने घर की सफाई करनी होगी। हमें अपने धार्म्मिक विश्वासों को परीक्षा की कसोटी पर कसना होगा। हम जिस मार्ग पर श्रद्धा से चलते हैं,

अपने इसी अभिनिवेश में पड़ कर वेद के सम्बन्ध में भी इन की ओर से यही विचार उपस्थित किए जाते हैं कि **"वेद एक सामयिक साहित्य ग्रन्थ है। शब्दरचना मनुष्य का ही कर्म्म माना जासकता है। फलतः यह वेद पौरुषेय हैं, ऋषिकृत हैं। जिस युग में यह वेद बने थे, उस युग में इन का भले ही कोई उपयोग हुआ होगा। परन्तु जब विज्ञान के प्रभाव से आज सर्वथा युगपरिवर्त्तन होगया है तो ऐसे वैज्ञानिक युग में उस सामयिक साहित्य की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती"।**

इस प्रकार वेद के सम्बन्ध में उक्त विचार प्रकट करने वाले उन सभ्य महानुभावों से हम निवेदन करेंगे कि प्रकृति देवी का वास्तविक स्वरूप आपने जितना सुविज्ञेय समझ रक्खा है, वास्तव में वह उतना ही दुर्विज्ञेय है। आरम्भ के ब्राह्मण वचन के अनुसार वस्तु का स्वरूप रहता कुछ और ही है, दिखलाई देता कुछ और है। सहसा उस के याथातथ्य का निर्णय कर डालना बड़ी भारी भूल है। प्रत्येक पदार्थ को देखने के लिए हमारे पास **विज्ञानदृष्टि, अन्तर्दृष्टि, बाह्यदृष्टि** भेद से तीन साधन हैं। प्रत्येक पदार्थ की स्वयं पूर्ण परीक्षा कर, उस के द्वारा किसी सत्य निर्णय पर पहुंचना **विज्ञानदृष्टि** है। इस के अनुयायी विद्वानों को हमनें पूर्व में **"यथार्थग्राही"** शब्द से सम्बोधित किया है। जिन परीक्षकों नें, जिन साक्षात्कृतधर्म्मा महर्षियों नें शब्द द्वारा विज्ञानदृष्टि से परीक्षित पदार्थों का जो स्वरूप परिचय, हमारे सामने रक्खा है, वही शब्दराशि शास्त्र है। इस शास्त्रप्रमाण के आधार पर पूर्वापर का पूर्ण समन्वय करते हुए बुद्धिद्वारा वस्तु को देख कर, उस के सत्यस्वरूप को देखना ही अन्तर्दृष्टि है। इसी दृष्टि के अनुयायियों को हमनें **"शास्त्रग्राही"** कहा है। एवं अपनी चर्म्मचक्षुओं से किसी पदार्थ का निर्णय कर डालना बाह्यदृष्टि है। ऐसे ही महानुभाव कोमलश्रद्ध कहे जाते हैं। इन तीनों दृष्टियों में से विज्ञानदृष्टि को थोड़ी देर के लिए हम छोड़ते हैं। केवल अन्तः—बहिर्दृष्टियों की ओर आप का ध्यान आकर्षित करते हैं।

आंख-कान-नाक-जिह्वा-त्वचा-आदि के आधार पर किसी विषय का परिज्ञान करना ऐन्द्रियक ज्ञान है, यही बाह्यदृष्टि है। साधारण जनसमाज अधिकांश में इसी दृष्टि का अनुगमन करता है। एवं अन्तःकरणावच्छिन्न (मनोयुक्त) बुद्धिपूर्वक उस पदार्थ को देखना अन्तर्दृष्टि है।

विद्वत्समाज अधिकांश में इसी दृष्टि का पक्षपाती है। यह एक सिद्ध विषय है कि साधारण मनुष्य किसी पदार्थ का स्वयं जैसा स्वरूप मानता है, विचारशील विद्वान् की दृष्टि में वह स्वरूप सर्वथा अश्रद्धेय है। एवं एक विद्वान् किसी वस्तु का जैसा स्वरूप बतलाता है, उस पर जनसाधारण का विश्वास नहीं होता। फलतः विद्वानों की अन्तर्दृष्टि, एवं सामान्य जनों की बाह्यदृष्टि में प्रायः विरोध ही रहता है। इसी दृष्टिविरोधमूलक मतविरोध का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् कहते हैं—

> या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
> यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः॥ (गी० २।६९।)।

उदाहरण के लिए जनसामान्य का यह विश्वास है कि—"**पृथिवी नीचे है, उस के ऊपर आकाश है, एवं वह आकाश नीला है, पृथिवी मटिया रंग की है। पृथिवी समतल है, किन्तु आकाश अर्द्धगोलाकार है। हमारे मस्तक से ऊपर की ओर का भाग ऊंचा है, पैरों के नीचे का भाग नीचा है**"। उधर अन्तर्दृष्टि के अनुयायी विद्वानों का कहना है कि '**आकाश के गर्भ में पृथिवी प्रतिष्ठित है, एवं पृथिवी के परमाणु-परमाणु में आकाश व्याप्त होरहा है। न कोई किसी के ऊपर है, न कोई किसी के नीचे है। अथवा दोनों दोनों के नीचे हैं, एवं दोनों दोनों के ऊपर हैं। पृथिवी वर्तुलवृत्ता है, आकाश का कोई आकार नहीं है। अतएव उस का क्षेत्रमान भी अशुद्ध है। पृथिवी का अपना प्रातिस्विक वर्ण (रंग) सर्वथा कृष्ण (काला) है। आकाश स्वच्छ है, नीरूप है। उत्तरध्रुवप्रदेश हमारे लिए ऊंचा स्थान है, दक्षिणध्रुव प्रदेश हमारे लिए नीचा स्थान है।**"

उक्त दोनों दृष्टियों में से विद्वानों की अन्तर्दृष्टि ही सत्य मानी जायगी। यही अवस्था वेद के अपौरुषेयत्व की समझिए। बाह्यदृष्टि को प्रधानता देने वालों की समझ में भले ही अपौरुषेयत्व का रहस्य न आवे, परन्तु अन्तर्दृष्टि के उपासक विद्वानों की दृष्टि में वेद की अपौरुषेयता पूर्णपरीक्षित, अतएव सर्वथा सत्य है। वर्त्तमानयुग के विद्वान् भी तो दोनों दृष्टियों की तुलना में अन्तर्दृष्टि को ही सत्य मानते हैं। जनसाधारण का विश्वास है कि पृथिवी स्थिर है, सूर्य्य एवं ग्रह पूर्व से

पश्चिम की ओर जारहे हैं। परन्तु अन्तर्दृष्टि को सत्य मानने वाले पश्चिमी विद्वान् भी सूर्य्य की स्थिरता पर विश्वास करते हुए पृथिवी को चल मानते हैं, एवं ग्रहों का पश्चिम से पूर्व में जाना स्वीकार करते है। बतलाइए कौन सा पक्ष प्रबल रहा?

साथ ही में यह भी निर्विवाद है कि बाह्यदृष्टि से सम्बन्ध रखनें वाले पदार्थ बहुत ही कम संख्या में उपलब्ध होते हैं, एवं अन्तर्दृष्टि से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थ अनन्त हैं। पदार्थों में भिन्न भिन्न शक्तिंए रहतीं हैं। उन शक्तियों की परीक्षा आप बहिर्दृष्टि से कभी नहीं कर सकते। परन्तु उन शक्तियों की सत्ता आप भी स्वीकार करते हैं। अपने विज्ञान भवन का ही निरीक्षण कीजिए। पोप के युग में बहिर्दृष्टि को ही प्रधानता दी जाती थी। केवल कल्पित मिथ्या श्रद्धा का ही साम्राज्य था। फलस्वरूप अन्तर्दृष्टि रखने वाले सैंकड़ों विद्वान् बलिदान की वेदि पर भेंट चढ़ा दिए गए थे। क्या उस युग की साधारण जनता उन विद्वानों की अन्तर्दृष्टि पर विश्वास करती थी? कभी नहीं। उस युग में कौन इस बात पर विश्वास कर सकता था कि बेतार के तार से (Wireless Telegrafice) हजारों कोसों पर बैठे हुए बात चीत की जासकती है। परन्तु आज वही जनता परीक्षा की कृपा से प्रत्यक्ष में इस घटना को देखती हुई विश्वास करने लग गई है। क्या वैज्ञानिक यह दावा कर सकते हैं कि उन्होंनें सभी अतीन्द्रिय पदार्थों का प्रत्यक्ष कर लिया। नहीं तो फिर अतीन्द्रिय-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले हमारे इस वेदापौरुषेयत्व पर बिना सोचे समझे क्यों आक्षेप किया जाता है।

आप जिन पदार्थों की सत्यता बाह्यदृष्टि पर अवलम्बित मानते हैं, हमारे विचार से तो उन के लिए भी अन्तर्दृष्टि की आवश्यकता होती है। अन्तर्दृष्टि को एकान्ततः छोड़ देने पर विशुद्ध बाह्यदृष्टि तो भ्रमज्ञान की जननी बन जाती है। इस परिस्थिति से क्या आप यह मान लेने के लिए तय्यार नहीं हैं कि दोनों दृष्टियों में अन्तर्दृष्टि ही अधिक प्रभाव रखती है? इसी आधार पर हम यह सिद्धान्त स्थिर मान सकते सकते हैं कि एक ही पदार्थ अन्तर्दृष्टि, एवं बहिर्दृष्टि भेद से जहां दो प्रकार का दिखलाई दे, वहां अन्तर्दृष्टि से दृष्ट तत्व को सत्य मानना चाहिए, एवं बहिर्दृष्टि से दृष्ट स्वरूप को मिथ्या समझना चाहिए। कारण स्पष्टतम है। आत्मसत्य का बुद्धि द्वारा अन्तःकरण

के साथ सम्बन्ध होता है। अन्तःकरण (मन) का सत्य ही इन्द्रियों में आता है। इन्द्रियदृष्टि ही बहिर्दृष्टि है। इन्द्रियों की अपेक्षा हमारा मन आत्मसत्य के सन्निकट है। फलतः इस से देखा हुआ विषय इन्द्रियदृष्टि की अपेक्षा अवश्य ही निर्भ्रान्त होता है। बस इन्हीं सब कारणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि बहिर्दृष्टि से देखा गया वेद का पौरुषेयत्व सर्वथा मिथ्या है, एवं अन्तर्दृष्टि की कसोटी पर कसा हुआ वेद का अपौरुषेयत्व सर्वथा निर्भ्रान्त है।

एक बात पर हम पाठकों का विशेष रूप से ध्यान आकर्षित करते हैं। वह यही है कि जिन सेन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध से दोनों दृष्टिएं काम करतीं हैं, उन के सम्बन्ध में तो अन्तर्द्रष्टा विद्वानों का निर्णय प्रमाण बन जाता है। परन्तु कितनें हीं पदार्थ ऐसे हैं कि जिन में केवल अन्तर्दृष्टि का ही अधिकार रहता है। अतीन्द्रिय सभी पदार्थ इस कोटि में अन्तर्भूत हैं। ऐसे विशुद्ध अतीन्द्रिय पदार्थों के सम्बन्ध में विद्वानों में भी परस्पर मत भेद होजाता है, जो कि मतभेद दार्शनिक मर्य्यादा के अनुसार सर्वथा शास्त्रसिद्ध है। वेद का अपौरुषेयत्व भी अतीन्द्रियभाव से ही सम्बन्ध रखता है, फलतः इस के सम्बन्ध में भी यदि हमें मतभेद उपलब्ध होंगे, तो उन का हमें आदर करना पड़ेगा।

पूर्व में हमने कहा है कि वस्तु ज्ञान के सम्बन्ध में **विज्ञानदृष्टि, अन्तर्दृष्टि, बहिर्दृष्टि** इन तीन दृष्टियों का उपयोग होता है। इन तीनों की मूलभित्ति **श्रुति-स्मृति-लोकवृत्त** यह तीन विभाग हैं। प्रत्यक्ष परीक्षा विज्ञानदृष्टि है, यही श्रुति है। प्रत्यक्षदृष्टिरूप श्रुति का अनुगमन करने वाली दृष्टि स्मृति है, जैसा कि आगे के—'**श्रुतिशब्दमीमांसा**" प्रकरण में विस्तार से बतलाया जाने वाला है। तीसरी लौकिकदृष्टि है। जहां तक लौकिक दृष्टि से अन्तर्दृष्टि का विरोध न होता हो, वहां तक वह सत्य है, अन्यथा त्याज्य है। अन्तर्दृष्टि का दर्शन से सम्बन्ध है, विज्ञानदृष्टि विज्ञान है। विज्ञान निर्भ्रान्त तत्व है। उस में "**इदमित्थमेव**" का साम्राज्य है। फलतः विज्ञान सिद्धान्तों में मतभेद का अवसर नहीं आता। विज्ञान का जहां **सत्ता** से सम्बन्ध है, वहां दर्शन का भाति से सम्बन्ध है। दर्शन दर्शन है। यहां परीक्षा का अभाव है। द्रष्टा की योग्यतानुसार भातिमूलक दर्शन में तारतम्य संभव है। फलतः दर्शन में मतभेद होना स्वाभाविक बन जाता है। इसी

आधार पर भारतीय दर्शन ६ भागों में विभक्त माने गए हैं, जैसा कि **ईशोपनिषदादिभाष्यों** में निरूपित है। यह ६ स्वतन्त्र मत हैं, परन्तु ६ ओं का एकीकरण विज्ञान में होजाता है। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होजाता है कि **सूचीकटाहन्याय** का समादर करते हुए पहिले अन्तर्दृष्टिमूलक वेदापौरुषेय सम्बन्धी दार्शनिकों के मत प्रस्तुत किए जांय, अनन्तर विज्ञानदृष्टि का आश्रय लेते हुए निश्चित सिद्धान्त की मीमांसा की जाय।

यदि अस्मत् सदृश कोई व्यक्ति वेद की अपौरुषेयता पर कलम उठाता है तो सनातनधर्मावलम्बी विद्वान् क्षुब्ध हो जाते हैं, और कहने लगते हैं कि यह व्यक्ति नास्तिकता का प्रचार कर रहा है। परन्तु इन कोमलश्रद्ध भोले बन्धुओं को यह पता नहीं है कि स्वयं उन्हीं के शास्त्रों में (दर्शनों में) इस प्रश्न पर पर्याप्त वादविवाद हुआ है। स्वयं दर्शनशास्त्र हीं इस सम्बन्ध में अपना कोई निश्चित सिद्धान्त बतलाने में असमर्थ हैं। बोलिए! ऐसी विषम परिस्थिति में आप की श्रद्धा को अखण्ड रखने के लिए किस उपाय का अवलम्बन किया जाय? हम तो जब अपनें शास्त्रों के मतों को उठा कर देखते हैं तो सहसा यह विचार करने लगते हैं कि ऐसे उलझन के विषय को सर्वथा छोड ही दिया जाय। वेद के जिस नित्यानित्य को लेकर दुर्धर्ष विद्वानों के परस्पर विरोधी बीसों मत जब हमारे सामनें आते हैं, तो हमारे जैसे नगण्य इस सम्बन्ध में क्या निर्णय कर सकते हैं। फिर भी आप्तकाम ईश्वर भी जब सृष्टि करते करते नहीं थकता, तो सहज सिद्ध वाणी की गति कैसे रोकी जा सकती है। **"ममाप्येष स्तोत्रे हर निरपवादः परिकरः"** इस सूक्ति के अनुसार हम भी इस सन्बन्ध में अपने टूटे फूटे विचार क्यों न अपनें सहयोगियों के समक्ष उपस्थित करें।

"वेद ईश्वरकृत है, वेद ऋषियों की पवित्र वाणी है, वेद से ईश्वर का स्वरूप निष्पन्न हुआ है, वेद अग्नि-वायु-आदित्य से उत्पन्न हुए हैं" इन सब प्रवादों को थोड़ी देर के लिए छोड़ दीजिए। पहिले इस बात पर विचार कीजिए कि भारतीय दार्शनिकों के वेदपौरुषेयत्वापौरुषेयत्व के सम्बन्ध में क्या विचार हैं?

---o---

* श्रीः *

वेद पौरुषेय हैं, अथवा अपौरुषेय ?
इस सम्बन्ध में दार्शनिकों के विभिन्न-विचार



❀ श्रीः ❀

दार्शनिक मत से सम्बन्ध रखने वाले

४०–(चालीस)–अवान्तर–मत

१–पूर्वोत्तर–मीमांसामत–वेद अकृतक हैं, अपौरुषेय हैं, कूटस्थनित्य हैं।

२–नव्यन्यायमत———वेद ईश्वरकृत हैं, पौरुषेयापौरुषेय हैं, अनित्य हैं।

३–प्राचीनन्यायमत——–वेद ईश्वरावतारकृत हैं, पौरुषेय हैं, प्रवाहनित्य है।

४–सांख्यमत————वेद प्राकृतिक हैं, अपौरुषेय हैं, अनित्य हैं।

५–वैशेषिकमत————वेद महर्षिकृत हैं, पौरुषेय हैं, अनित्य हैं।

६–नास्तिकमत———–वेद साधारण ग्रामीण मनुष्यों का व्यवस्थाशास्त्र है।

———— * ————

१–मीमांसासामत में अवान्तर १३ मत।

२–नव्यन्यायमत में अवान्तर ७ मत।

३–प्राचीनन्यायमत में अवान्तर ५ मत।

४–सांख्यमत में अवान्तर ७ मत।

५–वैशेषिकमत में अवान्तर ७ मत।

६–नास्तिक मत १ मत।

४० मत (चालीस अवान्तरमत)

प्रक्रान्त–उपनिषद्भूमिका–प्रथमखण्ड के सम्बन्ध में विशेष निवेदन—

इस से पूर्व सम्पादक–की असावधानी से पृष्ठसंख्या में अनेक विपर्य्यय होगए हैं। अब इस 'मतवाद–स्वरूप–प्रकरण' से हमनें पूर्व–संख्याओं का अनुरोध न मानकर १ संख्या से ही संख्या का सन्निवेश कर दिया है, जो क्रम प्रस्तुत प्रथमखण्ड की समाप्ति–पर्य्यन्त इसी क्रम से प्रक्रान्त रहेगा—

श्रीः

अथ-त्रयोदश-[१३]-अवान्तरमतयुक्तं-पूर्वोत्तरमीमांसादर्शनाभिमत-मतप्रदर्शनम्

१

[कर्म्मप्रधान ब्राह्मणभाग की मीमांसा करने वाली **पूर्वमीमांसा** (जैमिनिदर्शन), ज्ञानप्रधान उपनिषद्भाग की मीमांसा करने वाली **उत्तरमीमांसा** (व्यासदर्शन), **सांख्यदर्शन, प्राचीनन्यायदर्शन, नव्यन्यायदर्शन, वैशेषिकदर्शन, नास्तिकदर्शन,** इन ६ ओं दर्शनोंनें वेद की उत्पत्ति के सम्बन्ध में, किंवा वेद के अपौरुषेयत्व-पौरुषेयत्व के सम्बन्ध में अपने अपने भिन्न भिन्न विचार प्रकट किए हैं। इसप्रकार वेदोत्पत्ति के सम्बन्ध में ६ प्रधान मत होजाते हैं। यदि इन के अवान्तर मतों का संग्रह किया जाता है, तो ४० मत होजाते हैं। इन्हीं मतों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराना इस प्रकरण का मुख्य लक्ष्य है]

श्रीः

अथ–त्रयोदश (१३)–अवान्तरमतयुक्तं–पूर्वोत्तरमीमांसादर्शनाभिमत–मतप्रदर्शनम्

१

मीमांसानुगत–दृष्टिकोण—

ब्राह्मणग्रन्थों में कर्म्मेतिकर्त्तव्यताप्रतिपादक जिन आदेशनावाक्यों में बाह्यदृष्टि से परस्पर विरोध प्रतीत होता है, उन का अन्तर्दृष्टि से समन्वय करने के लिए पूर्वमीमांसाशास्त्र प्रवृत्त हुआ है। इस के कर्त्ता भगवान् **जैमिनि** हैं। इसीप्रकार उपनिषद्वाक्यों के विरोध–समन्वय के लिए **उत्तरमीमांसाशास्त्र** प्रवृत्त हुआ है। इस के कर्त्ता महामुनि **व्यास** हैं। दोनों मिल कर एक **मीमांसाशास्त्र** है। इस मीमांसदर्शन के अनुसार **"वेद सर्वथा अपौरुषेय हैं, अतएव सर्वथा नित्य हैं।** वसिष्ठ, भारद्वाज, दीर्घतमा, हिरण्यगर्भ, **बृहस्पति अङ्गिरा आदि महर्षिगण वेद के द्रष्टा हैं, न कि कर्त्ता।** शब्दनित्यता **ही शब्दात्मक वेद की नित्यता, एवं अपौरुषेयता में प्रमाण है।"** इस मत के समर्थक निम्न लिखित **मीमांसासूत्र** हमारे सामने आते हैं—

१—'वेदांश्चैके सन्निकर्षं पुरुषाख्याः' (पू० मी० १।१।२७)।

२—'अनित्यदर्शनाच्च' (पू० मी० १।१।२८)।

३—'उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम्' (पू० मी० १।१।२९)।

४—'परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रम् (पू० मी० १।१।३१)।

५—'शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्, प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्'। (उ० मी १।३।२८)।

६—अतएव च नित्यत्वम्' (उ० मी० १।३।२९)।

उक्त सूत्रों का तात्पर्य्य यही है कि, कितने ही महानुभावों का वेद की अपौरुषेयता के प्रति यह आक्षेप है कि, वेद सर्वथा मनुष्यकृत हैं। कारण, **काठकं कालापकं, पैप्पलादकं, मौगदलं** इत्यादि रूप से वेद का पुरुषविशेषों के साथ सम्बन्ध बतलाया गया है। इन समाख्यावचनों के आधार पर कह सकते हैं कि, वेद अनादि नहीं है, अपितु सृष्टिरचना के अनन्तर पुरुष–विशेषों के द्वारा बनाए हुए हैं। अपिच–**"बबरः प्रावाहणिरकामयत"–"औद्दालकिरकामयत"** इत्यादि वाक्यों के आधार पर भी वेद की अनित्यता ही सिद्ध है। प्रावाहणि **बबर** था, वह एक ऐतिहासिक व्यक्ति था। इसीप्रकार उद्दालक का पुत्र **औद्दालकि** भी एक ऐतिहासिक ही व्यक्ति था। हम देखते हैं कि, **'तेन प्रोक्तम्'** (पाणि० सू० ४।३।१०१।) के अनुसार तद्धित प्रत्यय का सम्बन्ध प्रोक्तार्थ के साथ ही माना गया है। ऐसी अवस्था में—**'व्यासेन प्रोक्तं वैय्यासिकं भारतम्'** इत्यादिवत्–**'कठेन प्रोक्तं काठकम्'–'कौथुमं'–'तैत्तिरीयकं'** इत्यादि

समाख्याओं के बल पर हम वेद को कृतक (मनुष्यकृत) ही कहेंगे। फलतः-'**विमतं वेदवाक्यं पौरुषेयं वाक्यत्वात्, कालिदासादिवाक्यवत्**' इस अनुमान के अनुसार इस वेद को सर्वथा पौरुषेय, अनित्य, एवं कृतक ही मानेंगे।"

उक्त आपेक्ष का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि, समाख्यादोष का इस सम्बन्ध में कोई महत्त्व नहीं है। काठकं-कापिलं आदि समाख्यावचनों का अध्ययनसम्प्रदाय की प्रवृत्ति के साथ सम्बन्ध है। कठ-कापिलादि वेदाध्ययन के सम्प्रदायप्रवर्त्तक हुए हैं। इसी आधार पर काठकं-कापिलं आदि समाख्याव्यवहार हमारे सामने आते हैं। अपिच बबरप्रावाहणि भी किसी ऐतिहासिक व्यक्ति का नाम नहीं है। अपितु यह बबर शब्द प्रवहणशील वायु का ही बोधक है। ऐसी अवस्था में अनित्यता का भी अवसर नहीं आता।

अपिच-शब्द और अर्थ का परस्पर उत्पत्तिसृष्ट-सम्बन्ध माना गया है। शब्द के साथ ही अर्थ का आदुर्भाव हुआ है, जैसा कि पूर्व के-"**औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः, तस्य ज्ञानमुपदेशोऽनुलपब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्**" (पू० मी० १।१।५।) इस सूत्रप्रकरण में विस्तार से बतलाया जाचुका है। जब शब्द नित्य है, एवं उस का अर्थ नित्य है, तो नित्य शब्दार्थरूप वेद की अनित्यता का प्रश्न ही नहीं रहता। निष्कर्ष यही निकलता है कि, वेद सर्वथा अकृतक हैं। इन को किसी ने उत्पन्न नहीं किया है। आप्तमहर्षि वेदमन्त्रों के द्रष्टामात्र हैं। वह स्वयं उत्पन्न हुआ हो, यह बात भी नहीं है, क्योंकि शब्द नित्य है। साथ ही में अनादि विश्व के अर्थ, एवं तद्वाचक शब्दों का सम्बन्ध भी अनादि ही है। इसके अतिरिक्त बहुत प्रयास करने पर भी हम इस के निर्माता का पता नहीं पाते। इसलिए भी इसे अपौरुषेय ही माना जासकता है।

पूर्वप्रतिपादित मीमांसादर्शन-सम्मत मत के आधार पर, इसी मत को पुष्ट करने वाले अवान्तर १३ मत और होजाते हैं। उन्हीं का अत्र क्रमशः दिग्दर्शन कराया जाता है।

——:•:——

१—नित्यसिद्ध, अतएव कूटस्थ अपौरुषेय वेद ईश्वर से अभिन्न है—

हमारा वेद शास्त्र विज्ञानमय है, विज्ञानघन है। उधर '**नित्यं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म**' इस श्रौत-सिद्धान्त के अनुसार सच्चिदानन्दलक्षण ब्रह्म तत्त्व भी विज्ञानघन माना गया है। ऐसी स्थिति में वेद और ब्रह्म को हम एक ही वस्तु मान सकते हैं। इसीलिए श्रुति-स्मृतियों में यत्र तत्र '**त्रयं ब्रह्म सनातनम्**'-'**त्रयो वेदाः**' इत्यादिरूप से ब्रह्म (ईश्वर) और वेद का पर्य्याय-सम्बन्ध माना गया है। ब्रह्म यदि **सूर्य्य** है, तो वेद उस की **रश्मियाँ** हैं। ब्रह्म यदि **उक्थ** है, तो वेद उस उक्थ से निकलने वाले **अर्क** हैं। ब्रह्म **मूल** है, तो वेद उसी मूल का **तूलरूप** है। ब्रह्म यदि प्राण (मुख्य-प्राण-अङ्गीप्राण) है, तो वेद उस के प्राणाः [अङ्गप्राण] हैं। ब्रह्म यदि **अवयवी** है, तो वेद उस का **अवयव** है। उक्थ, मूल, प्राण, अवयवीरूप ब्रह्म से अर्क, तूल, प्राणाः-**अवयवरूप** वेद को कथमपि पृथक् नहीं माना जासकता।

'तस्य वाचक प्रणवः' (पा० यो० १।२७) के अनुसार यदि ब्रह्म का वाचक प्रणव है, तो वेद वाचक भी ओङ्कार ही है। यह तभी सम्भव है, जब कि वेद को ईश्वर से अभिन्न मान लिया जाय। 'ब्रह्मै वेदं सर्वम्' ब्रह्म से ही सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है' यह कहा जाता है, वहाँ 'वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्म्ममे' [मनु० १।२१] इत्यादि रूप से वेद से भी सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति बतलाई जारही है। फलतः वेद की ईश्वर के साथ सर्वात्मना अभिन्नता सिद्ध होजाती है। जिसप्रकार ईश्वर नित्य है, तथैव सर्वसृष्टि-प्रवर्त्तक, तद्रूप [ईश्वररूप] वेदतत्त्व भी सर्वथा नित्य, एवं अपौरुषेय ही है। महाप्रलय में भी इस ईश्वर-मूर्त्ति वेद का विनाश नहीं होसकता, खण्डप्रलयों की तो कथा ही क्या है। इसीलिए तो ईश्वर को वेदमूर्त्ति माना गया है। वेद ही ईश्वर है, ईश्वर ही वेद है। ईश्वरमूर्त्ति इसी वेद की अपौरुषेयता का प्रतिपादन करते हुए निम्न लिखित प्रमाण हमारे सामने आते हैं। अपौरुषेयता के साथ साथ इन प्रमाणों से प्रकृत प्रथम मत की [वेद ईश्वर से अभिन्न है—इस मत की] भी पुष्टि होती है।

१—'एष वेदो विश्वकर्म्मा महात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥'
[श्वेताश्वतरोपनिषत् ४।१७।]।

२—'स्वयम्भूरेष भगवान् वेदो गीतस्त्वया पुरा।
शिवाद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मर्त्तारोऽस्य न कारकाः॥'
(श्रीमद्भागवत)।

३—'वेदो नारायणः साक्षात् स्वयम्भूरिति शुश्रुमः'॥ (विष्णुस्मृति)

१-सम्पूर्ण विश्व का उत्पादक होने से विश्वकर्म्मा नाम से, एवं विश्व का व्यापक (महा) आत्मा होने से महात्मा नाम से, एवं स्वयमेव प्रकट होने के कारण स्वयम्भू नाम से प्रसिद्ध यह वेदतत्त्व सदा प्राणियों के हृदय में प्रविष्ट रहता है। वह सुसूक्ष्मतत्त्व हृदयस्थ मन से ही सम्बन्ध रहता है। अन्तर्य्यामी, नियतिः सत्य, साक्षी, कूटस्थ इत्यादि विविध नामों से प्रसिद्ध हृदयस्थ, अतएव मनोमय इस वेदसत्य को जो हृदयावच्छिन्न बुद्धियुक्त मन से पहिचान लेते हैं, निःसन्देह वे मृत्युपाश से विमुक्त होते हुए अमृतभाव को प्राप्त होजाते हैं।

२-यह वेदभगवान् अपने आप प्रकट होने वाला शाश्वत तत्त्व है। शिव से आरम्भ कर ऋषि पर्य्यन्त जितने भी आचार्य्य वेद के सम्बन्ध में विचार करने वाले हुए हैं, वे सब इस नित्य वेद के कर्त्ता नहीं हैं, अपितु स्मर्त्ता हैं।

३-हम ऋषिपरम्परा से यह सुनते आए हैं कि, वेद साक्षात् नारायण (ईश्वर) स्वरूप है। साक्षात् स्वयम्भू (स्वयंप्रकट) है।

४—'आद्यं यत्त्र्यक्षरं ब्रह्म त्रयो यस्मिन् प्रतिष्ठिता ।
स गुह्योऽन्यस्त्रिवृद्वेदो यस्तं वेद स वेदवित्' ॥
(मनुः ११।२६५)

५—'ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत् कवयो वेदयन्ते ।
तमोङ्कारेणैवायतेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं-
परं च ॥' [प्रश्नोपनिषत् ५।७।]

६—ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानं—भूतं—भवद्,
भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत् त्रिकालातीतं—तदपि-
ओङ्कारमेव'। [माण्डूक्योपनिषत्] ।

अकार, उकार, मकार के समन्वय से तीन अक्षर की समष्टिरूप जो आदिब्रह्म है, उसी में **त्रयीब्रह्म** (त्रयीवेद) प्रतिष्ठित है । इस ब्रह्ममूर्त्ति अत्यन्त गुप्त (अतीन्द्रिय) वेद को जो जानता है, वही वेदवित् कहा जासकता है ।

५-**ऋग्रूपा** प्रथमामात्रा से इस **मनुष्यलोक** (पृथिवी लोक) को, यजुःस्वरूपा द्वितीया-मात्रा से सोमलोकरूप **अन्तरिक्षलोक** को, एवं **सामरूपा** तृतीया-मात्रा से उस लोक को, जो कि **ब्रह्मलोक** (दिव्यलोक) है, विद्वान् लोग प्राप्त कर लेते हैं । अर्थात् मर्त्यत्रिलोकी की प्राप्ति का उपाय वेदत्रयी रूप अवरब्रह्म ही है । जैसे वह इस से उस अवरब्रह्म को प्राप्त करने में समर्थ होता है, एवमेव उस परब्रह्म को भी उसी **उद्गीथ-ओङ्कार** से ही वह प्राप्त कर सकता है, जो कि परब्रह्म **अव्यक्त, अक्षर, अव्यय, परात्पर** की समष्टिरूप होने से **शान्त, अजर, अमृत अभय,** एवं **पर** है ।

६-**ऋग्रूप अकार, यजुरूप उकार, सामरूप मकार** की समष्टिरूप अक्षरात्मक **'ओम्'** यह एकाक्षर ही यह सब कुछ (विश्व) है । अर्थात् वेदमूर्त्ति प्रणवब्रह्म ही विश्वरूप में परिणत होरहा है । इस ओङ्कार की महिमा का बखान इस से अधिक और क्या होसकता है कि, भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान तीनों काल इसी के उपबृंहण हैं । इन तीनों से जो कुछ (त्रिकालातीत) बाकी बचा हुआ है, वह भी यही ओङ्कार है ।

७—'ओमिति वै सर्वे वेदाः' ।

८—'तस्य वाचकः प्रणवः' । [पा० यो० सू० १।२७]

९—'चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भवच्चैव सर्वं वेदात् प्रसिद्धयति' ॥ [मनुः१२।९७]।

१०—शब्दः स्पर्शश्च रूपञ्च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
वेदादेव प्रसूयन्ते प्रसूतिगुणकर्म्मतः' ॥ [मनुः १२।९८] ।

७-'ओम्' ही ऋक्-साम-यजुरूप सम्पूर्ण वेद हैं ।

८-ईश्वरतत्त्व का वाचक प्रणव (ओङ्कार) ही है ।

९-चारों वर्ण, तीनों लोक, चारों आश्रम, भूत, भविष्यन्, वर्त्तमान सब कुछ वेद से ही निष्पन्न हुए हैं ।

१०-शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध नाम से प्रसिद्ध पाचों तन्मात्राएँ, वैदिक-कर्म्म-निबन्धन सत्त्व-रजः-तज नाम से तीनों गुण, एवं उत्पन्न होनेवाले अन्यान्य सब पदार्थ वेद से ही उत्पन्न हुए हैं ।

१

---*---

२—नित्यसिद्ध, अतएव कूटस्थ अपौरुषेय वेद ईश्वर के तुल्य है—

वेद की अपौरुषेयता में दूसरा मत यह है कि, नित्यसिद्ध यह अपौरुषेय वेद ईश्वर के * समकक्ष है । शब्द एवं पर भेद से ब्रह्म के दो विवर्त्त माने गए हैं । परब्रह्म-शब्दब्रह्म दोनों समानधारा से प्रवाहित होरहे हैं । जैसा स्वरूप परब्रह्म का है, ठीक वैसा ही स्वरूप शब्दब्रह्म का है । परब्रह्म-विवर्त्त में यदि अव्यय-

---

* सम्वत्सरप्रजापति ही त्रैलोक्याधिष्ठाता ईश्वर है । इस सम्वत्सरप्रजापति के १०८०० (दस हजार आठसौ) मुहूर्त्त होते हैं । एवं इधर हमारी इस वेदत्रयी के भी १०८०० ही पंक्तियुग्म हैं । इसप्रकार-"अथ सर्वाणि भूतानि प्रैक्षत् स त्रय्यामेव विद्यायाम्', (शत १०।४।२।२२) के अनुसार जो स्वरूप सम्वत्सरप्रजापति का है, वही स्वरूप वेद का है । अतएव वेद को हम ईश्वर के समकक्ष मान सकते हैं, जैसा कि आगे के विज्ञानदृष्टिप्रकरण में स्पष्ट होजायगा ।

अक्षर-क्षर भेद से तीन विवर्त हैं, तो शब्दब्रह्मप्रपञ्च भी स्फोट-स्वर-वर्ण इन तीन भागों में ही विभक्त है। परब्रह्म का अक्षरविवर्त यदि ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि, सोम इन पाँच भागों में विभक्त है, तो शब्दब्रह्म का अक्षरस्थानीय स्वरप्रपञ्च भी अ-इ-उ-ऋ-लृ इन पाँच भागों में ही विभक्त है। परब्रह्म का अव्यय विवर्त यदि अखण्ड-निर्विकार है, तो शब्दब्रह्म का अव्ययस्थानीय स्फोट भी अखण्ड निर्विकार ही है। वहाँ यदि क्षर का आलम्बन अक्षर, एवं सर्वालम्बन अव्यय है, तो यहाँ भी क्षरस्थानीय वर्ण का आलम्बन अक्षरस्थानीय स्वर है, अव्ययस्थानीय स्फोट सर्वालम्बन है। इसप्रकार ईश्वर नाम से प्रसिद्ध **परब्रह्म**, एवं वेद नाम से प्रसिद्ध **शब्दब्रह्म** दोनों सर्वथा समतुलित हैं। दोनों तत्त्व सर्वथा अभिन्न हैं। दोनों ही नित्य, एवं स्वतःप्रमाण हैं। शब्द का अर्थ ही परब्रह्म है, वही प्रमेय है। **प्रमाण** एवं **प्रमेय** के अतिरिक्त तीसरी वस्तु का अभाव है। यद्यपि बाह्यदृष्टि से दोनों ही अनित्यवत् प्रतीत होते हैं, परन्तु अन्तर्दृष्टि से विचार करने पर दोनों की नित्यता भलीभाँति समझ में आजाती है। साथ ही में यह भी एक सिद्ध विषय है कि, प्रत्येक दशा में प्रमाण ही प्रमेय की प्रतिष्ठा बनता है। प्रमाण के अभाव में प्रमेय को सिद्ध करना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। प्रमेय परब्रह्म के प्रमाणभूत इसी अपौरुषेय ईश्वरसमकक्ष वेद से सम्पूर्ण सृष्टियाँ हुई हैं, होरही हैं, एवं होंगीं, जैसा कि पूर्वोपात्त प्रथम मत के ९-१० मनुवचनों से स्पष्ट है। इसी द्वितीय मत का दिग्दर्शन कराते हुए अभियुक्त कहते हैं-

१—'द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्।
शाब्दे ब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति' (उपनिषत्)।

२—'अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं निरञ्जनम्।
विवर्त्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः' ॥ (वाक्यपदी)।

३—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (गीता)।

१-शब्दब्रह्म, एवं परब्रह्म भेद से ब्रह्म के दो विवर्त्त हैं। (जो विद्वान् इन दोनों के समत्त्व को समझता हुआ) शब्दब्रह्म का साक्षात् परिज्ञान कर लेता है, वह (इसी समता के प्रभाव से) परब्रह्मपद को प्राप्त होजाता है।

२-शब्दतत्त्व (परब्रह्मवत्) सर्वथा निरञ्जन है, अनादिनिधन (नित्य) है। इसी शब्दब्रह्म से अर्थ के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का सञ्चालन होरहा है।

३-मैं ही (परब्रह्म-अव्यय-नाम से प्रसिद्ध ईश्वररूप प्रमेय) सम्पूर्ण वेदों से (वेदरूप शब्द प्रमाणों से) जानने योग्य हूँ। (क्यों कि मेरे समकक्ष) वेद ही मेरा वास्तविक स्वरूप बतला सकते हैं।

४—द्वे विद्ये वेदितव्ये-इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति–परा चैव, अपरा च। तत्र अपरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः, सामवेदः। अथ परा-यया तदक्षरमधिगम्यते। +++ तदव्ययं तद्भूत-योनिं परिपश्यन्ति धीराः। (मुण्डक १।१।४-५-६-)।

५—'एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोङ्कारः' (प्रश्नोपनिषत्५।)

४-ब्रह्मवेत्ता विद्वानों का कहना है कि (इस विश्व में)परा और अपरा नाम की दो विद्याएँ ही जानने योग्य हैं। इन दोनों के परिज्ञान से सबकुछ परिज्ञात होजाता है। इन में साङ्गवेदविद्या (शब्दब्रह्म) का ही नाम अपराविद्या है। पराविद्या वह विद्या है, जिससे कि अक्षर का परिज्ञान किया जाता है। वह (अक्षर) ही अव्यय है, वही भूतयोनि (क्षर) है। ऐसे इस त्रिमूर्त्ति अव्ययाक्षरात्मक्षरमूर्त्ति आत्मविद्या नामक पराविद्यात्मक ब्रह्मतत्त्व को धीर लोग (अपराविद्या के सहारे-ज्ञान चक्षु का आश्रय लेते हुए) देखा करते हैं।

५-हे सत्यकाम ! यही पर (ईश्वर) एवं अपर (वेद) नाम का ब्रह्म है, जोकि (समष्टिरूप से) ओङ्कार नाम से (उपनिषदों में) प्रसिद्ध है।

२

—*—

३—नित्यसिद्ध कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय यह वेद ईश्वर का निःश्वास है—

इस तृतीय मत का तात्पर्य्य यही है कि, अध्यात्मसंस्था में जो स्थिति निःश्वास की है, निःश्वास का एवं हमारा (आत्मा का) परस्पर जो सम्बन्ध है, अधिदैवतसंस्था में वही स्थिति वेद की है, वेद का और ईश्वर का परस्पर वही सम्बन्ध है। 'जबतक सांस, तबतक आस' इस लोकव्यवहार के अनुसार जबतक निःश्वास है, तभी तक हमारी सत्ता है। दूसरे शब्दों–में जबतक निःश्वास है, तभीतक (इस शरीर-संस्था में) जीवात्मा स्वसत्ता से प्रतिष्ठित है। ठीक इसी प्रकार वेदसत्ता ही (उस अधिदैवतसंस्था में) ईश्वरसत्ता का कारण है। वेद का अस्तित्त्व ही ईश्वर का अस्तित्त्व है। जिसप्रकार निःश्वासक्रिया का सञ्चालन करता हुआ भी प्राणी निःश्वास का कर्त्ता (उत्पादक) नहीं है, एवमेव निश्वासवत् ईश्वर से स्वयमेव संचालित वेद को भी ईश्वर से निर्म्मित नहीं कहा जासकता। यही इस वेद का अकृतत्त्व, अतएव अपौरुषेयत्व, अतएव नित्यकूटस्थत्व है। सुप्रसिद्ध शारीरकदर्शन (वेदान्तदर्शन) का यही मुख्य सिद्धान्त है। उसने वेद को ईश्वर का निःश्वास ही माना है। इस मत का समर्थक आगे का श्रौतप्रमाण हमारे सामने आता है–

* स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितात्--पृथग् धूमा विनिश्चरन्ति, एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि अस्यैवैतानि निःश्वसितानि'

—बृहदारण्यकोपनिषत् २।४।१०।

३

४–नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेयवेद को ईश्वरानुग्रह से ब्रह्माने प्राप्त किया है—

नित्यसिद्ध इस वेदतत्त्व को ईश्वर के अनुग्रह से आदिदेव ब्रह्माने प्राप्त किया है । सर्वसृष्टि-प्रवर्त्तक, सृष्टि के आदिभूत हिरण्यगर्भ--प्रजापति ही ब्रह्मा हैं। सब से पहिले इन्हीं के हृदय से वेदतत्त्व की अभिव्यक्ति हुई है । ब्रह्माने वेदरचना नहीं की, अपितु वेदमन्त्र जैसे जैसे इनके हृदय में ईश्वरीय--प्रेरणा से उद्बुद्ध होते गए, वैसे वैसे ही इन के मुख से मन्त्र निकलते गए । प्रथम विकास के लिए ब्रह्मा का अपनी ओर से कोई प्रयास नहीं था । इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि, वेद में जिन पदार्थों का निरूपण हुआ है, सृष्टि के आरम्भकाल में (जब कि हिरण्यगर्भ वेदरचना के लिए सन्नद्ध हुए थे) उन पदार्थों में से किसी एक की भी सत्ता न थी । ऐसी स्थिति में आदिकाल में क्योंकर वेदपदार्थ की वे इच्छा कर सकते थे ? । विना किसी सामग्री के, साधन के अपने आप ज्ञान का प्रादुर्भाव होना ईश्वरदत्त-विभूति नहीं है, तो और क्या है । किसी भी विषय के ज्ञान होजाने पर तो इस के लिए कोई भी प्रयत्न कर कर सकता है, परन्तु सर्वज्ञान से पहिले क्योंकर प्रयत्न किया जासकता है ।

---

* जिस प्रकार गीली लकडियों से प्रज्वलित अग्नि से चारों ओर से (विस्फुलिंग एवं) धूम निकलते हैं, हे मैत्रेयी ! उस परमात्मरूप महाभूत का वह निःश्वासरूप ही है, जोकि **ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्वाङ्गिरा** नाम से प्रसिद्ध **अथर्ववेद**, इतिहासात्मक (वैज्ञानिक इतिहासरूप) **ब्राह्मण, पुराण, देवजन, परिमर, प्रवर्ग्यादि** विद्याएँ, **उपनिषत्**, **निगदमन्त्र श्लोक, आत्मेत्येवोपासीत** इत्यादि रूप **सूत्रसंग्रह**, मन्त्रविवरणात्मक **अनुव्याख्यान**, अर्थवादात्मक **व्याख्यान** इत्यादि नामों से प्रसिद्ध है । ये सब उसी के निःश्वास हैं" । **"मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्"** इत्यादि के अनुसार वेदतत्त्व मन्त्र–ब्राह्मण भेद से दो भागों में विभक्त है । इन में मन्त्रभाग [१]ऋक्, [२]यजुः, [३]साम, [४]अथर्व भेद से चार भागों में विभक्त है । एवं ब्राह्मणभाग [१]**इतिहास**, [२]**पुराण**, [३]**विद्या**, [४]**उपनिषत्**, [५]**श्लोक**, [६]**सूत्र**, [७]**अनुव्याख्यान**, [८]**व्याख्यान** भेद से आठ भागों में विभक्त है । यह मन्त्रब्राह्मणात्मक अपौरुषेय वेद ईश्वर का निःश्वास है, यही तात्पर्य्य है ।

अपिच प्रत्येक व्यक्ति स्वबुद्धि की योग्यता के अनुसार ही कुछ कार्य्य करता है जैसी समझ वैसा, काम । इस से भी हम इसी आशय पर पहुँचते हैं कि, समझ (ज्ञान) पुरुष का व्यापार नहीं है, अपितु यह एकमात्र ईश्वर की ही देन है । इस सामान्य नियम के अनुसार विश्वसृष्टि के लिए भी ब्रह्मा की जैसी समझ थी उसी का प्रयोग ब्रह्मा की ओर से हुआ । इस समझ में (सृष्ट्युत्पादन-हेतुभूत वेदज्ञान में) ब्रह्मा सर्वथा परतन्त्र थे । यह ब्रह्मा में प्रादुर्भूत हुई है, ब्रह्माने इसे उत्पन्न नहीं किया है । ऐसी अवस्था में इस ज्ञानराशिरूप वेद को ईश्वरप्रदत्त होने से हम अवश्य ही अपौरुषेय, एवं नित्य मान सकते हैं । इस मत के उपोद्वलक निम्नलिखित प्रमाण हमारे सामने आते हैं—

१-"यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यश्चास्मै प्रहिणोति वेदम्"
(उपनिषत्) ।

२-यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥
—श्वे० उप० ६।१८।

३—"चिकीर्षितमर्थमनुतिष्ठन्—तस्य वाचकं शब्दं पूर्वं स्मृत्वा पश्चात् तमर्थमनुतिष्ठतीति सर्वेषां नः प्रत्यक्षमेतत् । तथा प्रजापतेरपि स्रष्टुः सृष्टेः पूर्वं वैदिकाः शब्दा मनसि प्रादुर्बभूवुः, पश्चात्तदनुगतानर्थान् ससर्जेति गम्यते" ।
—शाबरभाष्य १।३।८।

४

१—जो (सृष्टिकर्म्म के लिए सृष्टि के) आरम्भकाल में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, जो कि इस ब्रह्मा के लिए (सृष्टिरचनार्थ) वेद समर्पित करता है" ।

२—जो ईश्वर आरम्भ में ब्रह्मा को उत्पन्न करता है, जोकि ब्रह्मा के लिए वेदों को प्रवृत्त करता है, आत्मा (कर्म्मात्मा), एवं बुद्धि के प्रकाशक उसी देव (ब्रह्म) की मैं मुमुक्षु शरण में जाता हूँ ।

३—जो व्यक्ति किसी अर्थप्राप्ति की, किंवा अर्थनिर्म्माण की इच्छा करता है, इस अर्थेच्छा से पहिले (अर्थेच्छा को पूर्ण करने वाले) उस अर्थ के वाचक शब्द का पहिले स्मरण करता है, स्मृत शब्द के आधार पर वह अभीप्सित अर्थ सम्पादित करने में समर्थ होता है" यह स्थिति हम सब के लिए प्रत्यक्ष है । अर्थात् लोक में हम वाच्य-अर्थ की सिद्धि के लिए तद्वाचक शब्द की स्मृति की ही प्रधानता देखते हैं । इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि, सृष्टिरूप अर्थ की इच्छा (सृष्टिनिर्म्माणेच्छा) रखने वाले प्रजापति के मन में भी सृष्ट्यर्थवाचक शब्द ही पहिले प्रादुर्भूत हुए । पीछे प्रजापति (ब्रह्मा) ने स्मृत-वेदशब्दों के अनुकूल अर्थों को उत्पन्न किया" ।

५— नित्यसिद्ध कूटस्थ, अतएव अपौरुषेयवेद को ईश्वरानुग्रह से महर्षियोंनें प्राप्त किया है—

नित्यसिद्ध इस वेद से अपने चिरकालिक तपोयोग से ऋषियोंनें अपने अन्त:करण को सर्वथा निर्म्मल बनाया। इस निर्म्मल अन्त:करण में आर्षदृष्टि के द्वारा ईश्वर के अनुग्रह से ऋषियोंने वेद प्राप्त किया। "अनन्ता वै वेदा:" (तै॰ ब्राह्मण) के अनुसार वेद अनन्त हैं। सम्भव है, सृष्टि के आरम्भ में हिरण्यगर्भने अनन्त वेदों को प्रकट किया हो। परन्तु जो वेद आज दिन हमें उपलब्ध होरहे हैं, वे तो यज्ञात्मक होते हुए सर्वथा सीमित ही हैं। शाखा, मण्डल, सूक्त, ऋचा, पद, अक्षर, वर्ण पङ्क्तिएँ सब परिगणित हैं। अत: इन उपलब्ध वेदों को कदापि अनन्त नहीं माना जासकता। ऐसी स्थिति में मानना पड़ता है कि, यह परिगणित वेद ऊर्ध्वरेता ऋषियों के हृदय में ईश्वर के अनुग्रह से स्वयं प्रकट हुए हैं। ऋषियों के हृदय में वेद प्रकट हुआ है, ऋषियोंनें वेद का निर्म्माण नहीं किया है। ऋषि इनके द्रष्टा, स्मर्त्ता मात्र हैं, ऐसा यह वेद अवश्य ही अपौरुषेय, कूटस्थ एवं नित्य कहलाने योग्य है। इस मत के समर्थक निम्नलिखित प्रमाण हीं पर्य्याप्त हैं—

१—"युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय:।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाता स्वयम्भुवा" ॥

२-"ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टय:।
शर्व्वर्य्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यज:" ॥

३—"ऋषयो मन्त्रद्रष्टार:"।

४—"साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवु:"।

५

— — ❋ — —

१—युग युक के अन्त में (ध्रुवपरिभ्रमण के तारतम्य से) लुप्त होने वाले सेतिहास (सब्राह्मण) वेदों को युग युग के आदि में अपने तपोबल के प्रभाव से ईश्वर से प्रेरित वेदों को महर्षियोंनें प्राप्त किया।

२—वेद के सम्बन्ध में ऋषि के जो नाम सुने जाते हैं, इन ऋषियों का बेद-सम्बन्धी जो दर्शन (दृष्टि, प्रत्यक्ष) है, उन्हीं नामधेयों को (तत्तन्नामवाले ऋषियों को) विश्वप्रलयरूपा रात्रि के अवसान में (युगारम्भ में) ईश्वर वेद प्रदान करता है।

३—महर्षिगण वेद के द्रष्टा हैं।

४—जिन महापुरुषोंनें आर्षदृष्टि से वेदधर्म्म, किंवा बेदपदार्थ का साक्षात्कार कर लिया है, वे ही "ऋषि" नाम से प्रसिद्ध हुए हैं।

६—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद को अजपृश्नि ऋषियोंनें प्राप्त किया है—

नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अपौरुषेय वेद को ईश्वर के अनुग्रह से अपनी तपोबल के द्वारा **अजपृश्नि** नामक ऋषियोंनें प्राप्त किया है। वेदानुक्रमणिका के अनुसार **आकृष्टमाष**,"–"**सिकतानिवावरी, अजपृश्नि,** ये तीन नाम उपलब्ध होते हैं। '**आकृष्ट–माषाः**"–"**सिकता–निवावरी**'–"**पृश्नयो–ऽजाः**" के अनुसार इन तीनों ऋषियों के दो दो नाम हैं। ये नाम इन के व्यक्तिभाव से सम्बन्ध रख कर गुणभाव से ही सम्बन्ध रखते हैं। इन तीनों में से सर्वप्रथम अजपृश्नि नामक ऋषि में ही वेद प्रकट हुआ। यह वेद अजपृश्नि के द्वारा निर्मित नहीं, अपितु ईश्वर के द्वारा इन में प्राप्त है। फलतः वेद की अपौरुषेयता, एवं नित्यता में कोई आपत्ति नहीं आती। इस मत का समर्थक निम्न लिखित श्रुतिवचन है।

अजान्* ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भू-अभ्यानर्षत्। तद् ऋषयोऽभवन्। त एवं ब्रह्मयज्ञमपश्यन्॥

६

---*---

७—नित्यसिद्ध, कूटस्थ, अतएव अपौरुषेय वेद को अथर्वाङ्गिरा–ऋषिने ईश्वरानुग्रह से प्राप्त किया—

ऋषियों की सम्प्रदाय में **अथर्वाङ्गिरा** नाम के एक प्रसिद्ध महर्षि होगए हैं। अङ्गिरा-प्राण की परीक्षा में सफल होने के कारण ही ये अङ्गिरा नाम से प्रसिद्ध हुए। इन की एक स्वतन्त्र "**ब्रह्मपर्षत्**" (ब्रह्मपरिषत्) थी। इसके ये अध्यक्ष थे। अध्यक्ष को वेदभाषा में "**ब्रह्मा**" कहा जाता है। अतएव अध्यक्षपदारूढ कुलपति ये अङ्गिरा **ब्रह्मा** नाम से प्रसिद्ध हुए। अपि च आर्त्विज्य (ऋत्विक्कर्म) में सर्वश्रेष्ठ होने के कारण भी उस युग में इन्हें ब्रह्मा कहा जाता था। इनके सभी वंशधर अंगिराप्राण की उपासना (परीक्षा) के कारण **अङ्गिरा-आङ्गिरस** नामों से प्रसिद्ध हुए। मूलपुरुषभूत ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध इन्ही अङ्गिरामहर्षिने सर्वप्रथम वेद को प्रकाशित किया, एवं इस प्रकाशित त्रयीवेद को (यज्ञप्रचारार्थ) सर्वप्रथम अपने ज्येष्ठपुत्र **अथर्वा** में प्रतिष्ठित किया। दूसरे शब्दों में–स्वयं अङ्गिराने वेद प्राप्त किया, एवं सर्वप्रथम अथर्वा को इसका मुख्य शिष्य बनाया। पूर्ण विद्वान् विदितवेदितव्य आङ्गिरस अथर्वा महर्षिने पिता से प्राप्त इस त्रयीवेद के आधार पर विश्व में सर्वप्रथम **यज्ञविद्या** का आविष्कार किया। अथर्वा से आरम्भ कर त्रेतायुग पर्य्यन्त इस यज्ञविद्या की क्रमशः उन्नति होती रही। परन्तु तदनन्तर विज्ञानभाव के नष्टप्राय होजाने से यज्ञविद्या का क्रमशः ह्रास ही होता गया। इसप्रकार अथर्वाङ्गिरा के द्वारा ही यद्यपि सर्वप्रथम वेद प्रकट हुआ, परन्तु ये भी इसके प्रवर्त्तकमात्र ही रहे। फलतः वेदापौरुषेयत्त्व, एवं नित्यत्त्व पर कोई आघात नही हुआ। इस मत के पोषक आगे के आप्तवाक्य हैं—

---

* अजपृश्नि नाम के महर्षियों की ओर, जो कि वेदप्राप्ति के लिये तपश्चर्य्या कर रहे थे, स्वयम्भूब्रह्म (ईश्वर वेदप्रदान के लिये) अनुगत हुआ। (ईश्वरीय-प्रेरणा से प्राप्त वेद के प्रभाव से ही अजपृश्नि 'ऋषि" नाम से प्रसिद्ध हुए। उन्होंनें ब्रह्म (ईश्वर) के यज्ञरूप वेद का साक्षात्कार किया।